विवेकानन्द साहित्य

नवम खंड

अद्वैत आश्रम

विवेकानन्द साहित्य
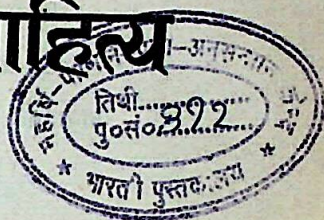
नवम खंड

अद्वैत आश्रम
५ डिही एण्टाली रोड
कलकत्ता १४

प्रकाशक

स्वामी अनन्यानन्द

अध्यक्ष, अद्वैत आश्रम

मायावती, पिथौरागढ़, हिमालय

तृतीय सस्करण, जून १९८५

3 M 3 C

मुद्रक

सी. बी. आफसेट

२४ए बागमारी रोड

कलकत्ता -- ५४

विषय-सूची

भक्तियोग पर प्रवचन

स्वामी विवेकानन्द

भक्तियोग पर प्रवचन

पूर्व साधना

भक्तियोग की सर्वोत्तम परिभाषा सम्भवतः (भक्त प्रह्लाद की) इस श्लोक (प्रार्थना) में निहित है: 'हे ईश्वर! अज्ञानी जनों की जैसी गाढ़ी प्रीति इन्द्रियों के नाशवान, क्षणभंगुर भोग्य पदार्थों पर रहती है, वैसी ही प्रीति मेरी तुझमें हो और तेरी सतत कामना करते हुए मेरे हृदय से वह कभी भी दूर न हो!'[1] हम देखते हैं कि जो लोग इन्द्रिय-भोग के पदार्थों से बढ़कर और किसी वस्तु को नहीं जानते, वे धन-धान्य, कपड़े-लत्ते, पुत्र-कलत्र, बन्धु-बान्धव तथा अन्यान्य विषयों पर कैसी दृढ़ प्रीति रखते हैं! इन वस्तुओं के प्रति उनकी कैसी घोर आसक्ति रहती है! इसीलिए अपनी प्रार्थना में वे महात्मा कहते हैं, 'वैसी प्रबल आसक्ति, वैसी दृढ़ संलग्नता मुझमे केवल तेरे ही प्रति रहे।' यही प्रीति जब ईश्वर के प्रति होती है, तब 'भक्ति' कहलाती है। भक्ति विध्वंसात्मक नहीं होती, वरन् हमें सिखाती है कि जो जो शक्तियाँ हमको दी गयी हैं, उनमें से कोई भी निरर्थक नहीं, वरन् उन्हींके माध्यम से हमारी मुक्ति का स्वाभाविक मार्ग प्रशस्त है। भक्ति न तो हमारी किसी प्रवृत्ति का हनन करती है और न वह हमारी प्रकृति के विरुद्ध ही है, बल्कि केवल उसे अधिक उच्च शक्तिशाली दिशा देती है। इन्द्रिय-विषयों के प्रति हमारी कैसी स्वाभाविक प्रीति हुआ करती है! ऐसी प्रीति किये बिना हम रह ही नहीं सकते, क्योंकि ये हमारे लिए इतने वास्तविक हैं। साधारणतः इनसे उच्चतर-पदार्थों में हमें कोई यथार्थता दिखायी नहीं देती; पर जब मनुष्य इन इन्द्रियों के परे—इन्द्रियों के संसार के परे—किसी यथार्थ वस्तु को देखता है, तब वह उस प्रीति को, उस आसक्ति को बनाये रख सकता है, पर इसके लिए यह उचित है कि वह उसे सांसारिक विषयों से हटाकर उस इन्द्रियातीत वस्तु परमेश्वर में लगा दे। और जब इन्द्रियों के भोग्य पदार्थों से संबद्ध वह प्रेम भगवान् के प्रति समर्पित होता है, तब उसको

---

१. या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

—विष्णुपुराण ॥१।२०।१९॥

'भक्ति' कहते हैं। आचार्य रामानुज के मतानुसार उस उत्कट प्रेम की प्राप्ति के लिए निम्न साधनाएँ हैं:

प्रथम साधना है 'विवेक'। यह एक विचित्र बात है—विशेषतः पाश्चात्यों की दृष्टि में। रामानुज के अनुसार इसका अर्थ है, 'आहार-मीमांसा' या 'खाद्या-खाद्य-विचार'। हमारे शरीर और मन की शक्तियों का निर्माण करनेवाली समग्र संजीवनी शक्तियाँ भोजन में ही रहती हैं; वह शरीर में संक्रामित हुआ है, संचित रहा है और नयी दिशाओं में रूपान्तरित भी हुआ है। परन्तु मेरे शरीर और मन में तात्त्विक रूप से मेरे खाये हुए अन्न से भिन्न कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार भौतिक जगत् में पायी जानेवाली शक्ति और जड़ पदार्थ हममें मन और शरीर बन जाते हैं, तात्त्विक रूप से ठीक उसी तरह देह और मन एवं हमारे खाये हुए अन्न में केवल अभिव्यक्ति का अन्तर है। अतः यदि हम अपने भोजन के पदार्थ-कणों द्वारा अपने विचार-यन्त्र का निर्माण करते हैं और उन पदार्थ-कणों में निहित सूक्ष्म शक्तियों द्वारा स्वयं विचार का सर्जन करते हैं, तो यह सहज ही सिद्ध होता है कि इस विचार और विचार-यंत्र दोनों पर हमारे ग्रहण किये आहार का प्रभाव पड़ेगा। कुछ विशेष प्रकार के आहार हमारे मन में विशेष प्रकार के विकार उत्पन्न करते हैं, यह हम प्रतिदिन देखते हैं। कुछ दूसरे प्रकार के आहार हैं, जिनका शरीर पर प्रभाव पड़ता है और प्रकारान्तर से वे मन पर भी अत्यधिक प्रभाव डालते हैं। इससे हम बहुत बड़ा पाठ यह सीखते हैं कि हम जिन दुःखों को भोग रहे हैं, उनका अधिकांश हमारे खाये हुए आहार से ही प्रसूत होता है। अधिक मात्रा में तथा दुष्पाच्य भोजन के उपरान्त हम देखते हैं कि मन को वश में रखना कितना कठिन हो जाता है; तब मन निरन्तर इधर उधर भटकता ही रहता है। फिर ऐसे भी खाद्य-पदार्थ हैं जो उत्तेजक होते हैं; अगर तुम ऐसे पदार्थों को खाओगे तो अपने मन को किसी प्रकार भी वश में नहीं कर सकते। यह मानी हुई बात है कि प्रचुर मात्रा में शराब पी लेने से या किसी अन्य नशीले पेय का व्यवहार करने से मनुष्य अपने मन को नियंत्रित करने में असमर्थ हो जाता है; वह क़ाबू के बाहर इधर उधर भागने लगता है।

रामानुज के अनुसार हमें 'आहार' के तीन दोषों से बचना चाहिए। प्रथम तो जाति दोष अर्थात् आहार के स्वाभाविक गुण या क़िस्म की ओर ध्यान देना चाहिए। सभी उत्तेजक वस्तुओं का, उदाहरणार्थ मांस आदि का परित्याग करना चाहिए; क्योंकि ये स्वभावतः ही अपवित्र वस्तुएँ हैं। दूसरे का प्राण लेकर ही, हमें मांस की प्राप्ति होती है। हम तो क्षणमात्र के लिए स्वाद-सुख पाते हैं, पर उधर दूसरे जीवधारी को हमें यह क्षणिक स्वाद-सुख देने के लिए सदा के लिए अपने प्राणों

से हाथ धोना पड़ता है। इतना ही नहीं, हम दूसरे मनुष्यों का भी नैतिक अधः-पतन करते हैं। अच्छा तो यह होता कि प्रत्येक मांसाहारी मनुष्य स्वयं ही प्राणि-वध करता। पर ऐसा करने के बजाय समाज अपने लिए यह प्राणि-वध का कार्य एक विशेष वर्ग द्वारा कराता है और साथ ही इस कृत्य के कारण उस वर्ग को वह घृणा की दृष्टि से देखता भी है। इंग्लैण्ड में कोई भी कसाई न्याय समिति का सदस्य (jury) नहीं बन सकता; भाव यह है कि कसाई स्वभाव से ही निर्दय होता है। पर उसको निर्दयी बनाया किसने? उसी समाज ने। यदि हम गोमांस और छाग-मांस न खायें, तो ये कसाई हों ही क्यों? मांसाहार का अधिकार उन्हींको है, जो बहुत कठिन परिश्रम करते हैं और जिन्हें भक्त नहीं बनना है। पर यदि तुम भक्त होना चाहते हो, तो तुमको मांस का त्याग करना चाहिए। वैसे ही, सभी उत्तेजक भोजन—जैसे प्याज़, लहसुन तथा अन्य सभी दुर्गन्धयुक्त पदार्थों जैसे 'सावर-क्रौट'[1] आदि का त्याग करना चाहिए। कई दिनों तक का बना हुआ भोजन, जो लगभग सड़ सा गया हो, अथवा जिसके स्वाभाविक रस प्रायः सूख से गये हों या जिनसे दुर्गन्ध आती हो, ऐसी सभी खाद्य-वस्तुओं का परित्याग करना आवश्यक है।

भोजन के सम्बन्ध में दूसरी ध्यान देने योग्य बात है—आश्रय-दोष जो पाश्चात्यों के लिए और भी जटिल है। आश्रय का अर्थ है, वह व्यक्ति जिससे भोजन मिला हो, यह हिन्दुओं का एक रहस्यमय सिद्धान्त है। इसके पीछे तर्क यह है कि प्रत्येक मनुष्य के चारों ओर उसका अपना एक वातावरण (aura) होता है और जिस किसी वस्तु को वह छूता है, उस पर मानो उस मनुष्य की प्रकृति या आचरण का कुछ अंश, कुछ प्रभाव रह जाता है। ऐसा माना जाता है कि प्रत्येक मनुष्य की स्वभावगत विशेषता उससे किसी भौतिक शक्ति के समान ही मानो निरन्तर निःसृत होती रहती है और जब कभी वह किसी वस्तु को छूता है, तो वह वस्तु उससे प्रभावित होती है। अतः हमें इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि पकाते समय हमारे भोजन को किसने स्पर्श किया—किसी दुष्ट-प्रकृति या दुराचारी मनुष्य ने तो उस भोजन का स्पर्श नहीं किया। जो भक्त होना चाहता है, उसे दुष्ट-प्रकृति के मनुष्यों के साथ भोजन नहीं करना चाहिए, क्योंकि उनकी दुष्टता का प्रभाव भोजन द्वारा प्राप्त हो जायगा।

अन्य दूसरे प्रकार की शुद्धता का पालन किया जाना निमित्त अर्थात् उप-

---

१. सावरक्रौट (sauerkraut) यह एक प्रकार की जर्मन देश की चटनी है, जो बन्द गोभी और नमकीन पानी से बनती है।

करण है। मैल और धूल भोजन में नहीं होनी चाहिए। ऐसा न हो कि बाज़ार से खाद्य-पदार्थ ले आयें और उन्हें बिना धोये ही थाली में खाने के लिए परोस दें। मुख की लार, थूक इत्यादि से हमें सावधानी बरतनी चाहिए। उदाहरणार्थ हमें ओठों पर अँगुली न रखनी चाहिए। श्लैष्मिक झिल्ली हमारे शरीर का अत्यन्त सुकुमार अंग है और इससे उत्पन्न लार के द्वारा सभी प्रवृत्तियों का संक्रमण हो जाना बहुत सहज है। अतः इसका संसर्ग दूषित ही नहीं, भयानक भी है। इसके अतिरिक्त, किसी वस्तु का एक अंश यदि किसी दूसरे ने खाकर छोड़ दिया हो, तो उसे भी नहीं खाना चाहिए। आहार में इन बातों का वर्जन करने से उसकी शुद्धि होती है। आहार की शुद्धि से मनःशुद्धि और मनःशुद्धि से परमात्मा का सतत स्मरण होता है।[1]

दूसरे भाष्यकार श्री शंकराचार्य ने इसका जो अर्थ किया है, अब वह मैं तुमको बताता हूँ। संस्कृत भाषा में 'आहार' शब्द जिस धातु से बना है, उसका अर्थ है एकत्र करना। अतः आहार का अर्थ हुआ, 'जो कुछ एकत्र किया गया।' देखो, वे क्या अर्थ करते हैं? वे कहते हैं, 'जब आहार शुद्ध है, तब मन (सत्त्व) शुद्ध रहता है', इसका ठीक अर्थ यह है कि हमें निम्नलिखित चीज़ों का वर्जन करना चाहिए, ताकि हम इन्द्रियों में आसक्त न हो जायँ। प्रथम तो, ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु पर हमारी आसक्ति न रहे। सब कुछ देखो, सब कुछ करो, पर आसक्त मत होओ। ज्यों ही आत्यंतिक आसक्ति आयी कि समझो मनुष्य अपने आपको खो बैठा; फिर वह अपना स्वामी नहीं रह जाता, दास बन जाता है। यदि किसी स्त्री की आसक्ति किसी पुरुष पर हो जाती है, तो वह उस पुरुष की दासी बन जाती है। दास बनने में कोई लाभ नहीं है। किसी मनुष्य का दास बनने की अपेक्षा और अधिक अच्छी बातें इस दुनिया में हैं। हर किसीसे प्रेम करो, हर किसीकी भलाई करो, पर किसीके दास न बनो। क्योंकि दास बनने से एक तो हमारा व्यक्तिगत अधःपतन होता है, और दूसरे, हम इससे अत्यन्त स्वार्थी बन जाते हैं। इस दोष के कारण हम अपनों को लाभ पहुँचाने के लिए परायों को हानि पहुँचाते हैं। संसार में अधिकांश दुष्कर्म कतिपय व्यक्तियों के प्रति आसक्ति के कारण ही किये जाते हैं। अतः केवल सत्कर्मों के प्रति आसक्ति को छोड़कर हमें सभी प्रकार की आसक्तियों का त्याग करना चाहिए और सबसे समान रूप से प्रेम करना चाहिए।

---

१. आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।

—छान्दोग्योपनिषद् ॥७।२६॥

फिर ईर्ष्या की बात आती है। इन्द्रिय-भोग के किसी पदार्थ को पाने के लिए ईर्ष्या नहीं करना चाहिए। यह ईर्ष्या ही सारे अनर्थों का मूल है और साथ ही अत्यन्त दुर्दमनीय भी। उसके बाद है मोह। हम सदा एक वस्तु को दूसरी वस्तु समझ बैठते हैं और उसी ग़लत भावना से कार्य करते हैं; और फलस्वरूप हम अपने ऊपर विपत्ति लाते हैं। हम अनिष्ट को इष्ट समझ कर ग्रहण करते हैं। जो हमारी नाड़ियों में क्षण भर के लिए गुदगुदी पैदा कर दे, उसे ही हम परम श्रेयस् मान बैठते और उसमें डूब जाते हैं। पर बहुत विलंब के बाद हम अनुभव करते हैं कि अरे, यह तो हमें भारी चोट दे गया। प्रतिदिन हम ऐसी ही भूल करते हैं और प्रायः जीवन भर इसी भूल में पड़े रहते हैं। जब इन्द्रियाँ बिना घोर आसक्ति के, ईर्ष्या और मोह रहित होकर इस संसार में कार्य करती हैं, तब उस कार्य अथवा उन संस्कारों को 'शुद्ध आहार' कहते हैं। यह शंकराचार्य का मत है। जब आहार शुद्ध रहता है, तभी मन अनासक्त और ईर्ष्या-मोह से रहित होकर पदार्थों को ग्रहण करने और उन पर विचार करने में समर्थ हो सकता है। तब मन शुद्ध हो जाता है, और ऐसे मन में ही ईश्वर की सतत स्मृति जाग्रत रहती है।

इसलिए यह सोचना स्वाभाविक है कि शंकराचार्य का अर्थ ही सब अर्थों में श्रेष्ठ है, परन्तु फिर भी यहाँ पर मैं एक बात और कह देना चाहता हूँ कि हमें रामानुज के अर्थ की भी अवहेलना नहीं करनी चाहिए। जब तुम नित्य की भौतिक आहार-सामग्री के प्रति सावधानी रखोगे, तभी और बातें हो सकेंगी। यद्यपि यह सत्य है कि मन ही स्वामी है, फिर भी हममें से बहुत कम लोग ही इन्द्रियों के बन्धन से मुक्त हैं। जड़ वस्तुओं से ही हम जकड़े हुए हैं और जब तक हम इस दशा में हैं, तब तक हमें जड़ वस्तुओं की सहायता लेनी पड़ेगी। उसके बाद जब हम शक्तिशाली बन जायँ, तब हम कुछ भी खा-पी सकते हैं। अतः हमें अपने खाने-पीने की चीजों के सम्बन्ध में रामानुज का अनुसरण करना चाहिए। साथ ही अपने मानसिक आहार के विषय में भी हमें सावधान रहना चाहिए। भौतिक खाद्य-पदार्थों के विषय में सतर्क रहना बहुत आसान है, पर मानसिक साधना भी उसके साथ चलती रहे; तभी हमारी आत्मिक शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ेगी और भौतिक प्रवृत्ति कम प्रभावशील होती जायगी। तभी किसी प्रकार के आहार से तुम्हारा अनिष्ट नहीं होगा। सबसे बड़ा खतरा तो इस बात में है कि प्रत्येक मनुष्य कूदकर सर्वोच्च आदर्श को प्राप्त कर लेना चाहता है। पर कूदना सही तरीक़ा नहीं है। कूदने का अंत गिरने में ही होना है। हम यहाँ बँधे हुए हैं और हमें धीरे धीरे अपनी ही जंजीरों को तोड़ना है। इसीका नाम 'विवेक' है।

इसके बाद है 'विमोक' या इच्छाओं से मुक्ति। जो ईश्वर से प्रेम करना चाहता है, उसे अपनी उत्कट अभिलाषाओं का त्याग करना चाहिए, ईश्वर को छोड़ अन्य किसी बात की कामना नहीं करनी चाहिए। यह संसार परमार्थ-प्राप्ति में जहाँ तक सहायता देता है, वहीं तक शुभ है। हमें उच्चतर पदार्थों की प्राप्ति में जहाँ तक इन्द्रिय-विषय सहायता देते हैं, वहीं तक वे उचित हैं। पर हम यह भूल जाते हैं कि यह संसार साध्य की प्राप्ति के लिए एक साधन मात्र है, वह स्वयं साध्य नहीं है। यदि यह संसार ही अन्तिम ध्येय होता, तो हम इस भौतिक शरीर में ही अमर रहते और कभी न मरते। पर हम देखते हैं कि हमारे आसपास प्रतिक्षण कितने ही मनुष्य मर रहे हैं, इस पर भी हम मूर्खतावश यही समझते हैं कि हम कभी नहीं मरेंगे; और इसी विश्वास से यह निश्चय कर बैठे हैं कि यही जीवन अन्तिम लक्ष्य है। हममें से ९९ प्रतिशत मनुष्यों की यही अवस्था है। हमें इस भाव का एकदम त्याग कर देना चाहिए। हमें पूर्ण बनाने में जहाँ तक यह संसार साधन बन सके, वहीं तक वह ठीक है। पर उससे हमें ऐसी सहायता प्राप्त होना बन्द होते ही वह अशुभ हो जाता है। इसी तरह पति-पत्नी, पुत्र-कन्या, धन-दौलत, रुपये-पैसे, विद्वत्ता या पाण्डित्य हमारे लिए तभी तक इष्ट हैं, जब तक वे हमारी उन्नति के मार्ग में सहायक हैं; पर जैसे ही वे ऐसा करने में असमर्थ होते हैं, वे केवल अनिष्ट-कारक हो जाते हैं! यदि पत्नी परमात्मा की प्राप्ति में हमारी सहायक हो, तो वह सुपत्नी है; इसी तरह पति और सन्तति के सम्बन्ध में भी जानो। यदि धन के द्वारा हम दूसरों की भलाई कर सकते हैं, तब तो वह काम की चीज़ है; अन्यथा वह धन अनर्थ का घर है और जितना शीघ्र उससे हम अपना पिण्ड छुड़ा सकें, उतना ही अच्छा।

तदुपरान्त 'अभ्यास' है। मन की गति सदा परमात्मा की ही ओर हो। अन्य किसी वस्तु को हमारे मन को अपहृत करने का अधिकार नहीं है। मन निरन्तर ईश्वर का ही चिन्तन करे। यद्यपि यह कठिन है, पर सतत अभ्यास से ऐसा हो सकता है। हम आज जो कुछ हैं, वह हमारे पूर्व अभ्यास का परिणाम है और अब जैसा अभ्यास करेंगे, वैसा ही भविष्य में बनेंगे। इसीलिए अब से हमें दूसरी दिशा में अभ्यास करना चाहिए। एक प्रकार की प्रवृत्ति ने हमें इस ओर ला दिया है। दूसरी ओर मुँह फेर लो और जितनी जल्दी बने, इस अवस्था के बाहर निकल जाओ। इन्द्रियों का ध्यान करते करते हम यहाँ आ गिरे हैं। हमारी यह अवस्था है कि एक क्षण हम हँसते हैं तो दूसरे ही क्षण रोने लगते हैं; हम हवा के हर झोंके की दया पर आश्रित हैं, हर वस्तु के दास बन गये हैं। यह कितनी लज्जा की बात है! फिर भी हम अपने को आत्मा कहते हैं! दूसरा मार्ग ग्रहण करो, ईश्वर का ध्यान

करो, अपने मन में किसी भौतिक या मानसिक सुख-भोग का विचार मत लाओ, केवल परमात्मा की ही ओर अपने मन को लगाओ। जब मन किसी अन्य बात का विचार करने लगे, तो ऐसे ज़ोर से घूँसा जमाओ कि मन वहाँ से लौट पड़े और ईश्वर-चिन्तन में प्रवृत्त हो जाय। 'जैसे तैल एक पात्र से दूसरे पात्र में डालते समय अविच्छिन्न धारा में गिरता है, जैसे दूर से आता घण्टा-नाद कानों में एक अखंड ध्वनि के रूप में आता है, उसी प्रकार मन भी एक अविच्छिन्न, धारा-प्रवाह-वत् ईश्वर की ओर निरन्तर प्रवाहित रहे।' हमें यह अभ्यास केवल मन से ही नहीं कराना चाहिए, वरन् अपनी इन्द्रियों को भी इस अभ्यास में लगाना चाहिए। व्यर्थ की बकवाद न सुनकर हमें केवल ईश्वर की चर्चा सुननी चाहिए। निरर्थक बातें न करके ईश्वर की ही चर्चा करनी चाहिए। मूर्खतापूर्ण किताबें न पढ़कर हमें केवल ऐसे सद्ग्रन्थों का पाठ करना चाहिए, जिनमें ईश्वर-सम्बन्धी विषयों का विवेचन हो।

ईश-स्मरण का यह अभ्यास बनाये रखने में सबसे बड़ा सहायक सम्भवतः संगीत है। भक्ति के महान् आचार्य नारद से भगवान् कहते हैं—'हे नारद, न मैं वैकुण्ठ में रहता हूँ, न योगियों के हृदयों में ही। मैं तो वहीं रहता हूँ, जहाँ मेरे भक्तगण गान करते हैं।'[1] मानव-हृदय पर संगीत का प्रबल प्रभाव पड़ता है; वह क्षण भर में चित्त को एकाग्र कर देता है। तुम देखोगे कि जड़, अज्ञानी, नीच और पशु-वृत्तिवाले मनुष्य जो अपने मन को क्षण भर के लिए भी स्थिर नहीं कर सकते, वे भी मनोहर सगीत का श्रवण करते ही तत्क्षण मुग्ध होकर एकाग्र हो जाते हैं। सिंह, कुत्ते, बिल्ली, सर्प आदि पशुओं का भी मन संगीत द्वारा मोहित हो जाता है।

तत्पश्चात् 'क्रिया'—दूसरों की भलाई करना, है। ईश्वर का स्मरण स्वार्थी मनुष्य नहीं कर पाता। हम जितना ही अपने से बाहर दृष्टि डालेंगे, जितना ही दूसरों का उपकार करेंगे, उतना ही हमारे हृदय की शुद्धि होगी और उसमें परमात्मा का निवास होगा। हमारे शास्त्रों के अनुसार कर्म पाँच प्रकार के होते हैं, जिन्हें पंच महायज्ञ कहते हैं। प्रथम है 'स्वाध्याय'। मनुष्य को प्रतिदिन कुछ पवित्र और कल्याणकारी अध्ययन करना चाहिए। दूसरा है 'देवयज्ञ'—ईश्वर, देवता या साधु-सन्तों की उपासना। तीसरा है 'पितृयज्ञ'—अपने पितरों के प्रति कर्तव्य। चौथा है 'मनुष्ययज्ञ', अर्थात् मानव जाति के प्रति हमारा कर्तव्य। जब तक दीन

---

१. नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये रवौ।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

या गृहहीन निराश्रितों के लिए घर न बनवा दे, तब तक मनुष्य को स्वयं घर में रहने का अधिकार नहीं। गृहस्थ का घर प्रत्येक दीन और दुःखी के लिए सदा खुला रहना चाहिए, तभी वह सच्चा गृहस्थ है। यदि कोई गृहस्थ यह समझता है कि मैं और मेरी पत्नी, ये ही दो व्यक्ति संसार में हैं और केवल अपने और अपनी पत्नी के भोग के लिए ही वह घर बनाता है, तो वह 'ईश्वर का प्रेमी' कदापि नहीं हो सकता। केवल अपनी उदर-पूर्ति के लिए भोजन पकाने का किसी मनुष्य को अधिकार नहीं है। दूसरों को खिलाने के बाद जो बच रहे, उसीको खाना चाहिए। भारत में यह प्रथा है कि जब किसी ऋतु का फल—आम, रसभरी इत्यादि—पहले-पहल बाज़ार में आता है, तो कुछ फल खरीदकर पहले ग़रीबों को दे देते हैं और फिर स्वयं खाते हैं। इस उत्तम प्रथा का अनुकरण करना इस देश (अमेरिका) में अच्छा होगा। ऐसे व्यवहार से मनुष्य स्वयं निःस्वार्थ बनेगा और अपनी पत्नी और बच्चों को भी उत्तम शिक्षा प्रदान करेगा। प्राचीन काल में हिब्रू जाति के लोग फ़सल के पहले फलों को ईश्वर को अर्पण किया करते थे। प्रत्येक वस्तु का अग्रांश दीनों को देना चाहिए, अवशिष्ट भाग पर ही हमारा अधिकार है। दीन ही परमात्मा के रूप (प्रतिनिधि) हैं। दुःखी ही ईश्वर का रूप है। जो मनुष्य बिना दिये खाता है और ऐसे खाने में सुख मानता है, वह पाप का भागी होता है। पाँचवीं क्रिया है 'भूतयज्ञ', अर्थात् नीची योनिवाले प्राणियों के प्रति हमारा कर्तव्य। यह मानना कि समस्त जीवधारी मनुष्य के लिए ही बनाये गये हैं तथा इन प्राणियों की हत्या करके मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार उपयोग कर सकता है, निरी पैशाचिक भावना है। यह शैतान का शास्त्र है, भगवान् का नहीं। शरीर के किसी अंग की नाड़ी स्पंदन करती है या नहीं यह देखने के लिए जीवधारियों को लेकर काट डालना कैसा जघन्य कार्य है—विचारो तो सही! मुझे खुशी है कि हिन्दू लोग ऐसी बातें गवारा नहीं कर सकते, चाहे उन्हें अपनी विदेशी सरकार से इसके लिए कैसा भी प्रोत्साहन क्यों न मिले। हम जो अन्न खाते हैं, उसके एक अंश पर अन्य जीव-धारियों का भी अधिकार है। उन्हें भी प्रतिदिन खिलाना चाहिए। यहाँ प्रत्येक नगर में दीन और लंगड़ों या अन्धे, घोड़ों, बिल्लियों, कुत्तों, गाय-बैल इत्यादि पशुओं के लिए अस्पताल रहने चाहिए। वहाँ उन्हें खिलाया जाय तथा उनकी देख-भाल की जाय।

इसके बाद की साधना है 'कल्याण' या पवित्रता, जिसके अन्तर्गत कई बातें हैं: प्रथम—'सत्य' या सत्यता। जो सत्यनिष्ठ हैं, सत्यरूपी ईश्वर उनके समीप आता है। अतएव हमारे विचार, वाणी और कार्य सभी पूर्ण रूप से सत्य होने चाहिए। फिर 'आर्जव'—निष्कपट भाव या सरलता। इस शब्द का अर्थ

है सादगी, हृदय में कुटिलता या टेढ़ापन न हो। यदि कुछ कड़ा या अप्रिय भी होना पड़े, तो भी सीधे चलना चाहिए, टेढ़ापन काम में नहीं लाना चाहिए। 'दया'—करुणा या सहानुभूति। 'अहिंसा'—मनसा-वाचा-कर्मणा किसीको हानि न पहुँचाना। 'दान'—दान से बढ़कर और कोई धर्म नहीं है। सबसे अधम मनुष्य वह है, जिसका हाथ सदा खिंचा रहता है और जो अपने ही लिए सब पदार्थों को लेने में लगा रहता है; और सबसे उत्तम पुरुष वह है, जिसका हाथ हमेशा खुला रहता है। हाथ इसीलिए बनाये गये हैं कि सदा देते रहो। तुम स्वयं भूखों मर रहे हो तो भी अपने पास का, रोटी का अन्तिम टुकड़ा तक दूसरे को दे डालो। यदि दूसरे को देकर भूख से तुम्हारी मृत्यु भी हो जाय, तो क्षण भर में ही तुम मुक्त हो जाओगे; तत्क्षण तुम पूर्ण हो जाओगे, उसी क्षण तुम ईश्वर हो जाओगे। जिन मनुष्यों के बाल-बच्चे हैं, वे तो बद्ध ही हैं। वे दान नहीं कर सकते। वे बाल-बच्चों का सुख भोगना चाहते हैं, अतः उन्हें उसका मूल्य चुकाना पड़ेगा ही। क्या संसार में पर्याप्त बाल-बच्चे नहीं हैं? कैसी स्वार्थ-बुद्धि है कि मेरे भी एक बच्चा हो!

इसके बाद है 'अनवसाद', अर्थात् चित्त की प्रसन्नता। उदास रहना कदापि धर्म नहीं है, चाहे वह और कुछ भले ही हो। प्रफुल्ल चित्त तथा हँसमुख रहने से तुम ईश्वर के अधिक समीप पहुँच जाओगे, किसी भी प्रार्थना की अपेक्षा प्रसन्नता के द्वारा हम ईश्वर के अधिक निकट पहुँच सकते हैं। ग्लानिपूर्ण या उदास मन से प्रेम कैसे हो सकता है? यदि ऐसे मनवाले प्रेम की बात करें, तो वह मिथ्या है। वे तो दूसरों को कष्ट देना चाहते हैं। धर्मान्धों (या कट्टरपंथियों) की बात सोचो। ऐसे लोग मुखमुद्रा तो बड़ी गम्भीर बनाते हैं, पर उनका सारा धर्म वाणी और कार्यों द्वारा दूसरों के साथ लड़ाई-झगड़ा करते रहना ही होता है। उनके कार्यों का पिछला इतिहास देखो और सोचो कि यदि उन्हें स्वतंत्रता दे दी जाय, तो अभी वे क्या कर डालेंगे। सारे संसार को यदि खून की नदी में डुबा देने से उन्हें शक्ति प्राप्त होती हो, तो वे कल ही ऐसा कर डालेंगे। शक्ति की आराधना करने और गम्भीर मुख-मुद्रा बनाये रहने के कारण उनके हृदय में प्रेम का नामोनिशान तक नहीं रह पाता। अतः, जो मनुष्य सदा अपने को दुःखी मानता है, उसे ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। 'मैं कितना दुःखी हूँ' ऐसा सोचते रहना आसुरी भावना है, धर्म नहीं। हर एक मनुष्य को अपना बोझ ढोना है। यदि तुम दुःखी हो, तो सुखी बनने का प्रयत्न करो, अपने दुःखों पर विजय प्राप्त करो।

बलहीन को ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती। अतः दुर्बल कदापि न बनो। तुम्हारे अन्दर असीम शक्ति है, तुम्हें शक्तिशाली बनना है। अन्यथा तुम किसी

भी वस्तु पर विजय कैसे प्राप्त करोगे ? शक्तिशाली हुए विना तुम ईश्वर को कैसे प्राप्त कर सकोगे ? पर साथ ही अतिशय हर्ष, अर्थात् उद्धर्ष से भी बचते रहो। अत्यन्त हर्ष की अवस्था में भी मन शान्त नहीं रह पाता, मन में चंचलता आ जाती है। अति हर्ष के बाद सदा दुःख ही आता है। हँसी और आँसू का घनिष्ठ सम्वन्ध है। मनुष्य बहुधा एक अति से दूसरी अति की ओर भागता रहता है। चित्त सदा प्रसन्न रहे, पर शान्त हो। उसे अति की ओर कदापि भागने नहीं देना चाहिए, क्योंकि हर अति का परिणाम उलटा ही होता है।

ये ही रामानुजाचार्य के मतानुसार भक्ति की पूर्व साधनाएँ हैं।

प्रारंभिक सोपान

भक्ति के विषय में लिखनेवाले तत्त्ववेत्ता भक्ति की परिभाषा 'ईश्वर के प्रति परम अनुराग' करते हैं। पर प्रश्न यह है कि मनुष्य ईश्वर से प्रेम या अनुराग क्यों करे ? जब तक हम यह वात न समझ लें, तब तक भक्ति के विषय में हमें कुछ भी बोध नहीं हो सकता। जीवन के दो बिल्कुल भिन्न भिन्न प्रकार के आदर्श हैं। सभी देशों के मनुष्य, यदि वे किसी धर्म के अनुयायी हैं, यह जानते हैं कि मनुष्य देह भी है और आत्मा भी। पर मानव जीवन के अन्तिम साध्य या उद्देश्य के सम्वन्ध में बड़ा मतभेद है।

पाश्चात्य देशों में साधारणतः मनुष्य के भौतिक पक्ष पर बहुत वल दिया जाता है, और भारत में भक्ति शास्त्र के आचार्य मनुष्य के आध्यात्मिक स्वरूप पर वल देते हैं। यही अन्तर पूर्वी और पश्चिमी राष्ट्रों के स्वभावगत भेद का निदर्शक है। साधारण बोल-चाल में भी यही बात देखने में आती है। इंग्लैण्ड में मृत्यु के सम्बन्ध में कहा जाता है कि मनुष्य ने आत्मा का त्याग किया (A man gives up his ghost), और भारत में कहते हैं कि मनुष्य ने देह का त्याग किया (A man gives up his body)। प्रथम पक्ष का भाव यह है कि मनुष्य देह है और उसके आत्मा होती है। द्वितीय पक्ष का यह भाव है कि मनुष्य आत्मा है और उसके देह होती है। इस मतभेद के फलस्वरूप कई जटिल समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि जो आदर्श यह मानता है कि मनुष्य शरीर है और उसकी आत्मा होती है, वह शरीर पर ही सारा वल देता है। यदि पूछो कि मनुष्य किसलिए जीता है, तो उत्तर यही मिलेगा कि इन्द्रियों का सुख, धन-दौलत, और ऐहिक पदार्थों का उपभोग करने के लिए। यदि तुम उसे यह बताओ कि इनसे भी परे कोई वस्तु होती है, तो वह उसकी कल्पना भी नहीं कर सकता। भावी जीवन के सम्बन्ध में उसकी केवल यही धारणा होती है कि यह सुख-भोग सतत

बना रहे। उसे बड़ा दुःख इस बात का है कि इसी लोक में वह सदा इस इन्द्रिय-सुख-भोग में रह नहीं सकता और उसे यह लोक छोड़कर जाना पड़ेगा। पर वह यही सोचता है कि चाहे जिस तरह भी हो, वह एक ऐसे स्थान में जायगा, जहाँ उसे यही इन्द्रिय सुख-भोग पुनः प्राप्त होगा। वहाँ उसे ये ही सब इन्द्रियाँ प्राप्त होंगी, ये ही सब सुख-भोग मिलेंगे, पर वहाँ ये सब चीज़ें उच्च श्रेणी की होंगी और अधिक मात्रा में मिलेंगी। ईश्वर की पूजा इसलिए करता है कि ईश्वर उसके इस उद्देश्य की पूर्ति का साधन है। उसके जीवन का लक्ष्य है इन्द्रिय विषय-भोग, और वह समझता है कि ईश्वर एक ऐसा व्यक्ति है जो अत्यधिक काल तक उसे यह विषय-भोग दे सकता है। इसी कारण वह ईश्वर की उपासना करता है।

इसके विपरीत, भारतवासियों की कल्पना यह है कि ईश्वर ही जीवन का लक्ष्य है, ईश्वर से परे या ईश्वर से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है। इन सब इन्द्रिय सुख-भोगों के मार्ग में से हम केवल इस आशा से चले जा रहे हैं कि हमें आगे इनसे उच्चतर वस्तुओं की प्राप्ति होगी। यही नहीं, मनुष्य को इन इन्द्रिय विषय-भोगों के अतिरिक्त और कुछ न मिलना एक भीषण और विनाशकारी स्थिति होगी। हम अपने दैनंदिन जीवन में देखते हैं कि मनुष्य के इन्द्रिय विषय-भोग की मात्रा जितनी ही कम हो, उतना ही उसका जीवन उच्चतर होता है। जब कुत्ता भोजन करता है, तब उसकी ओर देखो। भोजन करने में वैसा आनन्द मनुष्य को नहीं प्राप्त होता। शूकर की ओर देखो। खाते खाते कैसी हर्ष-ध्वनि करता है। वही उसका स्वर्ग है, और यदि स्वर्ग से फरिश्तों का अधिपति भी उतर आये और खड़ा उसकी ओर देखता रहे, तो भी शूकर उसकी ओर देखेगा तक नहीं। उसका सारा अस्तित्व खाने में ही है। ऐसा कोई मनुष्य उत्पन्न नहीं हुआ, जिसे भोजन करने में उतना आनन्द आये। निम्न श्रेणी के प्राणियों की श्रवण-शक्ति, और दृष्टि-शक्ति के विषय में सोचो। उनकी समस्त इन्द्रियाँ उच्च स्तर तक विकसित होती हैं। उनके इन्द्रिय सुख की मात्रा असीम होती है। वे इस इन्द्रिय सुख-भोग से हर्ष और आनन्द में एकदम पागल हो जाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य भी जितनी नीची श्रेणी में होगा, उतना ही अधिक आनन्द उसे इन्द्रिय-विषयों में आयेगा। मनुष्य जैसे जैसे उन्नति करता है, विवेक और प्रेम उसके जीवन के आदर्श बनते जाते हैं। उसकी इन प्रवृत्तियों का जैसे जैसे विकास होता है, वैसे वैसे उसके इन्द्रिय-विषयों में आनन्द अनुभव करने की शक्ति क्षीण होती जाती है।

उदाहरण के लिए, यदि हम मान लें कि मनुष्य को अमुक परिमाण में शक्ति

दी गयी और उस शक्ति का व्यय वह अपने शरीर, मन या आत्मा के लिए कर सकता है, तो इनमें से यदि वह किसी एक विभाग में अपनी सब शक्ति व्यय कर दे, तो शेष विभागों में व्यय करने के लिए उसके पास उतनी ही कम मात्रा में शक्ति रह जायगी। सभ्य जातियों की अपेक्षा अज्ञानी या जंगली जातियों की संवेदन-शक्ति कहीं अधिक प्रबल होती है। इतिहास से भी हमें यही शिक्षा प्राप्त होती है कि जैसे जैसे राष्ट्र सभ्य होता है, उसका नाड़ीय संगठन सूक्ष्म होता जाता है, और वह शारीरिक दृष्टि से दुर्बल होता जाता है। किसी जंगली जाति को सभ्य बनाओ और यही बात तुम्हें दिखायी देगी। कोई अन्य बर्बर जाति आकर उसे जीत लेगी। प्राय: बर्बर जाति ही सदा विजयी होती है। अत: स्पष्ट है कि यदि हमें सर्वदा इन्द्रियों के विषय-भोग के सुख की इच्छा रहती है, तो हम अपने को पशु की अवस्था में गिरा देते हैं। जब मनुष्य यह कहता है कि मैं ऐसे स्थान को जाना चाहता हूँ, जहाँ इन्द्रियों के सुखोपभोग और भी अधिक होंगे, तब वह यह नहीं समझता कि मैं यह क्या माँग रहा हूँ। उसे तो वह पशु स्तर में पतित होने पर ही प्राप्त कर सकता है।

इन्द्रिय विषयक सुखों से परिपूर्ण स्वर्ग की कामना करनेवाले मनुष्य भी उसी प्रकार हैं। वे शूकर की तरह इन्द्रिय-विषयों के कीचड़ में लोट रहे हैं। उसके परे वे और कुछ देख ही नहीं सकते। यही इन्द्रिय-भोग वे चाहते हैं और इसका छूटना ही उनके लिए स्वर्ग का खोना है। 'भक्त' शब्द के उच्चतम अर्थ में ऐसे मनुष्य भक्त कभी नहीं हो सकते; वे ईश्वर के सच्चे प्रेमी कदापि नहीं बन सकते। फिर भी निम्न श्रेणी का यह आदर्श थोड़े समय के लिए यदि चलता भी रहे, तो समय पाकर यह बदल जायगा। हर मनुष्य यह समझने लगेगा कि इससे भी कोई उच्चतर वस्तु है, जिसका ज्ञान उसे पहले नहीं था। और इस प्रकार उस समय जीवन के प्रति तथा इन्द्रिय-विषयों पर उसकी आसक्ति क्रमश: नष्ट हो जायगी। जब मैं छोटा था और पाठशाला में पढ़ता था, मेरे एक सहपाठी से कुछ मिठाइयों के लिए मुझसे झगड़ा हो गया। वह लड़का अधिक बलवान था, इसलिए उसने उनको मेरे हाथ से छीन लिया। उस समय मेरे मन में जो भाव आया, वह मुझे स्मरण है। मैं सोचने लगा, इस लड़के के समान दुष्ट संसार में दूसरा कोई नहीं है और जब मुझमें ताक़त आ जायगी, तब मैं इस दुष्ट को दण्ड दूंगा; इसकी दुष्टता को देखते हुए कोई भी दण्ड इसके लिए पर्याप्त नहीं है। अब हम दोनों बड़े हो गये हैं और परम मित्र हैं। इसी तरह इस संसार में सर्वत्र छोटे छोटे बच्चे ही भरे पड़े हैं, खाने-पीने और अन्य इन्द्रियों की भोग्य वस्तुएँ ही उनका सर्वस्व है। ये बच्चे केवल इन मालपूओं का ही स्वप्न देखा करते हैं। भावी जीवन या परलोक सम्बन्धी उनकी कल्पना भी यही है कि वहाँ भी पूरी-मालपूआ का ढेर लगा रहेगा। अमेरिकन

इंडियन को देखो। उसका विश्वास है कि परलोक शिकार करने के लिए उत्तम स्थान है। हर एक की स्वर्ग की कल्पना अपनी अपनी वासना के अनुसार ही होती है। पर कालान्तर में जैसे जैसे हम बड़े होते जाते हैं, हम उच्चतर वस्तुओं को देखते हैं और इन सबके परे और भी उच्चतर बातों की झलक हमें प्राप्त होती है। किंतु आधुनिक काल की साधारण प्रथा के अनुसार सभी वस्तुओं के प्रति अविश्वास करके हमें परलोक विषयक सभी धारणाओं का त्याग नहीं करना चाहिए। ऐसा करना विनाशकारी है। अज्ञेयवादी, जो सभी बातों को उड़ा देता है, भूला हुआ है। भक्त तो इससे और ऊँचा देखता है। अज्ञेयवादी स्वर्ग नहीं जाना चाहता, क्योंकि वह तो स्वर्ग को मानता ही नहीं। पर भगवद्भक्त भी स्वर्ग जाना नहीं चाहता, क्योंकि उसकी दृष्टि में स्वर्ग बच्चों का खिलौना मात्र है। भगवद्भक्त तो चाहता है केवल ईश्वर को।

ईश्वर से बढ़कर साध्य या लक्ष्य और हो ही क्या सकता है? स्वयं परमात्मा ही मनुष्य-जीवन का चरम लक्ष्य है। उसीके दर्शन करो। उसीका आनन्द लूटो। हम ईश्वर से बढ़कर अन्य किसी उच्च वस्तु की कल्पना कर ही नहीं सकते, क्योंकि ईश्वर पूर्ण स्वरूप है। हम प्रेम से बढ़कर सुख या आनन्द की कल्पना नहीं कर सकते। पर इस 'प्रेम' शब्द का अर्थ भिन्न है। इसका अर्थ संसार का साधारण स्वार्थमय प्रेम नहीं है, इस संसारी प्रेम को प्रेम कहना अधर्म होगा। अपने बच्चों और स्त्री के प्रति हमारा जो प्रेम होता है, वह केवल पाशविक प्रेम है। जो प्रेम पूर्णतया निःस्वार्थ हो, वही 'प्रेम' है और वह ईश्वर का प्रेम है। उस प्रेम को प्राप्त करना बड़ी कठिन बात है। हम इन भिन्न भिन्न प्रेम, जैसे संतति-प्रेम, पितृ-प्रेम, मातृ-प्रेम इत्यादि के मार्ग में से जा रहे हैं। हम प्रेम की प्रवृत्ति का धीरे धीरे अभ्यास कर रहे हैं, पर बहुधा इससे हम कुछ सीख नहीं पाते; बल्कि उलटे किसी एक ही सीढ़ी पर, एक ही व्यक्ति में आसक्त हो जाते और बँध जाते हैं। कभी कभी मनुष्य इस बन्धन से छूट भी जाते हैं। इस संसार में मनुष्य सदा स्त्रियों के पीछे, धन के पीछे, मान के पीछे दौड़ता फिरता है। कभी कभी उसे ऐसी ज़बरदस्त ठोकर लगती है कि उसकी आँख खुल जाती है और उसे मालूम हो जाता है कि यह संसार यथार्थ में क्या है। इस संसार में कोई भी मनुष्य ईश्वर को छोड़ अन्य किसी वस्तु पर यथार्थ प्रेम नहीं कर सकता। मनुष्य को पता लग जाता है कि मानव-प्रेम हर तरह से खोखला है। मनुष्य प्रेम नहीं कर सकता, वह केवल प्रेम की बातें ही करना जानता है। पत्नी कहती है कि मैं पति से प्रेम करती हूँ और ऐसा कहकर वह अपने पति का चुम्बन करती है। पर ज्यों ही पति की मृत्यु हो जाती है, सबसे पहले उसका ध्यान अपने पति के जमा किये हुए बैंक के धन की ओर जाता है और वह सोचने लगती है कि कल मैं क्या क्या

करूँगी। पति पत्नी से प्रेम करता है, पर जब पत्नी बीमार हो जाती है और उसका रूप नष्ट हो जाता है या उसे बुढ़ापा घेर लेता है अथवा पत्नी कोई भूल कर बैठती है, तब पति उस पत्नी की चिन्ता करना छोड़ देता है। संसार का समस्त प्रेम निरा दम्भ है, खोखलापन है।

नाशवान (सान्त) वस्तु प्रेम नहीं कर सकती और न नाशवान (सान्त) वस्तु पर प्रेम ही किया जा सकता है। जब मनुष्य के प्रेम का पात्र हर क्षण मृत्यु-मुख में है और उस मनुष्य की आयु-वृद्धि के साथ साथ सदा उसके मन में भी परिवर्तन हो रहा है, तो ऐसी अवस्था में संसार में किस शाश्वत प्रेम की आशा की जा सकती है? ईश्वर को छोड़ प्रेम कहीं अन्यत्र कैसे ठहर सकता है? तो फिर इन भिन्न भिन्न प्रेमों का क्या प्रयोजन है? ये प्रेम केवल सोपान मात्र हैं। इसके पीछे एक ऐसी शक्ति है, जो हमें सदा यथार्थ प्रेम की ओर प्रेरित कर रही है। हमें पता नहीं कि हम यथार्थ वस्तु को कहाँ ढूंढ़ें। पर यह प्रेम ही हमें उस मार्ग में—अर्थात् उसकी खोज में—अग्रसर कर रहा है। वारम्वार हमें अपनी ग़लती सूझती है। हम एक वस्तु को ग्रहण करते हैं, पर देखते हैं कि वह हमारी मुट्ठी में से निकली जा रही है, तब हम किसी दूसरी वस्तु को पकड़ लेते हैं। इसी प्रकार हम क्रमशः आगे बढ़ते चले जाते हैं। एक दिन हमें प्रकाश दिखायी देता है और तब हम परमात्मा के पास पहुँच जाते हैं, और वही एकमात्र प्रेमी है। उसके प्रेम में कभी कोई विकार नहीं होता और उसका प्रेम हमें सदा अपने में लीन करने को प्रस्तुत रहता है। उसके प्रेम में कभी कोई अन्तर नहीं पड़ता और वह सदा हमें अपनाने को तैयार रहता है। यदि मैं तुम लोगों को कष्ट दूं, तो तुम मुझे कब तक क्षमा करोगे? जिसके मन में क्रोध, घृणा या द्वेष है ही नहीं, जो अपनी समता कभी नहीं खोता, जो न कभी मरता है, न कभी जन्म लेता है, वह ईश्वर के अतिरिक्त और कौन हो सकता है? पर ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग बहुत लम्बा और बड़ा कठिन है, और बहुत ही थोड़े लोग उसे प्राप्त कर पाते हैं। हम सब तो हाथ-पैर पटकनेवाले बच्चे हैं। लाखों मनुष्य तो धर्म को व्यापार बना देते हैं। शताब्दी भर में इने-गिने व्यक्ति ही ईश्वर के प्रेम को प्राप्त करते हैं और इनसे समस्त देश कृतार्थ और पवित्र हो जाता है। जब ईश्वर के भक्त का अवतार होता है, तब सारा देश धन्य और पवित्र हो जाता है। यद्यपि सारे संसार में शताब्दी भर में ऐसे भगवद्भक्त बहुत ही कम संख्या में जन्म लेते हैं, तथापि उस ईश्वर-प्रेम को प्राप्त करने का प्रयत्न हम सबको करना चाहिए। कौन जानता है कि ईश्वर का पूर्ण प्रेम तुमको या मुझको ही प्राप्त होनेवाला हो। अतः हमें इसके लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए।

हम कहते हैं कि स्त्री अपने पति से प्रेम करती है, और स्त्री भी समझती है कि उसकी सम्पूर्ण आत्मा अपने पति में ही लीन है। पर उसके जब एक बच्चा उत्पन्न होता है और उसके प्रेम का आधा या उससे भी अधिक अंश उस बालक की ओर खिंच जाता है, तब उस स्त्री को स्वयं ऐसा मालूम होने लगता है कि अब पति की ओर उसका प्रेम उसी प्रकार का नहीं रहा। ऐसा ही पिता के प्रेम के साथ भी होता है। हम सदैव यही देखते हैं कि जब हमें कोई अधिक प्रिय वस्तु प्राप्त हो जाती है, तब हमारे पहले के प्रेम का धीरे धीरे लोप हो जाता है। पाठशाला में पढ़नेवाले बच्चे समझते हैं कि कुछ सहपाठी अथवा उनके माता-पिता ही उनके जीवन में सबसे बढ़कर प्रिय हैं, उसके बाद पति या पत्नी आती है और तुरन्त ही पहले के वे भाव बदल जाते हैं और ये नये प्रेमी ही सर्वोच्च प्रेम-पात्र बन जाते हैं। एक तारे का उदय होता है, उसके बाद उससे बड़ा तारा उगता है, तत्पश्चात् उससे भी बड़ा तारा दिखायी देता है और अन्त में सूर्य का दर्शन होता है। तब तमाम छोटे छोटे आलोक-बिन्दु विलीन हो जाते हैं। परमात्मा मानो सूर्य है और ये छोटे छोटे प्रेम-पात्र तारा-मंडल। जब वह सूर्य मनुष्य पर प्रकट होता है, तब वह उन्मत्त हो जाता है। ऐसे मनुष्य को मि० इमर्सन 'भगवतोन्मत्त पुरुष' कहते हैं। वह मनुष्य ईश्वर-रूप हो जाता है और समस्त पदार्थ उस प्रेम के समुद्र में डूब जाते हैं। साधारण प्रेम केवल पाशविक आकर्षण मात्र होता है। यदि ऐसा न होता, तो स्त्री-पुरुष के भेद की आवश्यकता ही क्या थी? कैसी विचित्र बात है कि यदि मूर्ति के सामने कोई घुटना टेकता है, तब तो वह कार्य भयावह मूर्ति-पूजा कहलाता है और जब कोई अपने पति या पत्नी के पैरों पर गिरता है, तो वह क्षम्य माना जाता है!

इस संसार में हमें प्रेम के विविध स्तर प्राप्त होते हैं। पहले हमें अपना मार्ग परिष्कृत करना होगा। हम अपने जीवन को जिस दृष्टि से देखेंगे, उसीके आधार पर हमारे प्रेम का सारा सिद्धान्त अवलम्बित रहेगा। इस संसार को ही जीवन का अन्तिम ध्येय और साध्य मान लेना निरी पाशविक और अवनतिकारी भावना है। जो मनुष्य ऐसी भावना लेकर अपने जीवन-पथ पर क़दम रखता है, वह अपने को अवनत करता है। ऐसा मनुष्य कभी अपने को ऊँचा नहीं उठा सकता; वह कभी भी जगत् के पीछे की उस दिव्य ज्योति की झलक प्राप्त नहीं कर सकता। वह तो सदा इन्द्रियों का ही दास बना रहेगा और केवल पूँजी बटोरने के संघर्ष में लगा रहेगा, जिससे उसे खाने को कुछ रोटियाँ मिल जाया करें। ऐसी ज़िन्दगी से तो मर जाना ही बेहतर है! हम इस संसार के दास हैं; इन इन्द्रियों के दास

हैं, हमें अपने को जगाना है, इन भोगों के जीवन से कोई ऊँची वस्तु है। तुम क्या समझते हो कि यह मानव—यह अनन्त आत्मा--अपनी आँख, कान और नाक का दास बनने के लिए ही पैदा हुआ है? इसके पीछे एक अनन्त सर्वदर्शी आत्मा विद्यमान है, जो सब कुछ करने में समर्थ है, जो समस्त बन्धनों को तोड़ सकती है। यथार्थ में हम वह आत्मा ही हैं और प्रेम के द्वारा हीं वह शक्ति हम प्राप्त कर सकते हैं। अतः स्मरण रखो कि यही हमारा आदर्श है। पर यह आदर्श हमें एक ही दिन में प्राप्त होनेवाला नहीं है। हम कल्पना कर सकते हैं कि हमें वह आदर्श प्राप्त हो गया, पर आख़िर वह कल्पना मात्र होगी। वह आदर्श हमसे दूर—बहुत दूर—है। जिस अवस्था में मनुष्य अभी है, उसे वहीं से आगे बढ़ने में सहायता देनी चाहिए। मनुष्य इस जड़-सृष्टि को यथार्थ मानता है। हम-तुम सभी जड़वादी हैं। हम ईश्वर और आत्मा के सम्बन्ध में बातें करते हैं सो ठीक है, पर इस प्रकार बातें करना समाज का प्रचलन मात्र ही है। हमने इन शब्दों को तोते की तरह रट लिया है और हम उन शब्दों का उच्चारण कर दिया करते हैं। अतः आज हम जड़वादी के रूप में जहाँ भी हैं, वहीं से प्रारम्भ करना होगा। हमें जड़-वस्तु की सहायता लेते हुए क्रमशः धीरे धीरे आगे बढ़ना होगा। तभी हम अंततः यथार्थ आत्मवादी बन सकेंगे; तभी हम यह अनुभव करने लगेंगे कि हम आत्मा हैं; तभी हम आत्मा को समझेंगे और हमें यह पता लगेगा कि यह संसार, जिसे हम अनन्त कहा करते हैं, उस वस्तु का केवल स्थूल बाह्य रूप है, जो उसके पीछे वर्तमान है।

परन्तु इसके सिवा कुछ और भी आवश्यक है। तुम लोगों ने बाइबिल में ईसा मसीह के 'शैलोपदेश' (Sermon on the Mount) में पढ़ा होगा—'माँगो और वह तुमको दे दिया जायगा; ढूँढ़ो और तुम पा जाओगे, दरवाजा खटखटाओ और वह तुम्हारे लिए खोल दिया जायगा।' पर कठिनाई तो यह है कि ढूँढ़ता कौन है? चाहता कौन है? हम सब कहते हैं कि हम ईश्वर को जानते हैं। यदि एक मनुष्य यह सिद्ध करने के लिए कि 'ईश्वर नहीं है' एक वृहत् ग्रन्थ लिखता है, तो दूसरा, ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए एक दूसरा ग्रन्थ लिख डालता है। एक मनुष्य अपनी सारी उम्र ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करना ही अपना कर्तव्य समझता है, तो दूसरा उस मत का खण्डन करना ही उचित समझता है; और इसलिए वह मनुष्यों को यही उपदेश देता फिरता है कि ईश्वर है ही नहीं। ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन या मण्डन करने के लिए पुस्तकें लिखने का क्या प्रयोजन? ईश्वर हो, चाहे न हो, इससे अधिकांश लोगों का क्या बनता-बिगड़ता है? अधिकांश मनुष्य यन्त्र के सदृश काम करते रहते हैं,

न तो ईश्वर का कोई विचार उनके मन में आता है और न ईश्वर की कोई आवश्यकता उन्हें प्रतीत होती है। ऐसा करते करते एक दिन काल आ पहुँचता है और पुकारता है, "चलो!" उस समय वह मनुष्य कहता है, "ज़रा ठहरो, मुझे कुछ समय और चाहिए, मेरा बेटा थोड़ा बड़ा हो जाय!" परन्तु काल कहता है, "चलो, तुरन्त चलो।" बस, ऐसा ही हुआ करता है। बेचारे श्री अमुक चल दिये। उस बेचारे से हम क्या कहें? अपनी ज़िन्दगी में उसे कभी कोई ऐसी चीज़ नहीं मिली, जो उसे बतला देती कि ईश्वर ही सर्वोत्तम पदार्थ है। सम्भवतः वह पूर्व जन्म में शूकर रहा हो और अब मनुष्य-योनि में अधिक अच्छी अवस्था में था। पर इस दुनिया में कुछ ऐसे भी लोग हैं, जिनकी कुछ जाग्रति हो चुकी है। कोई विपत्ति आ पड़ती है, हमारे किसी प्रियतम की मृत्यु हो जाती है, जिस पर हमने अपनी सारी आत्मा समर्पित कर दी थी, जिसके लिए हम सारे संसार को, यहाँ तक कि अपने सगे भाई को भी ठगा करते थे, जिसके लिए हम तरह तरह के घृणित कार्य करते भी नहीं हिचकते थे, वही एक दिन मृत्यु के कराल गाल में प्रविष्ट हो जाता है, तब हमें एक ज़ोर का धक्का लगता है। हमारी आत्मा से एक आवाज़ निकलती है, और पूछती है, "कहो, अब आगे क्या होगा?" हाँ, कभी कभी मृत्यु से कोई आघात नहीं पहुँचता, पर ऐसे प्रसंग बहुत कम होते हैं। जब कोई वस्तु हमारे हाथ से निकल जाती है, तब हममें से अधिकांश चिल्ला उठते हैं, "अब क्या होगा?" इन्द्रियों पर यह हमारी कैसी घोर आसक्ति है! तुमने सुना ही है कि डूबता मनुष्य तिनके का सहारा पकड़ता है। मनुष्य पहले तो तिनके को ही पकड़ता है और जब वह तिनका उसकी सहायता नहीं कर पाता, तब वह किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा करता है। फिर भी लोग उच्चतर वस्तुओं की प्राप्ति होने के पूर्व यौवन की मूर्खताओं में अवश्य पड़ जाते हैं।

भक्ति एक धर्म है। धर्म बहुत से लोगों की चीज़ नहीं होती। ऐसा होना असम्भव है। घुटनों की क़वायद, उठक-बैठक तो बहुत से लोगों के करने की चीज़ हो सकती है, पर 'धर्म' तो केवल थोड़े से ही व्यक्तियों की वस्तु है। प्रत्येक देश में कुछ सौ ही मनुष्य ऐसे होते हैं, जो धार्मिक हो सकते हैं। और होंगे। शेष लोग धार्मिक नहीं हो सकते, क्योंकि एक तो वे जाग्रत नहीं होते, और न उन्हें वैसी इच्छा ही होती है। मुख्य बात है ईश्वर-प्राप्ति की आकांक्षा। हमारे सभी स्वार्थों की पूर्ति बाहरी संसार के द्वारा हो जाती है। अतः हमें ईश्वर के सिवा अन्य सभी वस्तुओं की आकांक्षा होती है। अतः जब हमें इस बाह्य संसार के उस पार की चीज़ों की आवश्यकता होती है, तभी हम उनकी पूर्ति अन्तःस्थ स्रोत या ईश्वर से करना चाहते हैं। हमारी आवश्यकताएँ जब तक इस भौतिक

सृष्टि की संकुचित सीमा के भीतर की वस्तुओं तक ही परिमित रहती हैं, तब तक हमें ईश्वर की कोई ज़रूरत नहीं पड़ती। जब हम यहाँ की हर एक चीज़ से तृप्त होकर ऊब जाते हैं, तभी हमारी दृष्टि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इस सृष्टि के परे दौड़ती है। जब आवश्यकता होती है, तभी उसकी माँग भी होती है। इसलिए इस संसार की बालक्रीड़ा से, जितनी जल्दी हो सके निपट लो। तभी तुम्हें इस संसार के परे की किसी वस्तु की आवश्यकता प्रतीत होगी और धर्म के प्रथम सोपान पर तुम क़दम रख सकोगे।

धर्म का एक वह रूप है, जो केवल फ़ैशन हो गया है! मेरी मित्र की बैठक फ़र्नीचर से भरी हुई है; जापानी फूलदान रखना एक फ़ैशन है, अतः वे भी जापानी फूलदान रखेंगी, चाहे उसके लिए उन्हें हज़ार डॉलर भले ही खर्च करने पड़ें! इसी तरह वे एक नन्हा सा धर्म भी अपनाना चाहती हैं और किसी धर्म संघ या चर्च में शामिल हो जाती हैं। पर 'भक्ति' ऐसों के लिए नहीं है। यह 'चाह' नहीं है। 'चाह' वह है, जिसके बिना हम जी न सकें। हमें हवा की आवश्यकता है, भोजन की आवश्यकता है, कपड़ों की आवश्यकता है; इनके बिना हम जी नहीं सकते। जब मनुष्य इस संसार में किसी स्त्री से प्रेम करता है, तब कभी कभी उसे प्रतीत होता है कि उस स्त्री के बिना वह जी ही नहीं सकता, यद्यपि उसकी यह भावना मिथ्या है। जब पति मरता है, तब पत्नी समझती है कि मैं पति के बिना नहीं जी सकती, पर फिर भी वह जीती ही है। किसी वस्तु की आवश्यकता की जाँच यही है कि उस वस्तु के अभाव में जीना असम्भव हो जाय —या तो हमें उस वस्तु की प्राप्ति हो या उसके बिना हम मर जायें। जब हमें ईश्वर के सम्बन्ध में ऐसा ही लगने लगे, अर्थात् संसार के उस पार की किसी वस्तु की—ऐसी वस्तु की आवश्यकता अनुभव करने लगें जो इन समस्त जड़ या भौतिक शक्तियों से परे है, उनसे ऊपर है—तभी हम 'भक्त' बनते हैं। जब क्षण भर के लिए बादल हट जाता है और हम इस संसार के उस पार की एक झलक पा जाते हैं, जब उस एक क्षण के लिए ये ऐहिक नीच वासनाएँ सिन्धु में एक बिन्दु के समान मालूम पड़ती हैं, उस समय हमारे लघु जीवन में क्या रह जाता है? तभी आत्मा का विकास होता है, उसे ईश्वर का अभाव खटकता है, ईश्वर-प्राप्ति के लिए तीव्र उत्कण्ठा होती है और उसे पाये बिना वह रह नहीं सकता!

इसलिए पहली सीढ़ी यह है कि हम चाहते क्या हैं? क्या हमें ईश्वर चाहिए? हम यह प्रश्न अपने से प्रतिदिन करें। तुम भले ही संसार की सारी पुस्तकें पढ़ डालो; पर यह प्रेम न तो वाग्मिता द्वारा, न तीव्र बुद्धि से और न शास्त्रों के अभ्यास से ही प्राप्त किया जा सकता है। जिसे ईश्वर की चाह है, उसीको

भक्ति की प्राप्ति होगी, और ईश्वर स्वयं को उसे दे देता है।[1] प्रेम सर्वदा पारस्परिक और पर[illegible]ंक होता है। तुम मुझसे घृणा करते हो, और यदि मैं तुमसे प्रेम करता हूँ, तो तुम मुझे दूर ही रखना चाहोगे। पर यदि मैं तुमसे सतत प्रेम करता ही रहूँ, तो महीने या वर्ष भर में तुम मुझसे अवश्य ही प्रेम करने लगोगे। यह एक सुविज्ञात मनोवैज्ञानिक तथ्य है। जिस प्रकार प्रेमव्रता पत्नी अपने गत पति का चिन्तन करती है, उसी प्रकार के प्रेम से हमें ईश्वर-प्राप्ति के लिए व्याकुल होना चाहिए, तभी हमें ईश्वर की प्राप्ति होगी। समस्त ग्रन्थ और शास्त्र हमें कुछ भी नहीं सिखा सकते। पुस्तकों को रटकर हम तोते बन जाते हैं। पुस्तकों को पढ़कर कोई पंडित नहीं होता। जो मनुष्य केवल 'प्रेम' का एक शब्द पढ़ लेता है, वही पंडित है। अतः हमारी पहली आवश्यकता है, व्याकुलता।

प्रतिदिन हम अपने आपसे यही प्रश्न करें—क्या हमें ईश्वर को प्राप्त करने की लालसा है? जब हम धर्म की बातें करें और खासकर जब हम ऊँचा आसन ग्रहण करके दूसरों को उपदेश देने लगें, तब हमें अपने से यही प्रश्न पूछना चाहिए। मैं अनेक बार देखता हूँ कि मुझे ईश्वर की चाह नहीं है; मुझे रोटी की चाह उससे अधिक है। यदि मुझे एक टुकड़ा रोटी न मिले, तो मैं पागल हो जाऊँगा। हीरे की पिन बिना बहुतेरी महिलाएँ पागल हो जायँगी। पर उन्हें ईश्वर-प्राप्ति के लिए इसी प्रकार की लालसा नहीं है। विश्व की 'उस एकमात्र यथार्थ वस्तु' का उन्हें ज्ञान नहीं है। हमारी भाषा में एक कहावत प्रचलित है—'मारै तो हाथी लूटै तो भण्डार।' भिखारियों को लूटकर या चींटियों का शिकार करके क्या लाभ हो सकता है? अतः यदि प्रेम करना है, तो ईश्वर से प्रेम करो। इन सांसारिक वस्तुओं की परवाह कौन करता है? यह संसार बिल्कुल मिथ्या है। संसार के सभी महान् मनीषी इसी नतीजे पर पहुँचे हैं। इस संसार से निकलने का मार्ग ईश्वर के अतिरिक्त और दूसरा नहीं है। वही (ईश्वर) हमारे जीवन का ध्येय है। वे मत, जो संसार को जीवन का ध्येय बताते हैं, अनर्थकारी हैं। इस संसार और इस शरीर का भी मूल्य है, पर वह गौण है, वे साध्य की प्राप्ति के साधन मात्र हैं। किन्तु संसार हमारा साध्य नहीं बन सकता। दुर्भाग्यवश हम संसार को प्रायः साध्य वस्तु और ईश्वर को उसका साधन बना बैठते हैं। हम देखते हैं, लोग गिरजाघर में जाकर कहा करते हैं, "हे ईश्वर! मुझे यह वस्तु दे,

---

१. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥
—कठोपनिषद् ॥१।२।२३॥

वह वस्तु दे ! हे ईश्वर ! मेरी बीमारी अच्छी कर दे।" उनको सुन्दर नीरोग शरीर चाहिए और उन्होंने सुन रखा है कि ऐसा कोई व्यक्ति एक जगह बैठा है, जो उनके इस काम को कर देगा; इसलिए वे जाते हैं और उससे प्रार्थना करते हैं। धर्म के संबंध में ऐसे विचार रखने की अपेक्षा नास्तिक होना बेहतर है। जैसा मैं बता चुका हूँ, यह 'भक्ति' सर्वोच्च आदर्श है। मैं कह नहीं सकता कि भविष्य में करोड़ों वर्षों में भी हमें उस आदर्श (या भक्ति) की प्राप्ति होगी या नहीं। पर हमें तो उस (भक्ति) को अपना सर्वोच्च आदर्श बनाना ही चाहिए और अपनी समस्त इन्द्रियों को उस सर्वोच्च आदर्श की ओर ही उन्मुख कर देना चाहिए। इससे यदि हमें अपने साध्य की प्राप्ति न भी होगी, तो कम से कम हम उसके अधिक निकट तो अवश्य पहुँच जायँगे। संसार और इन्द्रियों में से ही धीरे धीरे अपना रास्ता बनाते हुए हमें ईश्वर तक पहुँचना है।

आध्यात्मिक गुरु

यह निश्चित है कि प्रत्येक आत्मा को पूर्णता की प्राप्ति होगी और अन्त में सभी प्राणी उस पूर्णावस्था को प्राप्त करेंगे। हम इस समय जो भी हैं, वह हमारे पिछले अस्तित्व और विचारों का परिणाम है तथा हमारी भविष्य की अवस्था हमारे वर्तमान कार्यों और विचारों पर अवलम्बित रहेगी। किंतु इससे हमारे लिए दूसरों से सहायता प्राप्त करना वर्जित नहीं हो जाता। किसी बाह्य सहायता से आत्मशक्तियों का विकास अधिक तेज़ी से होने लगता है। अतः संसार के अधिकांश मनुष्यों के लिए बाह्य सहायता की प्रायः अनिवार्य रूप से आवश्यकता होती है। हमारे विकास को स्फुरित करनेवाला प्रभाव बाहर से आता है और हमारी प्रसुप्त शक्तियों को जगा देता है। तभी से हमारी उन्नति का प्रारम्भ होता है, आध्यात्मिक जीवन का आरम्भ होता है और अन्त में हम पावन और पूर्ण बन जाते हैं। यह स्फुरक शक्ति, जो बाहर से आती है, हमें पुस्तकों से प्राप्त नहीं हो सकती; एक आत्मा दूसरी आत्मा से ही प्रेरणा प्राप्त कर सकती है, किसी अन्य वस्तु से नहीं। हम जन्म भर पुस्तकों का अध्ययन करते रहें और बड़े बौद्धिक भी हो जायँ, पर अन्त में हम देखेंगे कि हमारी आत्मा की कुछ भी उन्नति नहीं हुई है। यह आवश्यक नहीं है कि उच्च श्रेणी के बौद्धिक विकास के साथ मनुष्य का आत्मिक विकास भी सम तुल्य हो जाय। प्रत्युत हम प्रायः यही देखते हैं कि बुद्धि का उच्च विकास आत्मा की ही वेदी पर होता है।

बुद्धि की उन्नति करने में तो हमें पुस्तकों से बहुत सहायता प्राप्त होती है, पर आत्मा के विकास में उनसे लगभग शून्यप्राय ही सहायता प्राप्त होती है।

ग्रन्थों का अध्ययन करते करते कभी कभी हम भ्रमवश ऐसा सोचने लगते हैं कि हमारी आध्यात्मिक उन्नति में इस अध्ययन से सहायता मिल रही है। पर जब हम अपना आत्म-विश्लेषण करते हैं, तब पता लगता है कि ग्रन्थों से केवल हमारी बुद्धि को ही सहायता मिली है, आत्मा को नहीं। यही कारण है कि हर व्यक्ति आध्यात्मिक विषयों पर अद्भुत व्याख्यान तो दे सकता है, पर जब कार्य करने का अवसर आता है, तो वह अपने को बिल्कुल निकम्मा पाता है। कारण यह है कि जो बाह्य शक्ति हमें आत्मोन्नति के पथ में आगे बढ़ाती है, वह हमें पुस्तकों द्वारा नहीं मिल सकती। आत्मा को स्फुरित करने के लिए ऐसी शक्ति किसी दूसरी आत्मा से ही प्राप्त होनी चाहिए।

जिस आत्मा से यह शक्ति मिलती है, उसे गुरु या आचार्य कहते हैं और जिस आत्मा को यह शक्ति प्रदान की जाती है, वह शिष्य या चेला कहलाता है। इस शक्ति के संप्रेषण के लिए पहले तो यह आवश्यक है कि जिस आत्मा से यह शक्ति संचारित होती है, उसमें उस शक्ति को अपने पास से दूसरे में संप्रेषित कर सकने की क्षमता हो, और दूसरी आवश्यकता यह है कि जिसको वह शक्ति संप्रेषित की जाय, उसमें उसको ग्रहण करने की क्षमता हो। बीज सजीव हो और खेत अच्छी तरह से जुता हुआ हो। जब ये दोनों शर्तें पूरी हो जाती हैं, तब धर्म की आश्चर्यजनक उन्नति होती है। 'धर्म का वक्ता अलौकिक हो और श्रोता भी वैसा ही हो।' और जब दोनों अलौकिक या असाधारण होंगे, तभी अत्युत्तम आत्मिक विकास सम्भव है, अन्यथा नहीं। ऐसे ही लोग यथार्थ गुरु हैं और ऐसे ही लोग यथार्थ शिष्य। अन्य तो मानो धर्म का केवल खिलवाड़ करते हैं। वे थोड़ा सा बौद्धिक प्रयास तथा कुछ कुतूहलपूर्ण शंकाओं का समाधान करते रहते हैं। उनके बारे में हम कह सकते हैं कि वे मानो धर्म-क्षेत्र की केवल बाहरी परिधि पर खड़े हैं। पर उसकी भी कुछ न कुछ सार्थकता है—धर्म की सच्ची प्यास उससे जाग्रत हो सकती है; समय आने पर ही सब कुछ प्राप्त होता है। प्रकृति का यह एक रहस्यपूर्ण नियम है कि खेत तैयार होते ही बीज मिलता है। ज्योंही आत्मा को धर्म की आवश्यकता होती है, त्योंही धार्मिक शक्ति का देनेवाला कोई न कोई आना ही चाहिए। 'खोज करनेवाले पापी की भेंट खोज करनेवाले उद्धारक से हो ही जाती है।' जब ग्रहण करनेवाली आत्मा की आकर्षण-शक्ति पूर्ण और परिपक्व हो जाती है, उस समय उस आकर्षण का उत्तर देनेवाली शक्ति आनी ही चाहिए।

पर मार्ग में बड़े खतरे भी हैं। एक खतरा यह है कि कहीं ग्रहीता आत्मा (शिष्य) अपने क्षणिक आवेश को यथार्थ धार्मिक पिपासा न समझने लगे। ऐसा हमें

स्वयं अपने में भी मिलेगा। हमारे जीवन में प्रायः ऐसा घटित होता है कि जिस व्यक्ति पर हमारा बहुत प्रेम है, वह अचानक मर जाता है, उसकी मृत्यु से हमें क्षण भर के लिए धक्का पहुँचता है। हम सोचते हैं कि यह संसार हाथ से निकला जा रहा है, हमें संसार से कुछ उच्चतर वस्तु चाहिए और अब हम धार्मिक होने जा रहे हैं। पर कुछ दिनों के बाद वह तरंग निकल जाती है और हम जहाँ के तहाँ पड़े रह जाते हैं। हमें अनेक बार इन आवेशों में धर्म की सच्ची पिपासा का भ्रम हो जाता है। पर जब तक इन क्षणिक आवेशों में हमें इस प्रकार का भ्रम होता रहेगा, तब तक हमारी आत्मा की वह सतत यथार्थ पिपासा जाग्रत नहीं होगी और हमें 'शक्ति-दाता' (गुरु) प्राप्त न होंगे।

अतः जब हमारे मन में यह शिकायत उठे कि हमें सत्य की प्राप्ति नहीं हुई है, यद्यपि हम उसकी प्राप्ति के लिए इतने व्याकुल हैं, उस समय हमारा प्रथम कर्तव्य यह होना चाहिए कि हम आत्म-निरीक्षण करें और पता लगायें कि क्या हमें वास्तव में उस (सत्य या धर्म) की पिपासा है? अकसर तो यही दिखेगा कि हमीं उसके योग्य नहीं हैं, हमें धर्म की आवश्यकता ही नहीं है, हममें अभी आध्यात्मिक पिपासा ही नहीं है।

'शक्तिदाता' गुरु के लिए तो और भी अधिक कठिनाइयाँ होती हैं। बहुतेरे तो ऐसे हैं, जो स्वयं अज्ञान में डूबे रहने पर भी अपने अन्तःकरण में भरे अहंकार के कारण अपने को सर्वज्ञ समझते हैं। इतना ही नहीं, वे दूसरों का भार अपने कन्धे पर उठाना चाहते हैं और इस प्रकार 'अन्धा अन्धे को राह दिखावे' वाली कहावत चरितार्थ करते हुए अपने साथ उन्हें भी गड्ढे में ले गिरते हैं। संसार में ऐसों की ही भरमार है। हर कोई गुरु होना चाहता है, हर भिखारी लक्ष मुद्रा का दान करना चाहता है। जैसे ये भिखारी हँसी के पात्र हैं, वैसे ही ये गुरु भी।

तब प्रश्न यह है कि गुरु की पहिचान हमें कैसे हो? सूर्य को दिखाने के लिए मशाल या दीपक की आवश्यकता नहीं होती। सूर्य को देखने के लिए हम मोम-बत्ती नहीं जलाते। सूर्य का उदय होते ही उसके उदय होने का ज्ञान हमें स्वभावतः ही हो जाता है। उसी प्रकार जब हमें सहायता देने के लिए किसी जगद्गुरु का आग-मन होता है, तब आत्मा को अपने स्वभाव से ही ऐसा लगने लगता है कि उसे सत्य की प्राप्ति हो गयी। सत्य स्वयंसिद्ध होता है। उसे सिद्ध करने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। सत्य स्वयंप्रकाश होता है। वह हमारी प्रकृति की अन्तरतम गुहाओं तक को भेद देता है और सारी सृष्टि चिल्ला उठती है, 'यही सत्य है।' महान् आचार्य ऐसे ही होते हैं। पर हम तो इनकी अपेक्षा छोटे आचार्यों से भी सहायता पा सकते हैं। किन्तु जिनके पास से हम दीक्षा लेना चाहते हैं या जिन्हें हम गुरु बनाना चाहते हैं, उनके विषय में ठीक या उचित राय क़ायम

कर सकने के लिए पर्याप्त अन्तःशक्ति हममें बहुधा नहीं होती; इसलिए कुछ कसौटियों की आवश्यकता है। जिस प्रकार शिष्य में कुछ लक्षणों का रहना आवश्यक है, उसी प्रकार गुरु में भी कुछ लक्षण होने चाहिए।

पवित्रता, यथार्थ ज्ञान-पिपासा और धैर्य—ये लक्षण शिष्य में अवश्य हों। अपवित्र आत्मा कभी धार्मिक नहीं हो सकती। सबसे बड़ी आवश्यकता इसी पवित्रता की है। सब प्रकार की पवित्रता नितान्त आवश्यक है। दूसरी आवश्यकता इस बात की है कि शिष्य को ज्ञान-प्राप्ति की यथार्थ पिपासा हो। प्रश्न यही है कि चाहता कौन है? हम जो चाहते हैं, वही मिलता है, यह पुराना नियम है। जो चाहता है, वह पाता है। धर्म की चाह बड़ी कठिन बात है। इसे हम साधारणतः जितना सरल समझते हैं, उतना सरल नहीं है। फिर हम यह तो सदा भूल ही जाते हैं कि व्याख्यान सुनना या पुस्तकें पढ़ना धर्म नहीं है। धर्म तो एक सतत संघर्ष है। स्वयं अपनी प्रकृति का दमन करते रहना; जब तक उस पर विजय प्राप्त न हो जाय, तब तक निरन्तर लड़ते रहने का नाम धर्म है। यह एक या दो दिन, कुछ वर्षों या जन्मों का प्रश्न नहीं है। इसमें तो सैकड़ों जन्म बीत जायँ, तो भी हमें इसके लिए तैयार रहना चाहिए। सम्भव है, हमें अपनी प्रकृति पर तुरन्त विजय मिल जाय; या सम्भव है, सैकड़ों जन्म तक हमें यह विजय प्राप्त न हो; पर हमें उसके लिए तैयार रहना आवश्यक है। जो शिष्य इस भावना के साथ अग्रसर होता है, उसको सफलता मिलती है।

गुरु में पहले तो हमें यह देखना चाहिए कि वह शास्त्रों के मर्म को जानता हो। सारा संसार बाइबिल, वेद, क़ुरान आदि आदि धर्म-शास्त्रों को पढ़ता है, पर ये सब तो केवल शब्द, बाह्य विन्यास, वाक्य-रचना, शब्द-रचना और भाषाविज्ञान ही हैं, धर्म की सूखी, नीरस अस्थियाँ मात्र। गुरु चाहे किसी ग्रन्थ का काल-निर्णय कर ले, पर शब्द तो वस्तुओं का बाहरी रूप मात्र है। जो शब्द की ही उलझन में अधिक पड़े रहते हैं और अपने मन को शब्दों की शक्ति में ही दौड़ाया करते हैं, वे भाव को खो बैठते हैं। इसीलिए गुरु को धर्मशास्त्रों के मर्म को जानना आवश्यक है। शब्दों का जाल गहन अरण्य के समान है, जहाँ मनुष्य का मन भटक जाता है और बाहर निकलने का मार्ग नहीं पाता। 'शब्द-योजना की विभिन्न रीतियाँ, सुन्दर भाषा बोलने की विभिन्न शैलियाँ, शास्त्रों के अर्थ समझाने के अनेक रूप— ये सब विद्वानों के आनन्द-भोग की वस्तुएँ हैं; इनसे किसीको मुक्ति नहीं मिल सकती।'[१]

---

१. वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद् भुक्तये न तु मुक्तये॥ विवेकचूडामणि॥५८॥

जो लोग इन सबका प्रयोग करते हैं, वे तो अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन करने के लिए ही ऐसा करते हैं, जिससे संसार उनकी स्तुति करे और यह जाने कि वे विद्वान् हैं। तुम देखोगे कि संसार के किसी भी महान् आचार्य ने शास्त्र के वाक्यों के अनेक अर्थ नहीं किये, न शब्दों की खींचातानी का कोई प्रयत्न किया, न उन्होंने यह कहा कि इस शब्द का अर्थ अमुक है और इस शब्द तथा उस शब्द के बीच भाषाविज्ञान की दृष्टि से इस प्रकार का सम्बन्ध है। संसार में जितने महान् आचार्य हुए हैं, उनका चरित्र अध्ययन करो तो कोई भी ऐसा नहीं मिलेगा, जिसने इस मार्ग का अवलम्बन किया हो। फिर भी इन्हीं आचार्यों ने यथार्थ शिक्षा दी। और दूसरे लो.ाों ने, जिनके पास सिखाने को कुछ नहीं था, एक ही शब्द को ले लिया और उस पर तीन तीन जिल्दों की पोथी रच डाली! मेरे गुरुदेव मुझसे कहा करते थे कि तुम ऐसे लोगों को क्या कहोगे जो आम के बाग़ में जाने पर पेड़ों की पत्तियाँ गिनने, पत्तों के रंग जाँचने, शाखाओं की मोटाई नापने तथा उनकी संख्या गिनने इत्यादि में लगे रहें, जब कि उनमें से केवल एक ही में आम खाने की बुद्धि हो। अतः पत्ते और शाखाओं की गिनती करना और टिप्पणी तैयार करना दूसरों के लिए छोड़ दो। इन सब कार्यों का महत्त्व अपने उपयुक्त स्थान में है, पर इस धार्मिक क्षेत्र में नहीं। ऐसी चेष्टा से मनुष्य धार्मिक नहीं बन सकते। इन 'पत्ते गिनने-वालों' में तुम्हें श्रेष्ठ धार्मिक शक्तिसम्पन्न मनुष्य कदापि नहीं मिल सकता। मनुष्य का सर्वोपरि उद्देश्य, सर्वश्रेष्ठ पराक्रम धर्म है, किंतु उसके लिए 'पत्ते गिनने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि तुम ईसाई होना चाहते हो, तो यह जानना आवश्यक नहीं कि ईसा मसीह कहाँ पैदा हुए थे—जेरूसलेम में या बेथेलहम में; या उन्होंने 'शैलोपदेश' ठीक किस तारीख़ को सुनाया था; तुम्हें तो केवल उस 'शैलोपदेश' के अनुभव करने की आवश्यकता है। यह उपदेश किस समय दिया गया, इस विषय में दो हज़ार शब्द पढ़ने की ज़रूरत नहीं। वह सब तो विद्वानों के विलास के लिए है। उन्हें उसे भोगने दो; 'तथास्तु' कह दो और आओ, हम आम खायें।

दूसरी आवश्यकता यह है कि गुरु निष्पाप हों। इंग्लैण्ड में मुझसे एक मित्र पूछने लगे, "गुरु के व्यक्तित्व को हम क्यों देखें? हमें तो उनके उपदेशों को ही विचार करके ग्रहण कर लेना चाहिए?" नहीं, ऐसा ठीक नहीं। यदि कोई मनुष्य मुझे गतिशास्त्र, रसायन शास्त्र या कोई अन्य भौतिक विज्ञान सिखाना चाहता है, तब तो उस शिक्षक का आचरण चाहे जैसा भी हो, वह मुझे इन विषयों की शिक्षा दे सकता है, क्योंकि इन विषयों के सिखाने के लिए केवल बौद्धिक ज्ञान की ही आवश्यकता है। केवल बुद्धि-बल के द्वारा ही इन विषयों की शिक्षा दी जा

सकती है, क्योंकि इन विषयों में, आत्मा की ज़रा सी भी उन्नति हुए बिना मनुष्य में बुद्धि की विराट् शक्ति का उत्पन्न होना संभव है। पर आध्यात्मिक विज्ञानों के सम्बन्ध में तो आदि से अन्त तक अपवित्र आत्मा में धर्म की ज्योति का होना असंभव है। ऐसी आत्मा सिखलायेगी ही क्या? वह तो कुछ जानती ही नहीं। पवित्रता ही आध्यात्मिक सत्य है। 'पवित्र हृदयवाले धन्य हैं, क्योंकि वे ही ईश्वर का दर्शन करेंगे।' इस एक वाक्य में सब धर्मों का निचोड़ है। यदि तुमने इतना ही जान लिया तो भूत काल में जो कुछ इस विषय में कहा गया है और भविष्य काल में जो कुछ कहा जा सकता है, उन सबका ज्ञान तुम्हें प्राप्त हो गया। तुम्हें और किसी ओर दृष्टिपात करने की ज़रूरत नहीं, क्योंकि तुम्हें इस एक वाक्य में ही सारी आवश्यक सामग्री प्राप्त हो गयी। यदि संसार के सभी धर्मशास्त्र नष्ट हो जायँ, तो अकेला यह वाक्य ही संसार का उद्धार कर सकेगा। आत्मा के पवित्र हुए बिना, ईश्वर का दर्शन, इस जगत् के परे की झाँकी कभी नहीं मिल सकती। इसीलिए आध्यात्मिकता का उपदेश करनेवाले गुरु में पवित्रता का होना अनिवार्य है; पहले हमें यह देखना चाहिए कि वे (गुरु) 'क्या हैं', और तदुपरान्त वे 'क्या कहते हैं'। बौद्धिक विषयों के आचार्यों के पक्ष में यह बात आवश्यक नहीं है, वहाँ तो जो वे हैं, उसकी अपेक्षा जो वे कहते हैं, उसीको हम महत्त्व देते हैं। पर धार्मिक गुरु के विषय में हमें पहले और सर्वोपरि यह देख लेना चाहिए कि वे क्या हैं, और तभी उनके उपदेश का मूल्य है; क्योंकि वह तो संप्रेषण करनेवाला होता है। यदि स्वयं गुरु में वह आध्यात्मिक शक्ति न हो, तो वह शिष्य में किसका संचार करेगा? जैसे, यदि गर्मी पहुँचानेवाला पदार्थ स्वयं गर्म हो, तभी वह गर्मी के स्पंदन संप्रेषित कर सकेगा, अन्यथा नहीं। ठीक यही बात गुरु के उन मानस-स्पंदनों के संबंध में सत्य है, जिन्हें वह शिष्य में संचरित करता है। प्रश्न संवाहन का है, केवल हमारी बौद्धिक क्षमताओं को उत्तेजित करने की बात नहीं है। कोई यथार्थ तथा प्रत्यक्ष शक्ति गुरु से निकलकर जाती है और शिष्य के हृदय में पल्लवित होने लगती है। इसी कारण गुरु का सच्चा होना एक अनिवार्य आवश्यकता है।

तीसरी बात है उद्देश्य। हमें देखना चाहिए कि गुरु नाम, यश अथवा अन्य किसी ऐसे ही उद्देश्य से तो उपदेश नहीं देते, वरन् केवल प्रेम के निमित्त शिष्य के प्रति शुद्ध प्रेम से परिचालित होकर उपदेश देते हैं। क्योंकि केवल प्रेम के ही माध्यम द्वारा गुरु से शिष्य में आध्यात्मिक शक्तियों का संचार किया जा सकता है। अन्य किसी माध्यम द्वारा इन शक्तियों का संचार नहीं हो सकता। अर्थ-प्राप्ति या कीर्ति-लाभ आदि किसी अन्य उद्देश्य से प्रेरित होने पर संप्रेषण का माध्यम तत्काल नष्ट

हो जाता है। अतः यह सब प्रेम द्वारा ही होना चाहिए। जिसने ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया है, वही गुरु हो सकता है। जब तुमको गुरु में ये आवश्यक बातें मिल जायँ, तो तुम निरापद हो, तुम्हें कोई डर नहीं। और यदि ये बातें गुरु में न हों, तो उनको स्वीकार करना बुद्धिमानी नहीं है। कारण, यदि वे सद्भाव का संचार नहीं कर सकते, तो कभी कभी उनसे दुर्भाव के ही संचार होने का डर रहता है। इस बात के प्रति सजग रहना चाहिए। अतः स्वाभाविक निष्कर्ष यह है कि हम किसी भी ऐरे-गैरे से उपदेश नहीं ले सकते।

नदी-नालों और पत्थरों के प्रवचन करने की बात काव्यालंकार के रूप में तो ठीक हो सकती है, पर जिसके भीतर सत्य नहीं है, वह सत्य का अणु मात्र भी उपदेश नहीं कर सकता। नदी-नाले किसे प्रवचन देते हैं? उसी मानव आत्मा को, जिसका जीवन-कमल पहले ही मुकुलित हो चुका है। जब हृदय खुल जाता है, तब उसे नालों, पत्थरों से भी उपदेश प्राप्त हो सकता है, इन सबसे धार्मिक शिक्षा मिल सकती है। पर जो हृदय खुला नहीं है, उसे तो नाले और पत्थर के अतिरिक्त और कुछ दिखेगा ही नहीं। अन्धा आदमी अजायबघर भले ही चला जाय, पर उसके हाथ केवल आना और जाना ही लगेगा। यदि उसे कुछ देखना है, तो पहले उसकी आँखें खुलनी चाहिए। धर्म की आँखों को खोलनेवाला गुरु होता है। अतः गुरु के साथ हमारा सम्बन्ध पूर्वज और वंशज का होता है। गुरु धार्मिक पूर्वज और शिष्य उसका धार्मिक वंशज होता है। स्वाधीनता और स्वतंत्रता की बातें चाहे जितनी अच्छी लगें, पर विनय, नम्रता, भक्ति, श्रद्धा और विश्वास के बिना कोई धर्म नहीं रह सकता। यह उल्लेखनीय बात है कि जहाँ गुरु और शिष्य में ऐसे सम्बन्ध का अस्तित्व अब भी है, वहीं महान् आध्यात्मिक आत्माओं का विकास होता है, पर जहाँ उसे बहिष्कृत कर दिया गया है, वहाँ धर्म केवल एक दिल-बहलाव की वस्तु बन जाता है। उन सब राष्ट्रों और धर्मसंघों में, जहाँ गुरु और शिष्य में यह सम्बन्ध विद्यमान नहीं है, आध्यात्मिकता प्रायः नहीं के बराबर रह जाती है। उस भावना के बिना आध्यात्मिकता कदापि नहीं आ सकती। वहाँ न तो कोई देनेवाला—संचार करनेवाला ही है और न ग्रहण करनेवाला; क्योंकि वे सब स्वाधीन हैं। वे सीखेंगे किससे? यदि वे सीखने आते हैं, तो असल में विद्या खरीदने आते हैं। हमें एक डॉलर का धर्म दो, क्या हम उसके लिए एक डॉलर खर्च नहीं कर सकते? धर्म की प्राप्ति इस प्रकार नहीं हो सकती।

आध्यात्मिक गुरु के द्वारा संप्रेषित जो ज्ञान आत्मा को प्राप्त होता है, उससे उच्चतर एवं पवित्र वस्तु और कुछ नहीं है। यदि मनुष्य पूर्ण योगी हो चुका है, तो वह स्वतः ही उसे प्राप्त हो जाता है। किंतु पुस्तकों द्वारा तो उसे प्राप्त नहीं किया

जा सकता। तुम दुनिया के चारों कोनों में—हिमालय, आल्प्स, काकेशस पर्वत अथवा गोबी या सहारा की मरुभूमि या समुद्र की तली में जाकर अपना सिर पटको, पर बिना गुरु मिले तुम्हें वह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। गुरु को प्राप्त करो, बालकवत् उनकी सेवा करो, उनका प्रभाव ग्रहण करने के लिए अपना हृदय खोल दो, उनमें परमात्मा के व्यक्त रूप का दर्शन करो। गुरु को ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति समझकर उनमें हमें अपना ध्यान केन्द्रीभूत कर देना चाहिए, और ज्यों ज्यों उनमें हमारी यह ध्यान-शक्ति एकाग्र होगी, त्यों त्यों गुरु के मानव रूप का चित्र विलीन हो जायगा, मानव शरीर का लोप हो जायगा और यथार्थ ईश्वर ही वहाँ शेष रह जायगा। सत्य की ओर जो इस श्रद्धा और प्रेम से अग्रसर होते हैं, उनके प्रति सत्य के भगवान् परम अद्भुत वचन कहते हैं। 'अपने पैरों से जूते अलग कर दो, क्योंकि जिस जगह तुम खड़े हो वह स्थान पवित्र है।' जिस स्थान में उस (भगवान्) का नाम लिया जाता है, वह स्थान पवित्र है; तब जो मनुष्य उसका नाम लेता है, वह कितना अधिक पवित्र होगा ! और जिस मनुष्य से आध्यात्मिक सत्यों की प्राप्ति होती है, उसके निकट हमें कितनी श्रद्धा और भक्ति के साथ पहुँचना उचित है ! इसी भाव से हमें शिक्षा ग्रहण करनी है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे गुरु इस संसार में कम मिलते हैं, पर ऐसा भी नहीं है कि जगत् उनसे बिल्कुल शून्य हो। जिस क्षण यह संसार ऐसे गुरुओं से रहित हो जायगा, उसी क्षण इसका अन्त हो जायगा, यह घोर नरक बनकर झड़ जायगा। ये गुरु ही मानव जीवन के सुन्दर तथा अनुपम पुष्प हैं, जो संसार को चला रहे हैं। जीवन के इन हृदयों के द्वारा व्यक्त शक्ति ही समाज की मर्यादाओं को सुरक्षित रखती है।

इनसे परे गुरुओं की एक श्रेणी है, जो इस पृथ्वी के ईसा मसीह होते हैं। वे 'गुरुओं के भी गुरु' होते हैं—स्वयं भगवान् मनुष्य के रूप में आते हैं। वे बहुत ऊँचे होते हैं और अपने स्पर्श या इच्छा मात्र से दूसरों के भीतर धार्मिकता एवं पवित्रता का संचार करते हैं, जिससे नितान्त अधम और चरित्रहीन मनुष्य भी क्षण भर में साधु बन जाता है। उनके इस प्रकार के कार्यों के अनेक दृष्टान्त क्या हमने नहीं पढ़े हैं? ये उस प्रकार के गुरु नहीं हैं, जिनकी चर्चा मैं कर रहा था, ये तो सब गुरुओं के गुरु हैं, मनुष्य को उपलब्ध होनेवाली ईश्वर की सर्वोच्च अभिव्यक्तियाँ हैं, बिना उनको माध्यम बनाये हम भगवान् के दर्शन और किसी तरह नहीं कर सकते। हम इनकी पूजा किये बिना नहीं रह सकते; ये ही ऐसी विभूतियाँ हैं, जिनकी पूजा करने को हम विवश हैं।

ईश्वर ने अपने को जिस रूप में (अपने) इन पुत्रों में व्यक्त किया है, उसके अतिरिक्त मनुष्य ईश्वर का दर्शन किसी अन्य रूप में नहीं कर पाया है। हम ईश्वर

को देख नहीं सकते। यदि हम ईश्वर को देखने का प्रयत्न करते हैं, तो हम ईश्वर का एक विकृत और भयानक व्यंगचित्र बना डालते हैं। एक भारतीय कथा है कि एक अज्ञानी मनुष्य से भगवान् शिव की मूर्ति बनाने के लिए कहा गया। वह कई दिनों तक खटपट करता रहा और अन्त में उसने एक वानर की प्रतिमा बना डाली! इसी प्रकार जब कभी हम ईश्वर की मूर्ति बनाने का प्रयत्न करते हैं, तब हम उसका एक विकृत आकार ही बना पाते हैं; क्योंकि जब तक हम मनुष्य हैं, तब तक हम ईश्वर को मनुष्य से बढ़कर और कुछ समझ ही नहीं सकते। ऐसा समय अवश्य आयेगा, जब हम अपनी मानव-प्रकृति को पार कर आगे बढ़ जायेंगे और उस समय हम ईश्वर को जैसा वह है, वैसा ही जान सकेंगे। किन्तु जब तक हम मनुष्य हैं, तब तक उसकी हमें मनुष्य-रूप में ही पूजा करनी होगी। हम बातें चाहे जैसी कर लें, प्रयत्न चाहे जो भी कर लें, परमात्मा को मनुष्य के अतिरिक्त अन्य किसी रूप में देख ही नहीं सकते। हम चाहे बड़े बड़े बौद्धिक व्याख्यान दे डालें, बड़े तर्कवादी हो जायँ और यह भी सिद्ध कर दें कि ईश्वर सम्बन्धी सारी कथाएँ बेवकूफ़ी की बातें हैं, पर साथ ही हमें अपने सहज बोध से भी तो कुछ काम लेना चाहिए। इस विचित्र बुद्धि का आधार क्या है? उत्तर मिलता है—शून्य, कुछ नहीं। इसके बाद जब कभी तुम किसी मनुष्य की ईश्वर-पूजा के विरुद्ध बड़े बड़े बौद्धिक व्याख्यान फट-कारते सुनो, तो उसे पकड़कर यह पूछो कि ईश्वर के सम्बन्ध में उसकी कल्पना क्या है; 'सर्वशक्तिमत्ता', 'सर्वव्यापिता', 'सर्वव्यापी प्रेम' इत्यादि शब्दों का उनकी वर्तनी के अतिरिक्त वह और क्या अर्थ समझता है? देखोगे, वह कुछ नहीं जानता; वह इन शब्दों के भावों की कोई कल्पना अपने सामने नहीं ला सकता; एक रास्ता चलनेवाले अपढ़ निरक्षर व्यक्ति की अपेक्षा वह किसी प्रकार श्रेष्ठ नहीं है। बल्कि यह राहगीर शान्त है और दुनिया की शान्ति को भंग नहीं करता, जब कि वह दुनिया को क्षुब्ध करता रहता है। उस पढ़े-लिखे व्यक्ति को भी कोई प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है, अतः वह और राहगीर एक भूमिका पर अवस्थित हैं।

प्रत्यक्ष अनुभव या साक्षात्कार ही धर्म है। मौखिक विवाद और प्रत्यक्ष अनुभव में महान् अन्तर है, यह समझ लेना चाहिए। अपनी आत्मा में जो अनुभव हो, वही प्रत्यक्ष सत्यानुभव है। मनुष्य के पास आत्मा की कोई कल्पना नहीं है, उसके सम्मुख जो आकार हैं, उन्हींकी सहायता से वह आत्मा के विषय में सोच सकता है। नील आकाश, विस्तृत खेतों का समूह, समुद्र या ऐसी ही किसी विशाल वस्तु की भावना उसे करनी पड़ती है। नहीं तो वह और किस तरह ईश्वर का विचार करेगा? अतः तुम वस्तुतः क्या कर रहे हो? 'सर्वव्यापिता' की बातें करते हो और समुद्र का चिन्तन करते हो! क्या ईश्वर समुद्र है? अतः संसार के इस व्यर्थ

विवाद को दूर करो। सहज बोध की ज़रा अधिक आवश्यकता है। साधारण बुद्धि बड़ी दुर्लभ वस्तु है। संसार में बातों की भरमार है। हम अपनी वर्तमान संरचना के अनुसार सीमित हैं और ईश्वर को मनुष्य के ही रूप में देखने के लिए बाध्य हैं। यदि भैंसे ईश्वर की पूजा कर सकते, तो वे ईश्वर को एक बड़ा भैंसा ही समझते ! यदि मछली ईश्वर की पूजा करना चाहे, तो वह ईश्वर को एक बड़ी मछली के आकार का समझेगी। ये सब केवल कल्पनाएँ हैं। तुम और हम, भैंसा और मछली मानो भिन्न भिन्न पात्रों के समान हैं। ये पात्र अपनी अपनी आकृति के अनुसार समुद्र में पानी भरने जाते हैं। प्रत्येक पात्र में पानी के सिवा और कोई वस्तु नहीं है। ऐसा ही ईश्वर के विषय में सत्य है। जब मनुष्य ईश्वर को देखता है, तो वह उसे मनुष्य के रूप में देखता है। इसी प्रकार अन्य प्राणी भी ईश्वर को अपनी अपनी कल्पना के अनुसार देखते हैं। परमेश्वर को तुम केवल इसी तरह देख सकते हो। मनुष्य के ही रूप में उसकी उपासना कर सकते हो; क्योंकि इसके सिवा दूसरा कोई मार्ग है ही नहीं। दो वर्ग के मनुष्य ऐसे हैं, जो ईश्वर की उपासना मनुष्य के रूप में नहीं करते, एक तो मानवरूपधारी पशु, जिनका कोई धर्म ही नहीं होता, और दूसरे 'परमहंस', जो मनुष्यता के परे पहुँच गये हैं, और जिन्होंने मन और शरीर को अलग कर दिया है, एवं प्रकृति की मर्यादा के उस पार चले गये हैं। समस्त प्रकृति उनकी आत्मा बन गयी है। उनके न मन है, न शरीर। वे ईसा या बुद्ध के समान ईश्वर की उपासना ईश्वर के ही रूप में कर सकते हैं। ईसा और बुद्ध ईश्वर की पूजा मनुष्य के रूप में नहीं करते थे। दूसरे सिरे पर मानव-पशु हैं। ये दोनों छोरवाले व्यक्ति एक-जैसे दीखते हैं। उसी प्रकार, अत्यन्त अज्ञानी और अत्युच्च ज्ञानी भी समान से प्रतीत होते हैं—ये दोनों ही किसीकी उपासना नहीं करते। अत्यन्त अज्ञानी मनुष्य को, पर्याप्त विकास न होने के कारण, ईश्वर की उपासना की ज़रूरत ही नहीं मालूम पड़ती, इसलिए वह ईश्वर की पूजा नहीं करता। जो मनुष्य उच्चतम ज्ञान की प्राप्ति कर चुके हैं, वे भी ईश्वर की पूजा नहीं करते; क्योंकि वे तो परमात्मा का साक्षात्कार कर चुके हैं और ईश्वर के साथ एक हो चुके हैं। ईश्वर ईश्वर की पूजा नहीं करता। इन दो सीमान्त अवस्थाओं का मध्यवर्ती कोई मनुष्य यदि यह कहे कि मैं मनुष्य-रूप में ईश्वर की पूजा नहीं करता, तो उससे सावधान रहो। वह उत्तरदायित्वहीन बातें करने-वाला मनुष्य है। उसका धर्म उथले विचारवालों के लिए है, केवल बौद्धिक बकवास है।

अतः ईश्वर की मनुष्य के रूप में उपासना करना अनिवार्य है और जिन जातियों के पास ऐसे उपास्य 'देव-मानव' हैं, वे धन्य हैं। ईसाइयों में ईसा मसीह के रूप

में ऐसे मानवरूपधारी ईश्वर हैं। अतः उन्हें ईसा के प्रति दृढ़ आसक्ति रखनी चाहिए और उन्हें ईसा को कभी नहीं छोड़ना चाहिए। मनुष्य में ईश्वर के दर्शन करना यही ईश्वर-दर्शन का स्वाभाविक मार्ग है। ईश्वर सम्बन्धी हमारे समस्त विचार वहीं एकाग्र हो सकते हैं। ईसाइयों में सबसे बड़ी कमी इस बात की है कि वे ईसा के अतिरिक्त ईश्वर के अन्य अवतारों के प्रति श्रद्धा नहीं रखते। जैसे ईसा ईश्वर के अवतार थे, उसी तरह बुद्ध भी ईश्वर के अवतार थे तथा अन्य सैकड़ों अवतार होंगे। ईश्वर को कहीं पर सीमाबद्ध मत करो। ईसाइयों को चाहिए कि ईश्वर की जो कुछ भक्ति करना वे उचित समझें, वह वे ईसा के प्रति करें; यही एक उपासना उनके लिए सम्भव है। ईश्वर की पूजा नहीं हो सकती; क्योंकि ईश्वर तो सृष्टि में सर्वव्यापी है। उनके मानव रूप की ही हम उपासना कर सकते हैं। 'ईसा मसीह के नाम पर'—ईसाई लोगों का ऐसी प्रार्थना करना बहुत अच्छा होगा। उनका ईश्वर से प्रार्थना करना छोड़ केवल ईसा से ही प्रार्थना करना अधिक अच्छा होगा। ईश्वर मनुष्य की दुर्बलताओं को समझता है और मानव जाति का उपकार करने के लिए वह मनुष्य बनकर आता है। कृष्ण का कथन है, 'जब जब धर्म का ह्रास और अधर्म की वृद्धि होती है, तब तब मैं मानव जाति का उद्धार करने आता हूँ।'[१] 'अज्ञानी लोग यह न जानकर कि सृष्टि के सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी ईश्वर मैंने यह मानव रूप धारण किया है, मेरी अवहेलना करते हैं और आश्चर्य करते हैं कि यह कैसे सम्भव है।'[२] उनका मन आसुरी अज्ञान से आच्छादित रहता है, इसलिए वे उस मानव रूप ईश्वर में सृष्टि के स्वामी ईश्वर का दर्शन नहीं कर पाते। ईश्वर के महान् अवतार पूजनीय हैं। यही नहीं, पूजा तो केवल इन्हीं की हो सकती है। इनके जन्म-दिवस तथा महासमाधि-दिवस पर हमें विशेष श्रद्धांजलि समर्पित करनी चाहिए। ईसा की पूजा करने में मैं उनकी पूजा ठीक उसी तरह करूँगा, जैसी उनकी इच्छा थी, उनके जन्म-दिवस पर मैं दावत उड़ाने के बदले प्रार्थना और उपवास द्वारा उनकी पूजा करूँगा। जब हम इन अवतारों का,

---

१. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
—गीता॥४।७॥

२. अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥
—गीता॥९।११॥

इन महान् विभूतियों का चिन्तन करते हैं, तब ये हमारी आत्मा के भीतर प्रकट होते हैं और हमें अपने समान बना देते हैं। हमारी सम्पूर्ण प्रकृति बदल जाती है और उनके समान हो जाती है।

पर तुम ईसा या बुद्ध को वायु में उड़नेवाले भूत-प्रेतों तथा उसी प्रकार की अन्य मिथ्या कल्पनाओं के समान मत समझ लेना। शान्तं पापम्! ईसा मसीह प्रेतचक्र (spiritualistic seance) में नाचने आते हैं! मैंने यह ढोंग इसी देश में देखा है। परमात्मा के ये अवतार इस तरह नहीं आया करते। किसी भी अवतार के स्पर्श मात्र से मनुष्य पर जो प्रभाव पड़ता है, वह बोल उठता है। जब ईसा का स्पर्श होगा, तो मनुष्य का दिव्यांतर हो जायगा और वह मनुष्य दिव्यांतरित होकर ईसा जैसा ही बन जायगा। उसका सारा जीवन आध्यात्मिक बन जायगा और उसके शरीर के रोम रोम से आध्यात्मिक शक्ति प्रवाहित होने लगेगी। ईसा की जो शक्तियाँ उनके चमत्कारों में और आरोग्य प्रदान करने की घटनाओं में दीख पड़ती हैं, वे यथार्थ में क्या थीं? वे तो तुच्छ और ग्राम्य चीज़ें थीं, और वह सब करने के लिए वे असंस्कृत मनुष्यों के बीच रहने के कारण विवश हुए। वे चमत्कारपूर्ण कृत्य कहाँ किये गये? यहूदी लोगों के बीच। और यहूदियों ने उन्हें स्वीकार नहीं किया। और वैसे चमत्कार कहाँ नहीं किये गये? यूरोप में। वे चमत्कार तो यहूदियों को मिले, जिन्होंने ईसा का परित्याग किया। उनका 'शैलोपदेश' यूरोप को मिला, जिसने उनको अंगीकार किया। मनुष्य की आत्मा ने जो सत्य था उसे ग्रहण किया और जो मिथ्या था उसका परित्याग। ईसा की महान् शक्ति आरोग्य-दान के उनके चमत्कारों में नहीं है। यह तो एक मूर्ख भी कर सकता है। मूर्ख दूसरों को आरोग्य कर सकते हैं, शैतान भी दूसरों के रोग भगा सकते हैं। मैंने भयानक आसुरी मनुष्यों को अद्भुत चमत्कार करते देखा है। ऐसे लोग मिट्टी से असली फल बना लेते हैं। मैंने मूर्खों और आसुरी मनुष्यों को भूत, वर्तमान और भविष्य की बातें बताते देखा है। मैंने उन्हें केवल एक दृष्टिपात द्वारा इच्छा-शक्ति से बड़े भयानक रोगों को आराम करते देखा है। ये निस्सन्देह शक्तियाँ हैं, पर बहुधा ये आसुरी हुआ करती हैं। दूसरी शक्ति ईसा की आध्यात्मिक शक्ति है—वह जीवित रहेगी और सदा जीवित रहती आयी है, और वह है उनका सर्वशक्तिशाली विराट् प्रेम और सत्य के वे शब्द जिनका उन्होंने उपदेश दिया। उनका अपनी एक नज़र से मनुष्यों को नीरोग कर देना कभी विस्मृत भी हो सकता है, पर 'जिनका अन्तःकरण पवित्र है, वे धन्य हैं' उनकी यह उक्ति आज भी अमर है। यह शब्द-समूह शक्ति का महान् अक्षय भाण्डार है। जब तक मनुष्य का मन क़ायम रहेगा, जब तक हम ईश्वर के नाम को न भूलेंगे, तब

तक ये शब्द चलते रहेंगे और इनका कभी अन्त न होगा। इन्हीं शक्तियों का उपदेश ईसा ने किया और ये ही शक्तियाँ उनके पास थीं। पवित्रता की शक्ति यथार्थ शक्ति होती है। अतः हमें ईसा की उपासना करते समय, उनसे प्रार्थना करते समय यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि हम किस वस्तु की इच्छा कर रहे हैं। चामत्कारिक प्रदर्शन की उन मूर्खतापूर्ण वस्तुओं को हम नहीं चाहते, वरन् आत्मा की उन अद्‌भुत शक्तियों की आकांक्षा करते हैं, जो मनुष्य को स्वतंत्र बना देती हैं, उसे समग्र प्रकृति पर अधिकार प्राप्त करा देती हैं और उसे दासत्व की शृंखला से मुक्त कर ईश्वर के दर्शन करा देती हैं।

प्रतीकों की आवश्यकता

भक्ति के दो विभाग हैं। एक वैधी भक्ति, जो विधिमयी या अनुष्ठानात्मक होती है और दूसरी मुख्या भक्ति या पराभक्ति। अत्यन्त निम्न श्रेणी से लेकर उच्चतम श्रेणी तक की उपासना के सभी रूपों का समावेश 'भक्ति' शब्द में होता है। दुनिया के सभी देशों और सभी धर्मों में जितनी भी उपासनाएँ की जाती हैं, उन सबका नियमन प्रेम द्वारा होता है। इन उपासनाओं में बहुत सा भाग तो केवल विधियों का होता है और बहुत सा भाग विधियों का न होने पर भी प्रेम नहीं कहा जा सकता; असल में वह तो प्रेम से नीची श्रेणी का होता है। तथापि ये विधियाँ आवश्यक होती हैं। भक्ति का यह बाहरी भाग आत्मा को उन्नति के मार्ग में सहायता देने के लिए नितान्त आवश्यक है। मनुष्य यदि सोचे कि मैं कूदकर एकदम उच्चतम अवस्था पर पहुँच जाऊँगा, तो यह उसकी बड़ी भूल है। यदि बालक सोचे कि मैं एक दिन में वृद्ध बन जाऊँगा, तो यह उसका अज्ञान है। मैं आशा करता हूँ कि तुम सदा इस बात का ध्यान रखोगे कि धर्म न तो पुस्तकों में है, न बौद्धिक सम्मति देने में और न तर्कवाद में ही। तर्क-सिद्धान्त, आप्त-वाक्य, शास्त्राज्ञा, धार्मिक अनुष्ठान ये सब धर्म के सहायक होते हैं, पर असली धर्म तो साक्षात्कार ही है। हम सब कहा करते हैं कि 'ईश्वर है'। क्या तुमने ईश्वर को देखा है? यही प्रश्न है। तुम किसी मनुष्य को यह कहते सुनते हो कि 'स्वर्ग में एक ईश्वर है।' तुम उससे पूछते हो कि क्या तुमने ईश्वर को देखा है। यदि वह कहता है कि 'हाँ, मैंने ईश्वर को देखा है', तो तुम उस पर हँसोगे और उसे पागल कहोगे।' धर्म अधिकांश लोगों के लिए एक प्रकार की बौद्धिक सम्मति देने मात्र में ही समाप्त हो जाता है। मैं इसे धर्म नहीं कहता। इस तरह का धर्म पालन करने की अपेक्षा तो नास्तिक होना अच्छा है। हमारी बौद्धिक सम्मति या असम्मति पर धर्म अवलम्बित नहीं रहता। तुम कहते हो कि आत्मा है। क्या तुमने आत्मा को

देखा है? हम सबमें आत्मा है, पर उसे हम देख नहीं पाते, यह कैसी बात है? तुमको इस प्रश्न का उत्तर देना होगा और आत्मा को देखने का उपाय निकालना होगा। यदि ऐसा नहीं हो सकता, तो धर्म की बात करना निरर्थक है। यदि कोई धर्म सच्चा है, तो उसे हमें अपने आप में ही आत्मा, ईश्वर और सत्य का दर्शन करा सकने में समर्थ होना चाहिए। यदि तुम और हम किसी धार्मिक सूत्र या शास्त्र के सम्बन्ध में सदा लड़ते रहें, तो हम कभी किसी निर्णय पर न पहुँच सकेंगे। इसी तरह लोग युगों से लड़ते आये हैं, पर नतीजा क्या हुआ? बुद्धि वहाँ तक कदापि पहुँच नहीं सकती। हमें तो बुद्धि के उस पार जाना होगा। धर्म का प्रमाण प्रत्यक्ष अनुभव से ही होता है। इस दीवाल के अस्तित्व का प्रमाण यही है कि इसे हम देखते हैं। यदि हम बैठ जायँ और दीवाल के अस्तित्व के सम्बन्ध में युग-युगान्तर तक बहस करें, तो कभी किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सकेंगे। पर यदि तुम इसे प्रत्यक्ष देख लो, तो उतना ही पर्याप्त है। फिर यदि संसार के सारे मनुष्य तुमसे कहें कि दीवाल नहीं थी, तो तुम उनका कभी विश्वास न करोगे, क्योंकि तुम जानते हो कि अपने चक्षुओं का प्रमाण संसार के सूत्रों और सिद्धान्तों से बढ़कर है।

धार्मिक होने के लिए सर्वप्रथम तुम्हें पुस्तकें फेंक देनी होंगी। पुस्तकें जितनी कम पढ़ो, उतनी ही तुम्हारी भलाई है। एक समय में एक ही काम करो। इस ज़माने में पाश्चात्य देशों में दिमाग़ की खिचड़ी करने की प्रवृत्ति चल रही है। सभी तरह के अपरिपक्व विचार दिमाग़ में उत्पात मचाते हैं और अराजकता फैला देते हैं। इन विचारों को दिमाग़ में ठंडा होने का और निश्चित आकार में जमने का मौक़ा ही नहीं मिलता। बहुधा यह एक प्रकार का रोग सा हो जाता है। यह तो धर्म कदापि नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त कुछ लोगों को कुछ सनसनी पैदा करनेवाला चाहिए। उन्हें बताओ कि ऐसे ऐसे भूत होते हैं, या कि उत्तरी ध्रुव या और किसी दूर देश से लोग पंखों के सहारे उड़ते उड़ते अथवा और किसी विचित्र रूप से आ रहे हैं, अदृश्य रूप से उपस्थित हैं और उनकी ओर ताक रहे हैं। उन्हें ऐसी ऐसी बातें बताओ, जिनको सुनकर उनके हृदय में सनसनी पैदा हो। तब वे सन्तुष्ट होकर अपने घर जायँगे। पर चौबीस घंटे बाद पुनः वे नयी उत्तेजना के लिए तैयार मिलेंगे। इसे ही कुछ लोग धर्म कहते हैं। पर यह तो पागलखाने का रास्ता है, न कि धर्म का। यदि तुम इसी राह में एक शताब्दी तक चलोगे, तो इस देश को तुम एक बड़ा पागलखाना बना डालोगे। परमात्मा के पास दुर्बल लोग नहीं पहुँच सकते और ये सब अलौकिक वस्तुएँ दुर्बलता उत्पन्न करनेवाली हैं। अतः भूल कर भी इनके निकट न जाओ। इनसे मनुष्य केवल कमज़ोर बनता है, दिमाग़ में गड़बड़ी पैदा होती है, मन दुर्बल हो जाता है, आत्मा

का नैतिक पतन होता है और नैराश्यपूर्ण सम्भ्रम ही इसका अन्तिम फल होता है। तुम इस बात को ध्यान में रखो कि धर्म न बातों में है, न सिद्धान्तों में और न पुस्तकों में, वह है प्रत्यक्ष अनुभव में। वह 'सीखना' नहीं है, 'होना' है। 'चोरी मत करो' इसे सब जानते हैं, पर इससे क्या? इसे तो यथार्थ में उसीने जाना, जिसने चोरी नहीं की। 'दूसरों को हानि मत पहुँचाओ', यह बात हर एक को मालूम है, पर इससे क्या लाभ? जिन्होंने दूसरों को हानि नहीं पहुँचायी, उन्हींने इस वाक्य का अनुभव किया। उन्हींने इसे जाना और इस सिद्धान्त पर अपने चरित्र का निर्माण किया। धर्म अनुभव करना है, और मैं तुमको ईश्वर का उपासक तभी कहूँगा, जब तुम इस आदर्श को सिद्ध करने में समर्थ हो जाओगे। उसके पूर्व ये सारे व्यापार शब्द की वर्तनी मात्र हैं। साक्षात्कार या प्रत्यक्षानुभूति की यह शक्ति ही धर्म की निर्णायक है। अपने मस्तिष्क में सिद्धान्तों, दर्शनों और नैतिक पुस्तकों को जितना चाहे ठूँस लो, उससे कुछ लाभ नहीं होने का; असली चीज़ है—वह जो तुम हो तथा वह सत्य जिसे तुमने उपलब्ध किया है। अतः हमें धर्म को जीवन में सिद्ध करना है, और धर्म की यह सिद्धि एक लंबी प्रक्रिया है।

जब लोग किसी उच्च अद्भुत विषय के सम्बन्ध में सुनते हैं, तब वे यह समझने लगते हैं कि वे उसे एकदम प्राप्त कर लेंगे। क्षण भर भी वे यह नहीं विचारते कि उसकी प्राप्ति के लिए उन्हें उसका रास्ता तय करना पड़ेगा। वे तो वहाँ एकदम कूदकर पहुँच जाना चाहते हैं। यदि वह स्थान उच्चतम है, तो भी हम वहाँ पहुँच जाना चाहते हैं। हम यह सोचने के लिए ज़रा भी नहीं रुकते कि हममें उतनी शक्ति है या नहीं। नतीजा यह होता है कि हम कुछ नहीं कर पाते। तुम किसी मनुष्य को ज़बरदस्ती उठाकर वहाँ ढकेल कर नहीं भेज सकते। हम सबको क्रमशः प्रयत्न करने की आवश्यकता होती है। अतः धर्म का यह पहला चरण वैधी भक्ति, उपासना की निचली श्रेणी है।

उपासना के ये निम्न स्तर क्या हैं? ये अनेक हैं। उस अवस्था में पहुँचने के लिए, जिसमें हम ईश्वर का अनुभव कर सकेंगे, हमें साकार वस्तु के माध्यम से जाना होगा—ठीक उसी तरह, जैसे कि बच्चे प्रथम साकार वस्तुओं का अभ्यास करके तदुपरान्त क्रमशः भाववाचक की ओर जाते हैं। यदि तुम किसी बालक को 'दो पंचे दस' बताते हो, तो वह नहीं समझता। पर यदि तुम उसे दस चीज़ें दो और दो दो चीज़ें पाँच बार उठाने से दस कैसे हुए यह दिखा दो, तो वह उसे ठीक ठीक समझ लेगा। यहाँ धर्म के क्षेत्र में हम सब बच्चे ही हैं। हम उम्र में चाहे बूढ़े हों, संसार की सारी पुस्तकों का अध्ययन चाहे हमने कर लिया हो, पर आध्यात्मिक क्षेत्र में तो हम सब बच्चे ही हैं।

हमने सूत्रों और सिद्धान्तों का तो अध्ययन किया है, पर अपने जीवन में अनुभूति या साक्षात्कार कुछ भी नहीं किया। अब हमें स्थूल या साकार रूप में विधि, मंत्र, स्तोत्र, संस्कार और अनुष्ठानों द्वारा प्रारम्भ करना होगा। ये स्थूल विधियाँ हज़ारों हो सकती हैं। सबके लिए एक ही विधि होना आवश्यक नहीं है। किसीको मूर्ति से सहायता मिल सकती है और किसीको नहीं। किसीको वाहरी मूर्ति की आवश्यकता होती है और किसीको अपने मन में ही मूर्ति की कल्पना करने की आवश्यकता पड़ती है। मन में ही मूर्ति की कल्पना कर लेनेवाला कहता है, "मैं उच्च श्रेणी का हूँ, क्योंकि मानस-पूजा ठीक है; बाहरी मूर्ति की पूजा करना बुतपरस्ती है, निन्दनीय है; मैं उसका विरोध करूँगा।" जब मनुष्य गिरजाघर या मन्दिर के रूप में मूर्ति बनाता है, तो वह उसे पवित्र समझता है; पर यदि वह मूर्ति मनुष्य की आकृति हुई, तो उस पर वह आपत्ति करता है।

अतः, मन अपना यह स्थूल अभ्यास भिन्न भिन्न रूपों द्वारा करेगा और धीरे-धीरे हमें सूक्ष्म का ज्ञान प्राप्त होगा, सूक्ष्म का अनुभव होगा। एक ही विधि सबके लिए ठीक नहीं हो सकती। एक विधि मेरे लिए उपयुक्त हो सकती है। दूसरी, किसी और के लिए, आदि आदि । सभी मार्ग यद्यपि उसी ध्येय तक पहुँचाते हैं, तथापि वे सभी सबके योग्य नहीं होते। साधारणतः यहाँ पर हम एक ग़लती और करते हैं। मेरा आदर्श तुम्हारे लायक़ नहीं है, तो मैं उसे ज़बरदस्ती तुम्हारे गले क्यों मढ़ूँ ? गिरजाघर बनाने का मेरा नमूना या स्तोत्र पाठ करने की मेरी विधि यदि तुमको ठीक नहीं जँचती, तो मैं उस सम्बन्ध में तुम पर ज़बरदस्ती क्यों करूँ? तुम दुनिया में जाओ। हर मूर्ख यही कहेगा कि मेरी ही विधि ठीक है तथा अन्य सब विधियाँ आसुरी हैं, संसार में मेरे सिवा ईश्वर का और कृपापात्र पैदा ही नहीं हुआ! पर वस्तुतः सभी विधियाँ अच्छी और उपयोगी हैं। मानव-प्रकृति भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। अतः यह आवश्यक है कि धर्म भिन्न भिन्न प्रकार का हो। और जितने ही अधिक प्रकार के धर्म हों, उतना ही संसार के लिए अच्छा है। यदि संसार में बीस प्रकार के धर्म हैं, तो बहुत अच्छा है, और यदि चार सौ प्रकार के धर्म हो गये, तो और भी अच्छा; क्योंकि उस अवस्था में धर्म पसन्द करने का अवसर तथा क्षेत्र अधिक रहेगा। अतः हमें तो धर्म तथा धार्मिक आदर्शों की संख्या बढ़ने पर प्रसन्न ही होना चाहिए, क्योंकि ऐसा होने से प्रत्येक मनुष्य को किसी न किसी धर्म-पालन का अवसर मिलेगा तथा मानव जाति को और अधिक सहायता मिलेगी। ईश्वर करे, धर्मों की संख्या यहाँ तक बढ़े कि प्रत्येक मनुष्य को अपने लिए हर किसीके धर्म से अलग एक अपना धर्म मिल जाय। भक्तियोग की यही कल्पना है।

अन्तिम भाव यही है कि मेरा धर्म तुम्हारा नहीं हो सकता और न तुम्हारा धर्म मेरा। यद्यपि ध्येय और उद्देश्य एक ही हैं, तथापि हर एक का मार्ग अपनी अपनी मानसिक प्रवृत्ति के अनुसार अलग अलग है। और यद्यपि ये मार्ग भिन्न भिन्न हैं, तो भी सभी मार्ग ठीक होने ही चाहिए, क्योंकि वे सभी उसी स्थान को पहुँचाते हैं। इनमें से एक ही सत्य हो और बाक़ी सब ग़लत हों, यह सम्भव नहीं। अपना मार्ग पसन्द कर लेना ही भक्ति की भाषा में 'इष्ट' कहलाता है।

फिर हैं 'शब्द'। तुम सबने शब्दों की शक्ति के सम्बन्ध में सुना है। उनमें कैसी अद्भुत शक्ति होती है! धर्मग्रन्थ बाइबिल, क़ुरान और वेद इन शब्दों की शक्ति से भरे पड़े हैं। कुछ शब्दों का मानव जाति पर अद्भुत प्रभाव होता है। फिर, उपासना के दूसरे रूप भी हैं—जैसे, प्रतीक। प्रतीक मनुष्य के मन पर बड़ा प्रभाव रखते हैं। धर्म के बड़े बड़े प्रतीक ऐसे ही नहीं बना दिये गये हैं। वे विचारों को प्रकट करने की स्वाभाविक अभिव्यक्तियाँ हैं। हम प्रतीकों द्वारा ही विचार करते हैं। हमारे शब्द उनके पीछे रहनेवाले विचारों के प्रतीक मात्र हैं। भिन्न भिन्न जाति के लोग भिन्न भिन्न प्रतीकों का उपयोग बिना उसका कारण जाने ही करने लगे हैं। कारण पीछे रहते हैं और इन प्रतीकों का इन भावों और विचारों से सम्बन्ध रहता है। जिस तरह विचार इन प्रतीकों को बाहर प्रकट करते हैं, उसी प्रकार इसके विपरीत ये प्रतीक विचारों को भीतर ले जाते हैं। इसलिए भक्ति के एक अंश में इन प्रतीकों, शब्दों और प्रार्थनाओं का वर्णन है। प्रत्येक धर्म में प्रार्थनाएँ हैं। पर एक बात ध्यान में रखनी होगी कि आरोग्य या धन के लिए प्रार्थना करना भक्ति नहीं है—वह सब कर्म या स्तुत्य कार्य है। किसी भौतिक लाभ के लिए प्रार्थना करना निरा कर्म है; जसे स्वर्ग-प्राप्ति अथवा अन्य किसी कार्य के लिए प्रार्थना करना। जो ईश्वर से प्रेम करना चाहता है, भक्त होना चाहता है, उसे ऐसी प्रार्थनाएँ छोड़ देनी चाहिए। जो ज्योतिर्मय प्रदेश में प्रवेश चाहता है, उसे इस क्रय-विक्रय, इस 'दूकानदारी' के धर्म की गठरी बाँधकर अलग रख देनी होगी; तत्पश्चात् उस द्वार में प्रवेश करना होगा। ऐसी बात नहीं कि जिस वस्तु के लिए प्रार्थना करते हो, वह मिलती नहीं। तुम सब कुछ पा सकते हो। पर यह तो भिखारी का धर्म हुआ। 'वह सचमुच मूर्ख है, जो गंगा के किनारे रहकर पानी के लिए कुआँ खोदता है। जो हीरों की खान में आकर काँच के टुकड़ों की खोज करता है, वह मूर्ख नहीं तो और क्या है?'[1] यह शरीर कभी न कभी तो मरेगा

---

१. उषित्वा जाह्नवीतीरे कूपं खनति दुर्मतिः।

ही। तब इसकी आरोग्यता के लिए बार बार प्रार्थना करने से क्या लाभ? आरोग्य और धन में रखा ही क्या है? धनी से धनी मनुष्य भी अपने धन के थोड़े से ही अंश का उपभोग कर सकता है। हम संसार की सभी चीज़ें प्राप्त नहीं कर सकते। जब हम उन्हें प्राप्त नहीं कर सकते, तो क्या हमें उनकी चिन्ता में डूबे रहना चाहिए? जब यह शरीर ही नष्ट हो जायगा, तब इन वस्तुओं की चिंता कैसी? यदि अच्छी चीज़ें आयें, तो उनका स्वागत है! यदि वे जाती हैं, तो भी स्वागत है! जाने दो! जब वे आती हैं, तो भी धन्य हैं; जब जाती हैं, तो भी धन्य हैं। हम तो राजाधिराज के समक्ष पहुँचने का प्रयत्न कर रहे हैं। हम वहाँ भिखारी के वेश में नहीं पहुँच सकते। यदि हम भिखारी के वेश में बादशाह के दरबार में प्रवेश करना चाहें भी तो क्या हमें प्रवेश पा सकना चाहिए? कदापि नहीं। हमें भगा दिया जाना चाहिए। वह सम्राटों का सम्राट् है और हम उसके समक्ष भिखारियों के चिथड़ों में प्रवेश नहीं कर सकते। वहाँ दूकानदारों को प्रवेश करने की आज्ञा कभी नहीं मिलती। वहाँ क्रय-विक्रय की भी गुंजाइश नहीं है। तुमने बाइबिल में पढ़ा ही है, ईसा ने ख़रीदने और बेचनेवालों को मन्दिर से भगा दिया था। तुच्छ वस्तुओं के लिए कभी प्रार्थना न करो, यदि तुम केवल शारीरिक आराम की ही आकांक्षा करते हो, तो पशु और मनुष्य में अंतर ही क्या है? अपने को पशुओं से थोड़ा ऊँचा तो समझो।

अतः यह स्पष्ट है कि भक्त बनने में पहला काम है स्वर्ग तथा अन्य सभी विषयों के प्रति समस्त कामनाओं का त्याग। किंतु प्रश्न यह है कि इन सब कामनाओं का त्याग कैसे किया जाय? मनुष्य दुःखी क्यों है? इसलिए कि वह दास है, नियमों से जकड़ा, प्रकृति की कठपुतली और खिलौनों की भाँति इधर से उधर लुढ़का दिया जानेवाला है। जिस शरीर को कोई भी वस्तु चूर्ण कर दे सकती है, उसी शरीर की चिन्ता हम निरंतर करते रहते हैं, और इसी कारण हम निरन्तर भय की स्थिति में अपना जीवन व्यतीत करते हैं। मैंने पढ़ा है कि मृग को भयभीत होते रहने के कारण प्रतिदिन ६०-७० मील की दौड़ लगानी पड़ती है। परन्तु हमें यह जान लेना चाहिए कि हम मृग से भी गयी-बीती स्थिति में हैं। मृग को तो कुछ आराम मिलता भी है, पर हमें आराम कहाँ? यदि मृग को पर्याप्त घास मिल जाती है, तो वह सन्तुष्ट हो जाता है, पर हम तो अपनी आवश्यकताएँ सदा बढ़ाते ही रहते हैं। अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाने की हमारी प्रवृत्ति एक रुग्ण प्रवृत्ति है। हम ऐसे विक्षिप्त और अस्वाभाविक बन गये हैं कि हमें किसी भी स्वाभाविक वस्तु से सन्तोष नहीं होता। हम सदा विकृत चीज़ों के पीछे, अस्वाभाविक उत्तेजनाओं के पीछे दौड़ा करते हैं, हमें खान-पान,

वातावरण और जीवन भी अस्वाभाविक चाहिए। और जहाँ तक भय का प्रश्न है, हमारा सारा जीवन भय की पोटली मात्र है। मृग को तो केवल बाघ, भेड़िया इत्यादि का ही डर रहता है, पर मनुष्य को सारी सृष्टि से डर बना रहता है।

अब प्रश्न यह है कि इससे हम अपने को मुक्त कैसे कर सकते हैं। उपयोगितावादी कहते हैं, 'ईश्वर और परलोक की बातें मत करो। हम इनके विषय में कुछ नहीं जानते। इस संसार में ही सुख की ज़िन्दगी बिताना उचित है।' यदि हम ऐसा कर सकते, तो सबसे पहले मैं ही यह करता, पर दुनिया हमें जब ऐसा करने दे तब न ? जब तक तुम प्रकृति के दास हो, तब तक ऐसा कर ही कैसे सकते हो ? तुम जितना ही अधिक प्रयत्न करते हो, उतना ही अधिक उलझते जाते हो। न जाने कितने वर्ष अपने को सुखी बनाने की योजनाओं में व्यस्त रहते हो, पर हर वर्ष यही देखते हो कि अवस्था उत्तरोत्तर बुरी होती जा रही है। दो सौ वर्ष पहले 'पूर्वी गोलार्द्ध' में मनुष्य की आवश्यकताएँ बहुत थोड़ी थीं, पर जैसे जैसे मनुष्य का ज्ञान अंकगणितीय क्रम से बढ़ता गया, वैसे वैसे उसकी आवश्यकताएँ ज्यामितीय क्रम से बढ़ती गयीं। हम सोचते हैं कि मुक्ति में तो कम से कम हमारी सारी इच्छाएँ अवश्य पूर्ण हो जायँगी और इसलिए हम स्वर्ग जाने की इच्छा करते हैं। पर यह तृष्णा अनन्त है, यह कभी बुझनेवाली नहीं! सदा किसी न किसी वस्तु की कमी बनी ही रहती है! यदि मनुष्य भिखारी है, तो उसे धन चाहिए। यदि धन मिला, तो उसे अन्य चीज़ें चाहिए, समाज चाहिए, और उसके बाद भी कुछ और चाहिए। आराम या शान्ति कभी मिलती ही नहीं! तो, इस तृष्णा को हम कैसे बुझा सकते हैं ? यदि हम स्वर्ग को जाते हैं, तो हमारी इच्छाओं की और भी वृद्धि होती है। यदि ग़रीब आदमी धनी हो जाता है, तो उसकी वासना तृप्त नहीं होती। धन तो अग्नि में घृत छोड़ने के समान उसकी प्रदीप्त ज्वालाओं की वृद्धि ही करता है। स्वर्ग जाने का अर्थ है अत्यधिक धनवान होना, और तब वासना अधिकाधिक बढ़ती जाती है। हम संसार के विभिन्न धर्मग्रन्थों में स्वर्ग में अनेक मानवीय विषयों के संबंध में पढ़ते हैं। वहाँ सभी बातें सर्वदा अच्छी ही नहीं होतीं; आखिर यह स्वर्ग जाने की इच्छा भी तो सुख-भोग की वासना ही है। इस इच्छा का परित्याग करना चाहिए। तुम लोगों के लिए स्वर्ग जाने का विचार करना बहुत हीन और तुच्छ है। यह ठीक उसी विचार के सदृश है कि मैं करोड़पति होऊँगा और लोगों पर हुकूमत करूँगा। ऐसे स्वर्ग तो अनेक हैं, पर धर्म और प्रेम के द्वार में प्रवेश करने का अधिकार इन स्वर्गों के द्वारा तुम कभी प्राप्त नहीं कर सकते।

प्रमुख प्रतीक

'प्रतीक' और 'प्रतिमा' संस्कृत भाषा के दो शब्द हैं। 'प्रतीक' का अर्थ है 'ओर आना' या समीप पहुँचना। सभी धर्मों में उपासना की कई श्रेणियाँ हैं। उदाहरणार्थ—ईसी देश में बहुत से ऐसे लोग हैं, जो संतों की मूर्ति की पूजा करते हैं और ऐसे लोग भी हैं, जो किसी आकृतिविशेष और प्रतीकों की पूजा करते हैं। फिर ऐसे भी लोग हैं, जो मनुष्य से उच्चतर प्राणियों की पूजा करते हैं, और इनकी संख्या तीव्र गति से बढ़ रही है। वे हैं परलोकगत आत्माओं के पुजारी। मैंने पढ़ा है कि इस तरह के लोग यहाँ ८० लाख हैं। फिर और भी दूसरे लोग हैं, जो उच्च श्रेणी के व्यक्तियों—देवदूत, देवता इत्यादि—की पूजा करते हैं। इन भिन्न भिन्न श्रेणियों में से भक्तियोग किसीका तिरस्कार नहीं करता। वह इन सबको एक 'प्रतीक' नाम के अन्तर्गत रखता है। ये लोग ईश्वर की उपासना नहीं कर रहे हैं, पर प्रतीक की उपासना करते हैं, जो ईश्वर के समीप उसकी ओर ले जानेवाले सोपान हैं। पर यह प्रतीक-पूजा हमें मुक्ति और स्वातंत्र्य के पद तक नहीं पहुँचा सकती। यह तो हमें उन विशेष पदार्थों को ही दे सकती है जिनके लिए हम इनकी पूजा करते हैं। उदाहरणार्थ, यदि कोई अपने दिवंगत पूर्वजों या मित्रों की पूजा करता है, तो वह उनसे शायद कुछ शक्तियाँ या कुछ सन्देश प्राप्त कर ले। इन पूजित वस्तुओं से जो विशेष वस्तु प्राप्त होती है, वह 'विद्या' या विशेष ज्ञान कहलाती है। पर अन्तिम लक्ष्य मुक्ति तो हमें स्वयं ईश्वर की पूजा से ही प्राप्त होती है। वेदों की व्याख्या करते समय कुछ प्राच्य विद्याविशारद यह कहते हैं कि स्वयं सगुण ईश्वर भी एक प्रतीक है। सगुण ईश्वर प्रतीक भले ही मान लिया जाय, पर प्रतीक न तो सगुण ईश्वर होता है और न निर्गुण ईश्वर। प्रतीक की पूजा ईश्वर के रूप में नहीं की जा सकती। अतः यदि लोग ऐसा समझने लगें कि इन भिन्न भिन्न प्रतीकों की—देवदूतों, पूर्वजों या पवित्र पुरुषों (महात्मा, सन्त इत्यादि) की या मृतात्माओं की—पूजा द्वारा हम मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं, तो यह उनकी बड़ी भूल होगी। अधिक से अधिक इतना ही सम्भव है कि इनके द्वारा वे कुछ शक्तियाँ प्राप्त कर लें, पर मुक्त तो उन्हें केवल ईश्वर ही कर सकता है। परन्तु इस कारण इन प्रतीकों का तिरस्कार नहीं करना है; इनकी पूजा का कुछ न कुछ फल तो होता ही है। जो मनुष्य इनसे उच्च और कुछ नहीं समझता, वह इन प्रतीकों से कुछ शक्ति, कुछ सुख भले ही प्राप्त कर ले; पर दीर्घ काल के अनुभव के उपरान्त जब वह मुक्ति लाभ के लिए तैयार हो जायगा, तब वह स्वयं ही इन प्रतीकों को त्याग देगा।

इन विविध प्रतीकों में से सबसे अधिक प्रचार परलोकगत मित्रों की पूजा का है। मित्रों के लिए व्यक्तिगत प्रेम मानव-प्रकृति में इतना दृढ़ होता है कि जब उनकी मृत्यु हो जाती है, तो उनके रूपाकार से आसक्त रहकर हम पुनः एक बार उनका दर्शन करना चाहते हैं। हम उनके शरीर को छाती से लगा लेते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि जीवितावस्था में उनके रूपाकार में सदा परिवर्तन हुआ करता था। किंतु जब वे मरते हैं, हम समझते हैं कि वे स्थायी हो गये हैं और हम उन्हें उसी तरह देख सकेंगे। यही नहीं, यदि मेरा मित्र या पुत्र जो जीवन-काल में दुष्ट था, मैं उसके मर जाने पर मानने लगता हूँ कि वह बड़ा महात्मा था और वह अब मेरे लिए देवता बन गया है। भारत में ऐसे लोग हैं, जो मृत शिशु के शरीर को जलाते नहीं, वरन् गाड़ देते हैं और उस पर एक मन्दिर बना देते हैं। वह छोटा शिशु उस मन्दिर का देवता बन जाता है। अनेक देशों में धर्म का यह एक बहुप्रचलित रूप है, और ऐसे तत्त्ववेत्ताओं की भी कमी नहीं है, जो मानते हैं कि सब धर्मों का मूल यही रहा है। पर यह निश्चित है कि वे इसे सिद्ध नहीं कर सकते। तो भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रतीकों की पूजा हमें मोक्ष या मुक्ति प्रदान नहीं कर सकती।

इसके अतिरिक्त इसमें खतरा भी बहुत है। डर इस बात का है कि प्रतीक वहाँ तक तो ठीक हैं, जहाँ तक वे हमें अगले सोपान तक ले जाते हैं, पर ९९ प्रतिशत सम्भावना तो यही है कि हम सारे जीवन उन्हींसे चिपके रहे जायँगे। किसी धर्म-संघ में जन्म लेना बहुत अच्छा है, पर उसीमें मर जाना बहुत बुरा है। अधिक स्पष्ट रीति से कहा जाय तो किसी सम्प्रदाय में जन्म लेना और उसकी शिक्षा ग्रहण करना बहुत अच्छा है। उससे हमारे सद्गुणों का विकास होता है। पर अधिकांश संख्या तो ऐसों की ही होती है, जो उसी छोटे से सम्प्रदाय में रहते हुए मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। न वे उससे बाहर निकलते हैं और न उनकी उन्नति होती है। इन प्रतीकों की उपासना में बहुत बड़ा भय यही है। यह कहा जा सकता है कि ये सब मार्ग की वे सीढ़ियाँ हैं, जिन पर मनुष्य को अपने ध्येय की ओर बढ़ने में चलना पड़ता है, पर जब वह बूढ़ा हो जाता है, तो भी हम उसे उन्हींसे चिपका हुआ पाते हैं। यदि कोई युवक चर्च नहीं जाता, तो वह निन्दनीय है, पर यदि कोई व्यक्ति बुढ़ापे में भी चर्च जाना जारी रखता है, तो वह भी निन्दा का पात्र है। उसका अब बच्चों के खेल से और क्या मतलब? चर्च तो किसी उच्चतर वस्तु की प्राप्ति के लिए तैयारी मात्र था। उसे अब उपासना-विधि और प्रतीकों से तथा उसी तरह की प्रारम्भिक साधनाओं से क्या प्रयोजन?

'ग्रन्थ-पूजा' इस प्रतीक का एक शक्तिशाली बल्कि सबसे शक्तिसम्पन्न रूप है। प्रत्येक देश में हम पायेंगे कि 'ग्रन्थ' ने ईश्वर का स्थान ले रखा है। मेरे देश में कुछ

ऐसे सम्प्रदाय हैं, जिनका विश्वास है कि ईश्वर अवतार लेकर मनुष्य बनता है, पर ईश्वर को भी अवतारी पुरुष बनकर वेदों के अनुसार ही चलना चाहिए, और यदि उसके उपदेश वेदों से असंगत हैं, तो वे उनको स्वीकार नहीं करेंगे। बुद्ध की पूजा हिन्दू भी करते हैं। पर यदि तुम उनसे कहो कि जब तुम बुद्ध की पूजा करते हो, तो उनके उपदेशों को भी क्यों नहीं मानते? तो उत्तर मिलेगा कि बौद्ध वेदों को स्वीकार नहीं करते, इसलिए। 'ग्रन्थ-पूजा' का यही अर्थ है। धर्मग्रन्थ के नाम पर कितनी ही मिथ्या बातें उचित हो सकती हैं। भारत में यदि मैं किसी नयी बात की शिक्षा देना चाहूँ और उसे केवल अपनी ही समझ की प्रामाणिकता दूँ, तो मेरी कोई न सुनेगा। पर यदि मैं वेदों से कुछ ऋचाएँ निकालकर उन्हींका तोड़-मरोड़ करूँ और उनका अत्यन्त असम्भव अर्थ भी निकालूँ, उसमें जो कुछ भी युक्तिपूर्ण है, उसका गला घोंटकर स्वयं अपने विचारों को ही वेदों का तात्पर्य कहकर व्यक्त करूँ, तो सभी मूर्ख झुण्ड के झुण्ड मेरे पीछे फिरेंगे! फिर ऐसे भी मनुष्य हैं, जो ऐसे ईसाई धर्म का उपदेश करते हैं कि साधारण ईसाई उसे सुनकर घबरा उठेगा। पर वे तो यही कहते हैं कि 'ईसा मसीह का यही भाव था', और लोग उनके चारों ओर एकत्र हो जाते हैं। वे ऐसी कोई भी नयी बात सीखना नहीं चाहते, जो वेदों या बाइबिल में न हो।

यह नाड़ियों से सम्बन्ध रखनेवाली बात है। कोई भी नयी और अद्भुत बात सुनते ही तुम चौंक उठते हो, या तुम जब कोई नयी चीज़ देखते हो, तो चौंक पड़ते हो। यह मनुष्य की प्रकृति में है। विचारों के सम्बन्ध में यह और भी अधिक होता है। मन कुछ लीकों में ही दौड़ता है, नये विचारों को ग्रहण करने में अत्यधिक प्रयास करना पड़ता है, अतः नये विचारों को पुरानी लीकों के पास ही ले जाकर रखना पड़ता है, और तब हम उन्हें धीरे धीरे ग्रहण कर लेते हैं। यह नीति तो अच्छी है, पर नैतिकता बुरी है। ये सुधारक, जिन्हें हम उदारतावादी उपदेशक कहा करते हैं, कैसी ढेर की ढेर असम्बद्ध या झूठ बातों का समाज में आज-कल प्रचार कर रहे हैं, इसका विचार तो करो। ईसाई वैज्ञानिकों के मतानुसार ईसा मसीह एक महान् आरोग्यदाता थे, प्रेतविद्यावादियों के मत में वे एक बड़े माध्यम थे और थियोसॉफ़िस्टों के मत में वे महात्मा थे। ये सब भाव ग्रन्थ के एक ही वाक्य से निकाले जाते हैं। वेदों में एक वाक्य है—'केवल सत् का ही अस्तित्व था। हे सौम्य, आदि में और कुछ नहीं था।'[१] इस वाक्य के 'सत्' शब्द के अनेक अर्थ लगाये जाते हैं। परमाणुवादी कहते हैं कि 'सत्' शब्द का अर्थ 'परमाणु'

१. सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्॥ छान्दोग्योपनिषद्।६।२।१॥

है और इन्हीं परमाणुओं से सृष्टि का निर्माण हुआ। प्रकृतिवादी कहते हैं कि इस शब्द का अर्थ 'प्रकृति' है और प्रकृति से ही प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति हुई है। शून्य-वादी (नाइहिलिस्ट) कहते हैं कि इस शब्द का अर्थ है 'कुछ नहीं', 'शून्य' और शून्य से ही सब कुछ आया है। आस्तिक कहते हैं कि इस शब्द का अर्थ 'ईश्वर' है और अद्वैतवादी के मत से इसका अर्थ है पूर्ण सत्य, सत्स्वरूप ब्रह्म। इतनी विभिन्नता होते हुए भी सब कोई इसी वाक्य को अपना अपना प्रमाण बताते हैं।

'ग्रन्थ-पूजा' में ये दोष हैं, परन्तु साथ ही साथ इसमें एक गुण भी है। यह बल देता है। जिन जिन सम्प्रदायों के ग्रन्थ थे, उन्हें छोड़ बाक़ी सब सम्प्रदायों का आज लोप हो गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थवालों का नाश कोई नहीं कर सकता। तुम लोगों ने पारसियों का नाम सुना होगा। वे लोग पुराने ईरान के निवासी थे और उनकी संख्या एक समय लगभग दस करोड़ थी। अरबवासियों ने उन्हें जीता, और मुसलमान बना डाला! उनमें से मुट्ठी भर पारसी अपने ग्रन्थ को लेकर अपने सतानेवालों से भागे और उसी ग्रन्थ ने उन्हें आज तक क़ायम रखा है। ग्रंथ ईश्वर का सर्वाधिक प्रत्यक्ष रूप है। फिर यहूदियों का विचार करो। यदि उनके पास ग्रन्थ न होता, तो दुनिया में वे कब के घुल मिल गये होते, पर उनके ग्रन्थ ने ही उनकी जीवनी-शक्ति को बनाये रखा है। उनके 'तालमूद' ने ही, उन पर घोर अत्याचारों के बावजूद, उन्हें बनाये रखा है। यही ग्रन्थ का सबसे बड़ा लाभ है। यह सभी बातों को एक निश्चित रूप देकर बुद्धिग्राह्य और सहजगम्य बना देता है और अन्य सब प्रतिमाओं की अपेक्षा आसानी से उपयोग में लाया जा सकता है। ग्रन्थ को वेदी पर रख दो, सभी उसके दर्शन करते हैं। अच्छी पुस्तक को सभी लोग पढ़ते हैं। पर मुझे भय है कि मैं कहीं पक्षपाती न समझा जाऊँ। मेरे मत में तो पुस्तकों से लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक हुई है। वे अनेक हानिकारी सिद्धान्तों के लिए उत्तरदायी हैं। भिन्न भिन्न मत पुस्तकों से ही निकलते हैं और पुस्तकें ही दुनिया के धार्मिक अत्याचारों और कट्टरता के लिए ज़िम्मेदार हैं। आधुनिक काल में ये ग्रन्थ सर्वत्र झूठे लोगों को उत्पन्न कर रहे हैं। प्रत्येक देश में असत्यवादियों की जो संख्या फैली हुई है, उसे देखकर तो मैं अवाक् रह जाता हूँ।

दूसरा विचारणीय विषय है 'प्रतिमा', या मूर्तियों का उपयोग। संसार में सर्वत्र एक न एक रूप में मूर्तियाँ तुमको मिलेंगी ही। कहीं कहीं वह मूर्ति मनुष्य के आकार की होती है और यही सबसे उत्कृष्ट रूप है। यदि मैं किसी मूर्ति की पूजा करना चाहूँ, तो मैं पशु, इमारत या अन्य किसी आकृति की अपेक्षा मनुष्य की ही आकृति को अधिक पसन्द करूँगा। एक सम्प्रदाय समझता है कि अमुक रूप में ही मूर्ति ठीक होती है, तो दूसरा समझता है, नहीं वह बुरी है। ईसाई समझते हैं कि

जब ईश्वर पंडुक से रूप में आया, तब तो ठीक था; पर जब वह मत्स्य के रूप में आता है, जैसा कि हिन्दू लोग मानते हैं, तो वह बिल्कुल ग़लत और कुसंस्कारपूर्ण है। यहूदी समझते हैं कि यदि मूर्ति सन्दूक़ के आकार की हो, जिसके किनारों पर दो देवदूत बैठे हों और जिसमें एक पुस्तक हो, तब तो वह ठीक है, पर यदि वही मूर्ति पुरुष या स्त्री के आकार की हो, तो वह भयंकर है! मुसलमान समझते हैं कि नमाज़ के समय यदि मसजिद और काबा की प्रतिमा अपने मन में लाने का प्रयत्न करें और पश्चिम की ओर अपना मुँह कर लें, तो बिल्कुल दुरुस्त है, पर यदि प्रतिमा चर्च के आकार की हो, तो वह मूर्ति-पूजा है। यह है मूर्ति-पूजा का दोष। परन्तु फिर भी ये सभी आवश्यक सीढ़ियाँ प्रतीत होती हैं।

इस संबंध में सबसे अधिक महत्त्व की बात यह है कि स्वयं हमारी आस्था किसमें है। हमने स्वयं क्या अनुभव किया, यही सवाल है। ईसा, बुद्ध या मूसा ने जो किया, उससे हमें कोई मतलब नहीं, जब तक कि हम भी अपने लिए वही अनुभव न प्राप्त कर लें। यदि हम अपने को एक कमरे में बन्द कर लें, और मूसा ने जो खाया, उसका विचार करें, तो उससे हमारी क्षुधा शान्त नहीं हो सकती। इसी प्रकार मूसा के विचारों पर सोचने से हमारी मुक्ति नहीं हो सकती। इन बातों में मेरे विचार बिल्कुल मौलिक हैं। कभी कभी तो मैं यह सोचता हूँ कि मेरे विचार तभी ठीक हैं, जब वे प्राचीन आचार्यों के विचारों से सहमत हों, पर दूसरे समय मैं यह समझता हूँ कि उन लोगों के विचार तभी ठीक हैं, जब वे मुझसे सहमत होते हैं? स्वतंत्रता-पूर्वक विचार करने में मेरा विश्वास है। इन आचार्यों से बिल्कुल स्वतंत्र रहकर विचार करो। इनका सब प्रकार आदर करो, पर धर्म को स्वतंत्र अनुसंधान का विषय मानो। मुझे अपने लिए प्रकाश स्वयं ही प्राप्त करना है, जैसा कि इन्होंने अपने लिए प्राप्त किया था। इन्हें जिस प्रकाश की प्राप्ति हुई, उससे हमें सन्तोष नहीं हो सकता। तुम स्वयं बाइबिल बनो, उसका अनुसरण न करो; हाँ, केवल रास्ते के दीपक के समान, पथ-प्रदर्शक, निर्देशन-स्थल या चिह्न के समान उसका आदर करना होगा। उसकी सारी उपयोगिता इतनी ही है। पर ये मूर्तियाँ तथा अन्य वस्तुएँ हैं बहुत आवश्यक। अपने मन को एकाग्र करने के प्रयत्न में, या किसी विचार को प्रक्षिप्त करने के लिए भी तुम देखोगे कि अपने मन में मूर्ति या आकृति बनाने की आवश्यकता स्वाभाविक रीति से होती है। उसके बिना काम नहीं चल सकता। दो प्रकार के मनुष्यों को किसी मूर्ति की आवश्यकता नहीं होती—एक तो मानव-रूपधारी पशु, जो कभी धर्म का विचार ही नहीं करता, और दूसरा पूर्णत्व प्राप्त व्यक्ति, जो इन सब सीढ़ियों को पार कर चुकता है। इन दोनों छोरों के बीच, हम सबको किसी न किसी बाहरी या भीतरी आदर्श की

आवश्यकता होती है। यह आदर्श चाहे किसी स्वर्गीय मनुष्य के रूप का हो अथवा जीवित पुरुष या स्त्री के रूप का। यह व्यक्तित्व और शरीर की पूजा है तथा बिल्कुल स्वाभाविक है। हमारी प्रवृत्ति ही स्थूल रूप देने की है। यदि हम स्थूल रूप देनेवाले न होते, तो यहाँ होते ही कैसे? हम स्थूल रूपधारी आत्मा हैं और इसी कारण हम आज अपने को यहाँ इस पृथ्वी पर पाते हैं। स्थूल रूप ही हमें यहाँ लाया और वही हमें यहाँ से बाहर निकालेगा। इन्द्रिय विषयक पदार्थों की ओर आकृष्ट होने के कारण हमारा मनुष्य रूप हुआ है, और हम कहने के लिए चाहे जो भी इसके विरुद्ध कहें, हम मानवरूप व्यक्तियों की पूजा या उपासना करने के लिए विवश हैं। 'व्यक्ति की उपासना मत करो' यह कहना तो बहुत आसान है, पर साधारणतः जो मनुष्य ऐसा कहता है, वही व्यक्तित्व की अत्यधिक उपासना करनेवाला देखा जाता है। विशेष विशेष पुरुषों और स्त्रियों के प्रति उसकी अत्यधिक आसक्ति रहा करती है। उन लोगों की मृत्यु के पश्चात् भी वह आसक्ति नहीं जाती और मृत्यु के उपरान्त भी वह उनका अनुसरण करना चाहता है। यह मूर्तिपूजा है, मूर्तिपूजा का आदि कारण अथवा बीज है, और कारण का अस्तित्व रहते हुए वह किसी न किसी रूप में अवश्य प्रकट होगा। क्या किसी साधारण पुरुष या स्त्री के प्रति आसक्ति रखने की अपेक्षा ईसा या बुद्ध की मूर्ति के प्रति व्यक्तिगत आसक्ति रखना कहीं अधिक श्रेष्ठ नहीं है? पाश्चात्य लोग कहते हैं, 'ईसा की मूर्ति के सामने घुटने टेकना बुरी बात है', पर वे लोग किसी स्त्री के सामने घुटने टेककर 'तुम्हीं मेरी प्राण हो, मेरी जीवन की ज्योति हो, मेरी आँखों का प्रकाश हो, मेरी आत्मा हो,' आदि आदि कहने में दोष नहीं मानते! यह तो और भी बुरी मूर्तिपूजा है। उस स्त्री को 'मेरी आत्मा', 'मेरे प्राण' कहना भी क्या है? चार दिनों के बाद ये सब भाव काफ़ूर हो जाते हैं। यह केवल इन्द्रियों की आसक्ति है, फूलों के ढेर से ढका हुआ यह स्वार्थ का प्रेम है, या उससे भी गया-बीता कुछ और है। कवि लोग इसका सुन्दर नामकरण कर देते हैं और उस पर गुलाब-जल छिड़क देते हैं। क्या इसकी अपेक्षा बुद्ध की प्रतिमा या जिनेन्द्र की मूर्ति के सामने घुटने टेककर यह कहना कि 'तुम्हीं मेरे प्राण हो', श्रेष्ठ नहीं है? मैं तो ऐसा ही करना अधिक पसंद करूँगा।

एक प्रकार का प्रतीक और है, जिसे पाश्चात्य देशों में नहीं मानते, पर जिसकी शिक्षा हमारे ग्रन्थों में है। वह है मन को ईश्वर मानकर पूजा करना। किसी भी वस्तु को ईश्वर मान कर पूजा करना एक सीढ़ी ही है। वह परमेश्वर की ओर मानो एक क़दम बढ़ने, उसके कुछ अधिक समीप जाने के समान है। यदि कोई मनुष्य 'अरुन्धती' तारे को देखना चाहता है, तो उसे उसके समीप का एक बड़ा तारा पहले दिखाया जाता है, और जब उसकी दृष्टि उस बड़े तारे पर जम जाती है, तब

उसको उसके बाद उससे कुछ छोटा एक दूसरा तारा दिखाते हैं। ऐसा करते करते क्रमशः उसको 'अरुन्धती' तक ले जाते हैं। उसी तरह ये भिन्न भिन्न प्रतीक और प्रतिमाएँ ईश्वर तक पहुँचा देती हैं। बुद्ध और ईसा की उपासना प्रतीक पूजा है। इससे हम ईश्वर की उपासना के समीप पहुँचते हैं। पर बुद्ध की पूजा या ईसा की उपासना से मनुष्य का उद्धार नहीं हो सकता। उसे तो इसके और आगे उस ईश्वर तक जाना चाहिए, जिस ईश्वर ने बुद्ध और ईसा के रूप में अपने को प्रकट किया; क्योंकि केवल ईश्वर ही हमें मुक्ति दे सकता है। कुछ तत्त्ववेत्ता ऐसा कहते हैं कि इनको ही ईश्वर मानना चाहिए—ये प्रतीक नहीं, स्वयं भगवान् हैं, ईश्वर हैं। फिर भी हमें इनसे चिढ़ने का कोई कारण नहीं है। हम तो इन सब भिन्न भिन्न प्रतीकों को मुक्ति-मार्ग के विभिन्न सोपान मान सकते हैं। पर इन प्रतीकों की उपासना करने में यदि हम यह समझें कि हम ईश्वर की उपासना कर रहे हैं, तो यह हमारी भूल है। यदि मनुष्य ऐसा समझता है कि ईसा की उपासना करने से ही अपना उद्धार हो जायगा, तो यह उसकी निरी भूल है। यदि कोई मनुष्य किसी मूर्ति, भूतों या मृत-पुरुषों की आत्माओं की पूजा करता है और ऐसा मानता है कि उसीसे उसका उद्धार होगा, तो वह सर्वथा भ्रम में है। तुम पूजा किसी भी वस्तु की कर सकते हो—पर हाँ, उसमें ईश्वर को देखते हुए। मूर्ति को भूल जाओ और उसमें ईश्वर के दर्शन करो। तुम किसी प्रतिमा का आरोपण ईश्वर पर मत करो, बल्कि प्रतिमा में ईश्वर को व्याप्त देखो। प्रतिमा को भूल जाओ, तभी तुम सही रास्ते पर होगे, क्योंकि 'उसी ईश्वर से सभी वस्तुओं की उत्पत्ति है।' वह ईश्वर सभी वस्तुओं में है। हम एक चित्र की पूजा ईश्वर की तरह कर सकते हैं, पर ईश्वर को वह चित्र मानकर नहीं। चित्र में ईश्वर की भावना करना ठीक है, पर चित्र को ईश्वर समझना भूल है। प्रतिमा में ईश्वर तो ठीक है, उसमें कोई खतरा नहीं; ईश्वर की सच्ची पूजा यही है। किंतु प्रतिमा-ईश्वर तो केवल प्रतीक मात्र है।

भक्ति में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है 'शब्द'—नामशक्ति या नाम का प्रभाव। सारा विश्व नाम और रूप से बना है। यहाँ हम जो भी देखते हैं, वह या तो नाम और रूप का संयोग है, अथवा मानसिक कल्पना के साथ केवल नाम ही है। अतः, अन्ततोगत्वा, नाम और रूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। हम सबका यही विश्वास है कि ईश्वर के न तो नाम है, न रूप। पर ज्यों ही हम उसके विषय में सोचते हैं, त्यों ही उसे नाम और रूप दोनों दे देते हैं। चित्त एक शान्त जलाशय के समान है और विचार उस चित्त पर तरंग के सदृश है। नाम और रूप इन तरंगों के उठने के सामान्य तरीक़े हैं। नाम और रूप के बिना कोई तरंग उठ नहीं सकती। एक-रूप या एकरस का चिन्तन नहीं किया जा सकता। वह चिन्तन के परे है। ज्यों ही

वह विचार और विचार्य वस्तु बन जाता है, उसका नाम और रूप होना अनिवार्य होता है। हम इनको अलग नहीं कर सकते। कई पुस्तकों में लिखा है कि ईश्वर ने शब्द से इस सृष्टि की रचना की है। संस्कृत के 'शब्द-ब्रह्म' में वही भाव है, जो 'शब्द' के सम्बन्ध में ईसाई मत का सिद्धान्त है। इस पुरातन भारतीय सिद्धान्त को भारतीय उपदेशक सिकन्दरिया ले गये और वहाँ इस सिद्धान्त की जड़ जमायी। इस तरह वहाँ 'शब्द' की और उसके साथ 'अवतार' की कल्पना प्रतिष्ठित हुई।

इस भावना में कि ईश्वर ने समस्त वस्तुओं की रचना शब्द से की, गूढ़ अर्थ है। स्वयं ईश्वर निराकार है, अतः रूपों के प्रक्षेपण अर्थात् सृष्टि के विस्तार के वर्णन की यह सुन्दर शैली है। 'रचना' या 'प्रक्षेपण' के लिए संस्कृत शब्द है 'सृष्टि', जिसका अर्थ है विस्तार। "ईश्वर ने 'कुछ नहीं' या 'शून्य' से सब चीज़ों को बनाया"—यह उक्ति कितनी निरर्थक है! विश्व का प्रक्षेपण ईश्वर से हुआ है। ईश्वर ही विश्व बन जाता है और उसीमें यह संसार पुनः वापस समा जाता है और फिर से वहीं से बाहर निकलता है और पुनः उसीमें विलीन हो जाता है। सदैव यही क्रम चला करेगा। हम देखते हैं कि मन में किसी वस्तु का विचार (या प्रक्षेपण) नाम और रूप के बिना नहीं हो सकता। कल्पना करो कि तुम्हारा मन बिल्कुल शान्त है, उसमें कोई विचार या भावना नहीं है; तथापि कोई विचार मन में उठते ही तुरन्त नाम और रूप धारण कर लेगा। प्रत्येक विचार का कोई न कोई नाम और एक न एक रूप हुआ ही करता है। इस तरह सृष्टि या विस्तार वस्तु ही ऐसी है कि उसका नाम और रूप से नित्य सम्बन्ध है। इससे हम देखते हैं कि मनुष्य जो भी विचार करता है या कर सकता है, उसका कोई न कोई शाब्दिक प्रतिरूप होना चाहिए। अतएव, जैसे तुम्हारा शरीर तुम्हारे मानसिक विचार का परिणाम या विकास है—मानो तुम्हारा विचार ही स्थूल रूप धारण करके बाहर आ गया है—ठीक उसी तरह इस संसार को भी मन से उत्पन्न हुआ या मन का ही विकास मानना बिल्कुल स्वाभाविक है। और अगर यह सत्य है कि संसार एक ही योजना के अनुसार बनाया गया है, यदि तुम एक परमाणु की रचना कैसे हुई है यह जान लो, तो सारे विश्व की रचना कैसे हुई, यह भी समझ सकोगे। यदि यह सत्य है कि स्वयं तुम्हारे शरीर में बाहरी शरीर से स्थूल रूप बना है और विचार से उसके भीतर का सूक्ष्मतर अंश, तथा दोनों का शाश्वत अटूट अविच्छेद्य सम्बन्ध है, तो जिस समय तुम्हारे शरीर का अन्त हो जायगा, उस समय तुम्हारे मन का भी अन्त हो जायगा। जब किसी मनुष्य के दिमाग़ में गड़बड़ी हो जाती है, तो उसके विचारों में भी गड़बड़ी मच जाती है, क्योंकि दोनों यथार्थ में एक ही हैं—एक स्थूल है और दूसरा

सूक्ष्म। जड़-पदार्थ और मन दो भिन्न वस्तुएँ हैं ही नहीं। जैसे वायु के दीर्घ विस्तार में, एक वायु-तत्त्व के ही विभिन्न सघन और विरल स्तर पाये जाते हैं, वैसे ही शरीर के साथ है; परत के बाद परत, आर-पार एक ही तत्त्व है : स्थूल से सूक्ष्म की ओर। पुनश्च, यह शरीर अँगुली के नखों के समान है। जैसे हम अपने नखों को काटते हैं और पुनः वे नख बढ़ जाते हैं, उसी तरह हमारे सूक्ष्म विचारों से ही एक के बाद दूसरा शरीर उत्पन्न हुआ करता है। जो वस्तु जितनी अधिक सूक्ष्म होती है, वह उतनी ही अधिक स्थायी होती है। यह हम सदा देखते हैं। इसी प्रकार वह जितनी ही स्थूलतर होती है, उतनी ही कम स्थायी होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उसी एक अभिव्यक्त करनेवाली शक्ति, 'भाव' या 'विचार' की स्थूल अवस्था 'रूप' है और नाम उसकी सूक्ष्म अवस्था है। पर ये तीनों एक हैं। यह 'एकत्व' (unity) भी है और 'त्रित्व' (trinity) भी। ये उसी एक वस्तु के अस्तित्व की तीन अवस्थाएँ हैं। सूक्ष्मतर, घनीभूत, और अत्यन्त घनीभूत। जहाँ एक रहता है, वहीं शेष दोनों भी होते हैं। जहाँ नाम है, वहाँ रूप और भाव भी हैं।

यदि सृष्टि और शरीर एक ही नियम पर बने हैं, तो यह स्वभावतः सिद्ध होता है कि सृष्टि में भी ये तीनों अवस्थाएँ या भेद—रूप, नाम, और भाव—होने चाहिए। 'भाव' तो सृष्टि का सूक्ष्मतम अंश है, यथार्थ प्रेरक-शक्ति है, और वही 'ईश्वर' कहाता है। हमारे शरीर की पार्श्वभूमि में जो 'भाव' है, वह 'आत्मा' कहाता है और सृष्टि की पार्श्वभूमि में जो 'भाव' है, वह 'ईश्वर'। तदुपरान्त आता है 'नाम'। और सबसे अन्त में 'रूप', जिसे हम देखते और स्पर्श करते हैं। उदाहरणार्थ, तुम एक अमुक मनुष्य हो, इस विश्व में एक लघु विश्व हो, एक विशिष्ट आकारवान शरीर हो और उसके पीछे एक विशिष्ट नाम हो, जैसे श्रीमान् 'क' या श्रीमती 'ग', और उसके भी पीछे एक 'विचार' या 'भाव' हो। उसी तरह यह समस्त विश्व-सृष्टि है, उसके पीछे 'नाम' है, जिसे सभी धर्मों में शब्द कहा गया है, और उसके पीछे ईश्वर है। सर्वव्यापी भाव या विचार जो सांख्य मतानुसार 'महत्' है, सर्वव्यापी चित्-शक्ति अथवा ज्ञान कहलाता है। वह नाम क्या है? वह कौन सा नाम है? उसका कोई नाम तो होना ही चाहिए। सारा संसार समरस है। आधुनिक विज्ञान तो यह निश्चयपूर्वक सिद्ध करता है कि प्रत्येक परमाणु उसी तत्त्व से बना है, जिससे कि समग्र विश्व। यदि हम मिट्टी के एक ढेले को जान लें, तो सम्पूर्ण विश्व या ब्रह्माण्ड को जान लेंगे। मनुष्य इस ब्रह्माण्ड का सर्वोत्तम प्रतिनिधिरूप, ब्रह्माण्ड का एक लघुस्वरूप, पिंड है। मनुष्य में हम देखते हैं कि रूप है, उसके पीछे नाम है और उसके भी पीछे भाव या विचार करने-

वाला अस्तित्व है। अतः ब्रह्माण्ड भी ठीक इसी ढाँचे पर होना चाहिए। प्रश्न अब यह है कि वह कौन सा नाम है? हिन्दू मत के अनुसार वह नाम 'ॐ' है। प्राचीन मिस्रवासी भी यही मानते थे। 'जिसे प्राप्त करने के लिए मनुष्य ब्रह्मचर्य की साधना करता है, वह क्या है यह मैं तुमसे संक्षेप में कहूँगा —वह है 'ॐ'।[1] 'यह ॐ ही ब्रह्म है, यह पुराण पुरुष है और जो इस 'ॐ' के रहस्य को जान लेता है, वह मनोवांछित फल प्राप्त करता है।'[2]

यह 'ॐ' ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड या ईश्वर का नाम है। बाह्य सृष्टि और ईश्वर के मध्य स्थित यह दोनों का सूचक है। पर हम विश्व को खण्ड खण्ड रूप से भी ले सकते हैं, जिस तरह कि भिन्न भिन्न इन्द्रियाँ उसका अनुभव करती हैं, अर्थात् हम स्पर्श, रूप, रस और अन्य रीतियों से भी विश्व का विचार कर सकते हैं। प्रत्येक दशा में हम इस जगत् को भिन्न भिन्न दृष्टि से लाखों जगतों में विभक्त कर सकते हैं और उनमें से प्रत्येक अपने में सम्पूर्ण होगा, प्रत्येक का एक नाम होगा, एक रूप होगा तथा उसके पीछे एक 'भाव' रहेगा। हर एक के पीछे रहनेवाले ये ही भाव भिन्न भिन्न प्रतीक हैं। इनमें से प्रत्येक का एक एक नाम है। पवित्र प्रतीकों के नामों या शब्दों का व्यवहार भक्तियोग में होता है। इन नामों में अपरिमित शक्ति रहती है। इनके जपने से ही हमें मनोवांछित फल की प्राप्ति हो सकती है, हम पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। पर दो बातों की आवश्यकता है। कठोपनिषद् कहता है—आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा (अलौकिक गुरु और वैसा ही शिष्य हो)। यह नाम ऐसे व्यक्ति से मिलना चाहिए, जिसने यथार्थ उत्तराधिकार अर्थात् परम्परा से उसे प्राप्त किया हो। आध्यात्मिक शक्ति का स्रोत अत्यन्त पुरातन काल से गुरु-शिष्य-परम्परा के रूप में प्रवाहित होता आया है। जिससे इस शब्द की प्राप्ति होती है, वह 'गुरु' और जिसको यह शब्द दिया जाता है, वह 'शिष्य' कहलाता है। नियमानुसार शब्द (मंत्र) को ग्रहण कर जब उसका जप किया जाता है, भक्तियोग में बहुत प्रगति हो चुकती है। उस नाम के जप से ही भक्ति की उच्चतम अवस्था भी प्राप्त हो जायगी। 'तेरे अनन्त नाम हैं। उनके क्या अर्थ हैं सो तू ही समझता है; ये सब नाम तेरे ही हैं और प्रत्येक में तेरी अनन्त शक्ति है। इन नामों के जप के लिए न कोई विशेष काल चाहिए, न कोई विशेष स्थान। सभी काल और सभी

---

१. यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति।
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

२. एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥ कठोपनिषद्॥१।२।१५-१६॥

स्थान पवित्र हैं। तू इतना सुलभ है, तू इतना दयालु है! मैं कितना अभागा हूँ कि तेरे प्रति मुझमें प्रेम नहीं है![1]

इष्ट

इष्ट की परिकल्पना के सम्बन्ध में मैं संक्षेप में कुछ पहले बतला चुका हूँ। उसे तुम लोग ध्यान देकर सुनो, क्योंकि उसे ठीक ठीक समझ लेने पर हम दुनिया के सभी धर्मों को समझ सकेंगे। 'इष्ट' शब्द 'इष्' धातु से बना है। 'इष्' का अर्थ है इच्छा करना, पसन्द करना, चुनना। सभी धर्मों, सभी सम्प्रदायों का आदर्श तथा मानव जाति का आदर्श एक ही है; और वह है मुक्ति-लाभ तथा दुःखों की निवृत्ति। जहाँ कहीं धर्म देखोगे, वहाँ यही पाओगे कि यही आदर्श किसी न किसी रूप में कार्य कर रहा है। यद्यपि धर्म की निचली श्रेणियों में यह आदर्श उतने स्पष्ट रूप से प्रकाशित नहीं होता, पर स्पष्ट हो अथवा अस्पष्ट, यही एक ध्येय है, जिसकी ओर हम सब अग्रसर हो रहे हैं। हम दुःखों से, प्रतिदिन के दुःख-कष्टों से छूटना चाहते हैं और मुक्ति पाने के लिए—भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक मुक्ति-लाभ के लिए छटपटा रहे हैं। संसार-चक्र इसी भावना को लेकर प्रवर्तित हो रहा है। उद्देश्य एक ही होते हुए भी, वहाँ तक पहुँचने के मार्ग भिन्न भिन्न हो सकते हैं। ये मार्ग हमारी प्रकृति की विशेषताओं के अनुसार निर्धारित होते हैं। एक मनुष्य की प्रकृति भावुक होती है, दूसरे की बौद्धिक तथा तीसरे की प्रकृति में कर्मशीलता होती है, इत्यादि इत्यादि। पुनः एक ही प्रकृति में अनेक प्रभेद हो सकते हैं। उदाहरणार्थ 'प्रेम' को लो, जिसका भक्ति के साथ विशेष सम्बन्ध है। एक मनुष्य की प्रकृति में बच्चे के लिए अधिक प्रेम हो सकता है, दूसरे की प्रकृति में पत्नी के लिए, किसीमें माता, किसीमें पिता तथा किसीमें मित्रों के लिए। इसी प्रकार, किसीमें अपने देश के लिए प्रेम रहता है और कुछ इने-गिने लोगों का प्रेम विशाल मानवता के प्रति हुआ करता है। पर ऐसे लोगों की संख्या बहुत ही कम होती है, यद्यपि हर व्यक्ति इस प्रेम के विषय में बात इस तरह करता है, मानो वही उसके जीवन का मार्गदर्शक और प्रेरक हो। इस प्रकार के प्रेम का अनुभव कुछ सन्तों ने ही किया है। इस बृहत् मानव समाज में कुछ महान् आत्माओं को ही इस विश्व-प्रेम

---

१. नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्तिः
तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः॥ शिक्षाष्टक॥ २॥

का अनुभव हुआ करता है और हम आशा करते हैं कि यह संसार ऐसे महात्माओं से कभी शून्य न होगा।

हम देखते हैं कि एक ही विषय में साध्य की प्राप्ति के इतने भिन्न भिन्न मार्ग हैं। सभी ईसाई ईसा में विश्वास करते हैं, पर सोचो तो सही, उनके बारे में कितने भिन्न भिन्न विचार इन लोगों के होते हैं। हर एक चर्च या ईसाई-सम्प्रदाय ईसा को भिन्न भिन्न रूप में देखता है, भिन्न भिन्न दृष्टिकोण से देखता है। 'प्रेसविटेरियन' की आँखों में ईसा के जीवन का वह दृश्य महत्त्व का जँचता है, जब वे सिक्का बदलनेवालों के पास गये! उनकी आँखों में ईसा योद्धा ही जँचते हैं। पर यदि तुम 'क्वेकर' से पूछो, तो वह शायद यही कहेगा कि 'उन्होंने अपने शत्रुओं को क्षमा प्रदान की।' क्वेकर का यही मत है। इसी तरह और भी हैं। यदि रोमन कैथोलिक से पूछो कि तुम्हें ईसा की जीवनी का कौन सा अंश विशेष प्रिय है, तो वह शायद यही कहेगा, 'जब उन्होंने कुंजियाँ पीटर को दे दीं।' इस प्रकार प्रत्येक सम्प्रदाय उन्हें अपने ही तरीक़े से देखने के लिए बाध्य है।

इससे यह सिद्ध होता है कि एक ही विषय में बहुत से भेद-प्रभेद होंगे। अज्ञानी लोग इनमें से किसी एक प्रभेद को ले लेते हैं और उसीको अपना आधार बना लेते हैं, और विश्व की व्याख्या अपनी दृष्टि के अनुसार करके दूसरे के अधिकार का केवल निषेध ही नहीं करते, वरन् यह कहने तक का साहस करते हैं कि दूसरों का मार्ग बिल्कुल ग़लत है तथा केवल उन्हींका सत्य है। यदि उनका विरोध किया जाता है, तो वे लड़ने लगते हैं। मुसलमानों की तरह वे कहते हैं कि जिस मनुष्य का धार्मिक विश्वास उन्हींकी तरह का नहीं है, उसे वे क़त्ल कर डालेंगे; जैसे कि कुछ धर्मान्धों ने अतीत में किया है और भिन्न भिन्न देशों में आज भी कर रहे हैं। ये लोग अपने को ही सच्चा मानते हैं और शेष दूसरों को कुछ नहीं समझते। पर इस भक्तियोग में हम किस भाव या भूमिका का आश्रय लेना चाहते हैं? दूसरों से केवल इतना कहने से ही काम न बनेगा कि तुम्हारा मार्ग ग़लत नहीं है, बल्कि हमें उनसे यह कहना होगा कि तुम जिस मार्ग का अनुसरण कर रहे हो, वह ठीक है। तुम्हारी प्रकृति के अनुसार जो मार्ग तुम्हारे लिए अनिवार्य हो, वही तुम्हारे लिए यथार्थ मार्ग है। हर मनुष्य अपने पूर्वास्तित्व के कारण अपनी प्रकृति में विशेषता लेकर पैदा होता है। चाहे हम उसे अपने पूर्व जन्म के कर्मों का फल कहें अथवा पूर्वजों से प्राप्त संस्कार। हम उसकी व्याख्या चाहे जैसी करें, पर हम हैं तो अतीत के ही परिणाम। यदि कुछ भी सत्य है, तो इतनी बात तो बिल्कुल सत्य है, चाहे वह अतीत हमारे पास किसी भी मार्ग से आया हो। इसका स्वाभाविक निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक व्यक्ति की वर्तमान दशा, अपने भूतकालीन कारण का ही कार्य

है। इस कारण हममें से प्रत्येक की एक विशेष गति, एक विशेष प्रवृत्ति होती है और इसीलिए प्रत्येक को अपना मार्ग स्वयं निर्धारित करना पड़ता है।

यह मार्ग, यह पद्धति, जो हमारी प्रवृत्ति के अनुकूल है, हमारा 'इष्ट मार्ग' कहलाता है। यही 'इष्ट' का तत्त्व है, और जो मार्ग हमारा है, उसे हम अपना इष्ट कहते हैं। उदाहरणार्थ, किसी मनुष्य की ईश्वर के प्रति यह धारणा है कि वह विश्व का सर्वशक्तिमान शासक है। सम्भवतः उस मनुष्य की प्रकृति इसी प्रकार की है, अतः वह एक अहंकारी मनुष्य है और सब पर शासन करना चाहता है। अतः वह स्वभावतः ईश्वर को सर्वशक्तिसम्पन्न शासक मानता है। दूसरा मनुष्य, जो शायद स्कूलमास्टर है और कठोर स्वभाव का है, ईश्वर को न्यायी या दण्ड देनेवाला मानता है। वह अन्य भावना नहीं कर सकता। इस प्रकार हर एक व्यक्ति अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार ईश्वर का एक एक रूप मानता है। अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार निर्माण किया हुआ यह रूप ही हमारा इष्ट होता है, और हम अपने को ऐसी अवस्था में ले आये हैं, जहाँ हम ईश्वर का केवल वही रूप देखते हैं; हम उसका अन्य कोई रूप देख ही नहीं पाते। तुम कभी शायद किसी मनुष्य को उपदेश देते हुए सुनकर यह सोचो कि यही उपदेश सर्वश्रेष्ठ है और तुम्हारे बिल्कुल अनुकूल है। दूसरे दिन तुम अपने एक मित्र के पास जाकर उसका उपदेश सुन आने को कहते हो। और वह यह विचार लेकर लौटता है कि आज तक उसने जितने उपदेश सुने, उनमें वह सबसे निकृष्ट है। उसका ऐसा कहना ग़लत नहीं है और उसके साथ झगड़ा करना निरर्थक है। उपदेश तो ठीक था, पर उस मनुष्य के उपयुक्त नहीं था। और भी व्यापक रूप से कहा जा सकता है कि विविध दृष्टि-बिंदुओं से देखने पर सत्य सत्य भी हो सकता है, और साथ ही सत्य नहीं भी।

प्रारम्भ में यह विरोधाभासी जान पड़ेगा, पर याद रहे कि निरपेक्ष सत्य एक ही है, सापेक्ष सत्य अवश्य अनेक हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, इस विश्व के सम्बन्ध में ही अपनी भावना को लो। यह विश्व एक निरपेक्ष अखण्ड वस्तु है, जिसमें परिवर्तन नहीं हो सकता और न हुआ है। वह सदा एकरस ही है। पर तुम, हम और हर कोई इस विश्व को अलग अलग देखता और सुनता है। सूर्य को ही लो। सूर्य एक है, पर जब तुम और हम और सौ अन्य मनुष्य भिन्न भिन्न स्थानों में खड़े होकर सूर्य की ओर देखते हैं, तो हममें से प्रत्येक व्यक्ति सूर्य को अलग अलग देखता है। स्थान का थोड़ा सा ही अन्तर सूर्य के दृश्य को मनुष्य के लिए भिन्न बना देता है। वातावरण में थोड़ा सा हेर-फेर हो जाय, तो दृश्य में और भी भिन्नता आ जायगी। इसी तरह सापेक्ष अनुभवों में सत्य सदा अनेक दिखायी देता है। पर निरपेक्ष सत्य तो एक ही है। अतः यदि दूसरों के द्वारा धर्म का वर्णन हमारी धर्म

की भावना से मेल न खाता हो, तो हमें उनसे लड़ने की कोई आवश्यकता नहीं। हमें स्मरण रखना चाहिए कि परस्पर विपरीत दीखते हुए भी हमारे और उनके, दोनों के विचार सत्य हो सकते हैं। ऐसे करोड़ों अर्धव्यास (radii) हो सकते हैं, जो उसी सूर्य में केन्द्रित हो विलीन हो जाते हैं। दो अर्धव्यास केन्द्र से जितनी दूरी पर होंगे, उन दोनों में उतना ही अधिक अन्तर होगा, परन्तु जब वे केन्द्र में जाकर एक साथ मिलेंगे, तब सारा भेद दूर हो जायगा। ऐसा ही एक केन्द्र है, जो मनुष्य मात्र का परम ध्येय है। वह है ईश्वर। हम सब अर्धव्यास हैं। हमारी प्राकृतिक मर्यादाएँ, जिनमें से होकर ही हम ईश्वर के स्वरूप को ग्रहण कर सकते हैं, इन अर्धव्यासों के बीच के अन्तर हैं। जब तक हम इस भूमिका पर खड़े हैं, तब तक हममें से प्रत्येक को उस परम तत्त्व के भिन्न भिन्न दृश्य दिखायी पड़ना अनिवार्य है। अतः ये सभी दृश्य सत्य हैं और हमें आपस में झगड़ा करने की आवश्यकता नहीं है। हमारे मतभेदों को सुलझाने के लिए उस केन्द्र के निकट पहुँचना ही एकमात्र उपाय है। बहस या लड़ाई द्वारा यदि हम अपने मतभेदों को दूर करना चाहें, तो सैकड़ों वर्ष तक प्रयत्न करने पर भी हम किसी निर्णय पर न पहुँचेंगे। इतिहास इस बात का साक्षी है। सुलझने का एक ही मार्ग है और वह है आगे बढ़ना तथा केन्द्र की ओर जाना। और जितनी जल्दी हम ऐसा करेंगे, उतनी ही जल्दी हमारे मतभेद दूर हो जायँगे।

अतः 'इष्ट' के इस सिद्धान्त का अर्थ है, हर किसीको अपना धर्म स्वयं चुन लेने की स्वतंत्रता देना। जिसकी उपासना कोई करता हो, किसी दूसरे को उसी की उपासना करने के लिए विवश नहीं करना चाहिए। सभी मनुष्यों को एक ही झुण्ड में शामिल करने की चेष्टा सभी को भेड़िया-धसान हाँककर एक ही कोठरी में बन्द करने का प्रयत्न, फ़ौजी बल, ज़बरदस्ती या बहस द्वारा हर एक से उसी एक देवता की पूजा कराने के प्रयत्न भूतकाल में निष्फल हुए हैं और भविष्य में भी निष्फल होंगे, क्योंकि प्रकृतियों की विभिन्नता के कारण ऐसा हो सकना या ऐसा कर सकना असम्भव है। यही नहीं, वरन् इससे मनुष्य की प्रगति के अवरुद्ध हो जाने की सम्भावना है। शायद बिरला ही पुरुष या स्त्री ऐसी हो, जो किसी न किसी धर्म के पालन की चेष्टा में न लगी हो, पर सन्तोष कितनों को मिला है? सन्तोष या कुछ पानेवालों की संख्या कितनी अल्प है! कितने कम लोगों को कुछ मिल पाता है। और ऐसा क्यों होता है? इसीलिए कि उनमें से बहुतेरे असम्भव कार्यों में हाथ डाल देते हैं। वे इन मार्गों में दूसरों के आदेश से ज़बरदस्ती डाल दिये गये हैं। उदाहरणार्थ, मेरे बचपन में ही मेरे पिता मेरे हाथ में एक छोटी सी पुस्तक दे देते हैं और कहते हैं, ईश्वर इस प्रकार का है

और ऐसा ऐसा है। मेरे मन में इन बातों को भर देने का उनका क्या प्रयोजन? मेरा विकास किस तरह होगा, यह उन्हें क्या मालूम? मेरी प्रकृति का विकास कहाँ तक हुआ है, यह उन्हें विदित नहीं है, फिर भी वे अपने विचारों को मेरे दिमाग़ में घुसाना चाहते हैं। फल यह होता है कि मेरे मन का विकास रुक जाता है। तुम किसी पौधे को ऐसी ज़मीन में नहीं उगा सकते, जो उसके उपयुक्त न हो। बालक अपने आप ही सीख लेता है। तुम तो उसे उसके ही मार्ग में आगे बढ़ने के लिए सहायता मात्र दे सकते हो। तुम उसके लिए जो कर सकते हो, वह कोई विधेयात्मक नहीं, वरन् निषेधात्मक यानी विघ्न-निवारण रूप हो सकता है। तुम उसके मार्ग की कठिनाइयों को दूर कर सकते हो, पर ज्ञान तो उसके अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होता है। ज़मीन को कुछ पोली कर दो, जिससे अंकुर आसानी से फूट सके। उसके चारों ओर एक घेरा बना दो, सावधानी रखो कि कोई उसे नष्ट न कर डाले, पाला या बर्फ़ से उसका नाश न हो जाय। बस यहीं तुम्हारे कर्तव्य की इतिश्री हो जाती है। इससे अधिक और कुछ तुम नहीं कर सकते। शेष सब तो उसकी प्रकृति के भीतर से ही अभिव्यक्त होता है। यही बात बालक की शिक्षा के सम्बन्ध में भी है। बालक अपने को स्वयं ही शिक्षा देता है। तुम मेरी बातें सुनने आये हो। घर जाकर, तुमने जो यहाँ सीखा है तथा यहाँ आने के पूर्व तुम्हारे मन में जो था, उन दोनों का मिलान करो। तब तुमको पता लगेगा कि यही बात तो तुमने भी सोची थी; मैंने तो केवल उस बात को प्रकट मात्र किया है। मैं तुमको किसी बात की शिक्षा नहीं दे सकता। शिक्षा तो तुम स्वयं ही अपने को दोगे। मैं तो शायद तुमको अपने उस विचार के प्रकट करने में सहायता ही दे सकूँ।

उसी प्रकार, और उससे भी अधिक, धर्म-शिक्षा में मुझे अपना गुरु स्वयं ही बनना होगा। मेरे सिर में तरह तरह की निरर्थक बातें भर देने का मेरे पिता को क्या अधिकार है? मेरे सिर में ऐसी बातों को भर देने का मेरे मालिक या समाज को क्या अधिकार है? सम्भव है ये विचार अच्छे हों, पर मेरा मार्ग उनसे भिन्न हो सकता है। करोड़ों निर्बोध बालकों को शिक्षा के ग़लत तरीक़ों से विकृत किया जा रहा है। इससे होनेवाले भयंकर अनिष्ट पर विचार करो। कितनी ही ऐसी सुन्दर चीज़ें जो आगे चलकर सुन्दर आध्यात्मिक सत्यों के पुष्पों के रूप में प्रस्फुटित होतीं, उन्हें हमने वंशपरम्परागत धर्म, सामाजिक धर्म, राष्ट्रीय धर्म इत्यादि की भयंकर भावनाओं द्वारा कलिका-रूप में ही कुचल डाला है! सोचो तो सही, अभी भी तुम्हारे दिमाग़ में अपने बाल्य काल के धर्म या अपने देश के धर्म के सम्बन्ध में कैसे कैसे अन्धविश्वास भरे पड़े हैं, और उनसे कितना अनिष्ट हो रहा है एवं

हो सकता है। मनुष्य यह नहीं जानता कि उससे कितना अनिष्ट हो सकता है। प्रत्येक विचार या कार्य के पीछे कितनी प्रबल प्रसुप्त शक्ति है, उसे वह नहीं जानता। 'जहाँ देवताओं को क़दम रखने में डर लगता है, वहाँ मूर्ख लोग दौड़ पड़ते हैं'—यह उक्ति बहुत सच है। इस बात पर प्रारम्भ से ही ध्यान रखना चाहिए। और वह किस तरह? इष्ट में विश्वास के द्वारा। आदर्श बहुत से हैं। मुझे कोई अधिकार नहीं कि मैं तुमको बताऊँ कि तुम्हारा आदर्श क्या होना चाहिए, या कि तुम्हारे गले जबरदस्ती कोई आदर्श मढ़ दूँ। मेरा तो यह कर्तव्य होगा कि तुम्हारे सम्मुख मैं इन विभिन्न आदर्शों को रख दूँ, और तुमको अपनी प्रकृति के अनुसार जो आदर्श सबसे अधिक अनुकूल जँचे, उसे ही तुम ग्रहण करो और उसी ओर अनवरत प्रयत्न करो। वही तुम्हारा 'इष्ट' है, वही तुम्हारा विशेष आदर्श है।

इस तरह हम देखते हैं कि एक सामूहिक धर्म कभी नहीं हो सकता। धर्म का यथार्थ कार्य तो स्वयं अपने ही सोचने का विषय है। मेरी अपनी एक भावना है। मुझे उसको पवित्र और गुप्त रखना चाहिए, क्योंकि मैं जानता हूँ कि वही भावना तुम्हारी भी हो, यह आवश्यक नहीं है। दूसरी बात यह कि हर किसीको मैं अपनी भावना के सम्बन्ध में बताकर क्षोभ क्यों फैलाऊँ? दूसरे लोग आकर मुझसे लड़ेंगे। यदि मैं उन्हें अपने विचार न बताऊँ, तो वे मुझसे नहीं लड़ सकते। पर यदि मैं अपने विचार उन्हें बतलाता फिरूँगा, तो वे अवश्य मेरा विरोध करेंगे। अतः उनके विषय में चर्चा करते फिरने से क्या लाभ? इस 'इष्ट' को गुप्त ही रखना चाहिए, क्योंकि यह तो तुम्हारे और ईश्वर के बीच की बात है। धर्म के सिद्धान्त सम्बन्धी अंशों का उपदेश साधारणतः जनता में दिया जा सकता है और सामुदायिक भी बनाया जा सकता है, पर उच्चतर धर्म सार्वजनिक रीति से प्रकट नहीं किया जा सकता। क्षण भर में ही मैं अपनी धार्मिक भावना तैयार नहीं कर सकता। इस पाखण्ड और नक़ल का भला क्या परिणाम होगा। यह तो धर्म की हँसी उड़ाना है, घोर अधर्म है। फल वही होता है, जो तुम आजकल के गिरजाघरों में देखते हो। इस धार्मिक क़वायद को मनुष्य सहन कैसे कर पाता है। यह तो फ़ौजी छावनी के सिपाहियों का सा कार्य हुआ—हाथ उठाओ, घुटने टेको, किताब लो, सब कुछ यथायथ नियमित हो। पाँच मिनट भक्ति, पाँच मिनट ज्ञान-चर्चा, पाँच मिनट प्रार्थना—सब कुछ पूर्व निश्चित क्रम से हो। इस पाखंड ने असली धर्म को दूर भगा दिया है। चर्चों में सिद्धान्त, तत्त्वज्ञान इत्यादि का उपदेश इच्छा भर हो, पर पूजा के विषय में, धर्म के यथार्थ व्यावहारिक अंश के विषय में वैसा ही करना चाहिए, जैसा ईसा ने कहा है, 'जब तुम

प्रार्थना करो, तब अपने कमरे के अन्दर चले जाओ और जब दरवाज़ा बन्द कर लो, तब अपने पिता से प्रार्थना करो, जो गुप्त है।'

यही 'इष्ट' का सिद्धान्त है। भिन्न भिन्न प्रकृतियों की आवश्यकता के अनुसार धर्म को व्यावहारिक बनाने का, दूसरों के साथ के झगड़े के अवसरों को टालने का और धार्मिक जीवन में यथार्थ व्यावहारिक प्रगति करने का यही एक मार्ग है। पर मैं तुमको एक बात की चेतावनी देता हूँ कि मेरी बातों के अर्थ का अनर्थ करके तुम कहीं गुप्त सभाएँ न स्थापित कर लो। यदि शैतान हो, तो मैं उसकी तलाश किसी गुप्त सभा के कमरे में ही करूँगा। शैतान इन गुप्त सभाओं का विशेष आविष्कार है। गुप्त सभाएँ स्थापित करना शैतान की कारंवाई है। यह 'इष्ट' पवित्र है, गुप्त नहीं। किस अर्थ में ? तुमको अपने 'इष्ट' के विषय में दूसरों से क्यों नहीं कहना चाहिए ? इसलिए कि वह तुम्हारी निजी पवित्र वस्तु है। उससे दूसरों को सहायता शायद मिल जाय, पर यह तुमको कैसे मालूम कि सहायता के बदले कहीं आघात न मिले ? सम्भव है, कोई मनुष्य ऐसी प्रकृति का हो कि वह साकार ईश्वर की पूजा या उपासना नहीं कर सकता, केवल निराकार ईश्वर—अपनी उच्चतम आत्मा—की ही उपासना कर सकता है। मान लो कि मैं उसे तुम लोगों के बीच ले आया और वह तुम लोगों को बताने लगा कि कोई साकार ईश्वर नहीं है, वरन् तुममें और मुझमें जो आत्मा है, वही ईश्वर है। तब तो तुमको आघात पहुँचेगा। उसके विचार पवित्र हैं, पर गुप्त नहीं हैं। ऐसा कोई बड़ा धर्म या आचार्य नहीं हुआ, जिसने ईश्वर विषयक सत्यों का उपदेश देने के लिए गुप्त सभाएँ स्थापित की हों। भारत में ऐसी कोई गुप्त सभा नहीं है। ये तो पाश्चात्यों की कल्पनाएँ हैं, जिन्हें वे भारत पर लादना चाहते हैं। हम तो ऐसी बातें कभी जानते तक न थे। और भारत में गुप्त सभाएँ हों भी किसलिए ? यूरोप में तो मनुष्य को ऐसे धर्म के विषय में एक शब्द तक उच्चारण करने की स्वतन्त्रता नहीं थी, जो चर्च के मत के अनुसार न हो। इस कारण उन बेचारों को पर्वतों में जाकर छिपकर गुप्त सभाएँ करने के सिवाय दूसरा चारा ही न था। ऐसा किये बिना वे लोग अपने मन के अनुसार उपासना नहीं कर सकते थे। पर भारत में ऐसा समय कभी नहीं आया, जब दूसरों से भिन्न मत रखने के कारण किसी मनुष्य पर अत्याचार हुआ हो। गुप्त धार्मिक सभाओं की स्थापना से बढ़कर भयानक कृत्य कल्पना में नहीं लाया जा सकता। मैंने काफ़ी दुनिया देख ली है और मैं जानता हूँ कि इन गुप्त सभाओं से कैसे कैसे अनिष्ट हुआ करते हैं और कितनी आसानी से ये सभाएँ विच्युत होकर प्रेम-सभा या भूत-सभा का रूप धारण कर लेती हैं, वहाँ जाकर किस प्रकार मनुष्य दूसरे पुरुष या स्त्रियों के चुंगल में पड़कर

नाचता है और विचार एवं कार्य के क्षेत्र में अपनी भावी उन्नति की सारी सम्भावनाएँ धूल में मिला डालता है। मेरी इन बातों से तुममें से कुछ लोग शायद अप्रसन्न हों, पर सच बात मुझे कहनी ही चाहिए। भले ही जीवन भर में मुझे केवल आधे दर्जन स्त्री-पुरुष ही अनुयायी मिलें, पर वे लोग सच्चे पुरुष और स्त्री हों, पवित्र और निष्ठावान हों। मुझे झुण्ड के झुण्ड अनुयायी नहीं चाहिए। झुण्डों से क्या लाभ? संसार का इतिहास कुछ थोड़े दर्जन मनुष्यों से ही बना है। ऐसे मनुष्यों की गणना अँगुलियों पर की जा सकती है। बाक़ी लोग तो निकम्मे और शोरगुल मचानेवाले ही थे। इन सब गुप्त सभाओं और पाखण्डों से पुरुष और स्त्री अपवित्र, दुर्बल और संकुचित बन जाते हैं। दुर्बलों की कोई इच्छा-शक्ति नहीं रहती और वे कभी काम नहीं कर सकते। अत: ऐसी चीज़ों से कोई वास्ता ही न रखो। ये सब गुप्त रूप में विषय-वासनाएँ हैं, मिथ्या रहस्य-प्रेम हैं। ज्यों ही ये तुम्हारे मन में प्रवेश करें, त्यों ही इनके सिर पर आघात करके इन्हें नष्ट कर देना चाहिए। किंचित् भी अपवित्रता के रहते मनुष्य धार्मिक नहीं बन सकता। पीव-भरे घावों को गुलाब के फूलों से ढाँकने का प्रयत्न मत करो। क्या तुम समझते हो कि तुम ईश्वर को ठग सकते हो? ईश्वर को कोई ठग नहीं सकता। मुझे सरल हृदयवाला पुरुष या स्त्री दो; और हे भगवन्! मुझे इन भूतों, उड़नेवाले देवदूतों और शैतानों से बचाओ। तुम सीधे-सादे साधारण मनुष्य बनो।

अन्य प्राणियों की तरह हममें भी सहज-ज्ञान है, जिसके कारण, बिना जाने ही, बिना इच्छा किये ही हम यन्त्रवत् अंगों का संचालन किया करते हैं। तत्पश्चात् हममें इससे एक उच्चतर प्रेरक शक्ति है, जिसे हम तर्क-शक्ति कहते हैं, जिसके द्वारा बुद्धि अनेक बातों को ग्रहण करके उनसे कोई निष्कर्ष निकालती है। फिर उससे भी उच्चतर रूप का एक और ज्ञान है, जिसे हम अन्त:प्रेरणा (inspiration) कहते हैं, जो तर्क नहीं करता और एक स्फुरण में ही चीज़ों को जान जाता है। वही परमोच्च ज्ञान है। पर उसमें और सहज प्रेरणा में भेद किस तरह करोगे? यह बड़ा कठिन है। आजकल हर कोई आकर तुमसे अपने को प्रेरित कहता है और आध्यात्मिकता का दावा करता है। प्रश्न यह है कि हम दिव्य ज्ञान और धोखेबाज़ी को कैसे पहचानें? प्रथमत:, दिव्य ज्ञान को युक्ति के विपरीत नहीं होना चाहिए। वृद्ध मनुष्य बालक के विपरीत नहीं हुआ करता। वह तो बालक का ही विकसित, प्रौढ़ या उन्नत रूप होता है। जिसे हम अन्त:प्रेरणा कहते हैं, वह युक्ति का ही प्रौढ़ या उन्नत रूप है। अन्त:स्फूर्ति या दिव्य ज्ञान की प्राप्ति का मार्ग तर्क-शक्ति में से होकर ही जाता है। हमारे अंगों का जो संचालन सहज-ज्ञान के कारण हुआ करता है, वह

तर्क-शक्ति के विपरीत नहीं रहता। सड़क पार करते समय गाड़ियों के धक्के से बचने के लिए तुम किस तरह सहज-ज्ञान से कार्य करते हो! क्या तुम्हारा मन कहता है कि अपने शरीर को उस तरह बचाना मूर्खता का काम था? कभी नहीं कहता। यथार्थ अन्तःप्रेरणा (दिव्य ज्ञान) भी कभी तर्क-शक्ति की विरोधी नहीं होगी। जहाँ ऐसा हो, वहाँ दिव्य ज्ञान ही नहीं है। द्वितीयतः, ऐसी अन्तःप्रेरणा हर एक की भलाई का हेतु होती है, नाम या कीर्ति या व्यक्तिगत स्वार्थ का नहीं। वह तो सदा संसार की भलाई के लिए होगी और पूर्णतया निःस्वार्थ ही होगी। जब इन कसौटियों में वह ठीक ठीक उतरे, तब उसे अन्तःप्रेरणा मानने में कोई हानि नहीं। संसार की इस वर्तमान परिस्थिति में दस लाख में एक भी प्रेरित या दिव्यदर्शी नहीं है, यह स्मरण रखो। आज ऐसे बहुत ही कम लोग हैं। पर मैं आशा करता हूँ कि उनकी संख्या बढ़ेगी और तुममें से प्रत्येक वैसा बन जायगा। हमने तो अभी धर्म का केवल खिलवाड़ मचा रखा है। अन्तःप्रेरणा की स्फूर्ति होने पर ही हमें धर्म प्राप्त होने लगेगा। जैसे संत पॉल ने कहा है, 'अभी तो हमें मानो काँच के भीतर से धुँधला दिखायी दे रहा है, पर तब तो हम बिल्कुल आमने-सामने देखेंगे।' किन्तु आज संसार में ऐसे लोग इने-गिने हैं, जो उस पद को पहुँच चुके हैं। फिर भी सम्भवतः आज के समान अन्तःप्रेरणा का झूठा दावा इतना अधिक और कभी नहीं हुआ था। ऐसा कहा जाता है कि स्त्रियों को अन्तःस्फुरण की शक्तियाँ प्राप्त रहती हैं और पुरुष तर्कशक्ति के द्वारा धीरे धीरे अपने को ऊपर ले जाते हैं। इन कोरी बातों में विश्वास मत करो, क्योंकि प्रेरित पुरुषों की संख्या उतनी ही होती है, जितनी स्त्रियों की; यद्यपि तरह तरह के प्रलाप, मूर्च्छा या स्नायु-रोग आदि पर स्त्रियों का दावा अधिक हो सकता है! धोखेबाज़ों और जादूगरों का शिकार बनने की अपेक्षा नास्तिक रहकर मर जाना कहीं अच्छा है। तर्क-शक्ति तुम्हें उपयोग करने के लिए दी गयी है। तब यह दिखा दो कि तुमने उसका उचित उपयोग किया है। तभी तुम उच्चतर विषयों को ग्रहण कर सकोगे।

हमें यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि ईश्वर प्रेमस्वरूप है। 'गंगा किनारे बस-कर जो पानी के लिए कुआँ खोदता है, वह मूर्ख नहीं तो और क्या है? हीरे की खान के समीप रहते हुए जो काँच की गोलियाँ ढूँढ़ने में ही सारी ज़िन्दगी व्यतीत कर देता है, वह सचमुच मूर्ख ही है।' ईश्वर हीरों की खान है। हम सचमुच में मूर्ख हैं, जो भूत-प्रेतों और उसी तरह की अन्य निरर्थक गप्पों के लिए ईश्वर का परित्याग करते हैं। यह एक रोग है, विकृत कामना है। इससे मानव जाति का अधः-पतन हो जाता है। ये सब उद्भ्रान्त कथाएँ स्नायुओं पर अप्राकृतिक रूप से

अत्यधिक दबाव पहुँचाती हैं और धीरे धीरे परन्तु निश्चित रूप से इन विषयों से प्रेम रखनेवाली जाति को वीर्यहीन बना देती हैं। ईश्वर, शुद्धता, पवित्रता और धार्मिकता की बातें छोड़कर इन निरर्थक मूर्खता भरी बातों के पीछे दौड़ना घोर पतन है। दूसरों के विचार को जान लेने के लिए उत्कण्ठित रहना! यदि मैं लगातार पाँच मिनट दूसरों के विचारों को एक साथ जान लूँ, तो मैं तो पागल हो जाऊँगा। अतः शक्तिशाली बनो, उठो और प्रेमरूपी ईश्वर की खोज करो। यही सर्वोच्च बल है। पवित्रता की शक्ति से बढ़कर और कौन सी शक्ति श्रेष्ठ हो सकती है? प्रेम और पवित्रता ही दुनिया के शासक हैं। ईश्वर का यह प्रेम बलहीनों द्वारा प्राप्य वस्तु नहीं है। अतः दुर्बल मत बनो—शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक किसी प्रकार से। केवल ईश्वर ही सत्य है। अन्य सब कुछ असत्य है। ईश्वर के लिए सभी वस्तुओं का त्याग कर देना चाहिए। सब कुछ असार है, असारों का भी असार। केवल ईश्वर और ईश्वर की ही सेवा करो।

व्याख्यान, प्रवचन एवं कक्षालाप-८

(वेदान्त)

वेदान्त दर्शन–१

(२५ मार्च, १८९६ ई० को हॉर्वर्ड विश्वविद्यालय की स्नातक दर्शन परिषद् में दिया गया भाषण)

भारत में सम्प्रति जितने दार्शनिक सम्प्रदाय हैं, वे सभी वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत आते हैं। वेदान्त की कई प्रकार की व्याख्याएँ हुई हैं और मेरे विचार से वे सभी प्रगतिशील रही हैं। प्रारम्भ में व्याख्याएँ द्वैतवादी हुईं, अन्त में अद्वैतवादी। वेदान्त का शाब्दिक अर्थ है 'वेद का अन्त'। वेद हिन्दुओं के आदि धर्मग्रंथ हैं।[1] कभी कभी पाश्चात्य देशों में 'वेद' को केवल ऋचाएं और कर्मकांड ही समझा जाता है। किन्तु अब इनको अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता, और भारत में साधारणतः वेद शब्द से वेदान्त ही समझा जाता है। यहाँ के टीकाकार जब धर्मग्रंथों से कुछ उद्धृत करना चाहते हैं, तो साधारणतः वे वेदान्त से ही उद्धृत करते हैं। ये लोग वेदान्त को श्रुति[2] कहते हैं। ऐसी बात नहीं है कि जो ग्रंथ वेदान्त के नाम से विख्यात हैं, उनकी रचना वैदिक कर्मकाण्ड के बाद हुई। ईशोपनिषद् जो यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय है, वेदों के प्राचीनतम अंशों

---

१. वेद दो अंशों में विभक्त है—कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्ड के अन्तर्गत ब्राह्मणों के प्रख्यात मन्त्र तथा अनुष्ठान आते हैं। जिन ग्रंथों में अनुष्ठानादि से भिन्न आध्यात्मिक विषयों का विवरण है, उन्हें उपनिषद् कहते हैं। उपनिषद् ज्ञानकाण्ड के अन्तर्गत हैं। सभी उपनिषदों की रचना वेदों से पृथक् हुई हो, ऐसा नहीं है। कुछ उपनिषद् तो ब्राह्मणों के अन्तर्गत हैं। कम से कम एक उपनिषद् तो संहिता भाग या ऋचाओं के ही अन्तर्गत है। कभी कभी उपनिषद् शब्द उन ग्रन्थों के लिए भी प्रयुक्त होता है, जो वेद के अन्तर्गत नहीं हैं, जैसे गीता। किन्तु साधारणतः उपनिषद् शब्द का प्रयोग वेदों के मध्य विकीर्ण दार्शनिक प्रकरणों के लिए ही होता है। इन दार्शनिक प्रकरणों का संकलन हुआ है और उसे वेदान्त कहते हैं।

२. 'श्रुति' का अर्थ है 'जो सुना हुआ है।' यद्यपि श्रुति के अन्तर्गत समस्त वैदिक साहित्य आ जाता है, फिर भी टीकाकार श्रुति शब्द का मुख्यतः उपनिषदों के लिए ही प्रयोग करते हैं।

में एक है। ऐसे भी उपनिषद् हैं, जो ब्राह्मणों के अंश हैं। अन्य उपनिषद्[1] न तो ब्राह्मणों के, न वेद के अन्य भागों के ही अन्तर्गत हैं। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वे वेद के अन्य भागों से पूर्णतः स्वतंत्र हैं। यह तो हम जानते हैं कि वेद के अनेक भाग सर्वथा अप्राप्य हैं तथा अनेक ब्राह्मण भी नष्ट हो चुके हैं। अतः यह संभव है कि जो उपनिषद् अब स्वतंत्र ग्रंथ जैसे प्रतीत होते हैं, वे ब्राह्मणों के अन्तर्गत रहे हों। ऐसे ब्राह्मण-ग्रंथ लुप्त हो गये हैं, मात्र उपनिषद् अवशिष्ट हैं। इन उपनिषदों को आरण्यक भी कहते हैं।

व्यावहारिक रूप में वेदान्त ही हिन्दुओं का धर्मग्रंथ है। जितने भी आस्तिक दर्शन हैं, सभी इसीको अपना आधार मानते हैं। यदि उनके उद्देश्य के अनुकूल होता है, तो बौद्ध तथा जैन भी वेदान्त को प्रमाण मानकर उससे एक उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि भारत के सभी आस्तिक दर्शन वेदों पर आधारित हैं, फिर भी उनके नाम भिन्न भिन्न हैं। अन्तिम दर्शन, जो व्यास का है, पूर्व प्रतिपादित दर्शनों की अपेक्षा वैदिक विचारों पर अधिक आधारित है। इसमें सांख्य और न्याय जैसे प्राचीन दर्शनों का वेदान्त के साथ यथासंभव सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। इसलिए इसे विशेष रूप से वेदान्त कहा जाता है। आधुनिक भारतीयों के अनुसार व्यास-सूत्र ही वेदान्त दर्शन का आधार माना जाता है। विभिन्न भाष्यकारों ने व्यास के सूत्रों की व्याख्या विभिन्न प्रकार से की है। सामान्यतः अभी भारत में तीन प्रकार के व्याख्याकार हैं।[2] उनकी व्याख्याओं से तीन

---

१. उपनिषदों की संख्या १०८ मानी जाती है। निश्चित रूप से इनका समय-निर्धारण नहीं किया जा सकता। किन्तु यह तो निश्चित है कि वे बौद्ध मत से प्राचीन हैं। यह ठीक है कि कुछ गौण उपनिषदों में ऐसे निर्देश हैं, जिनसे उनके अर्वाचीन होने का संकेत मिलता है। किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि वे उपनिषद् अर्वाचीन हैं। संस्कृत साहित्य के प्राचीन मूल ग्रन्थों को सम्प्रदायवादी अपने अपने मतों की उत्कृष्टता स्थापित करने के लिए परिवर्तित करते रहे हैं।

२. व्याख्याएँ कई प्रकार की होती हैं—भाष्य, टीका, टिप्पणी, चूर्णिका आदि। भाष्य को छोड़ अन्य सबों में मूल ग्रन्थ या उसके कठिन शब्दों की व्याख्या की जाती है। भाष्य सही अर्थ में व्याख्या नहीं है। इसमें मूल ग्रन्थ के आधार पर एक विचार-पद्धति का स्पष्टीकरण किया जाता है। भाष्य का उद्देश्य शब्दों की व्याख्या नहीं, वरन् किसी विचार-पद्धति का प्रतिपादन करना होता है। भाष्यकार मूल ग्रन्थों को प्रमाण मानकर अपनी विचार-पद्धति को स्पष्ट करता है।

दार्शनिक पद्धतियों एवं सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई है—द्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा अद्वैत। अधिकांश भारतीय द्वैत एवं विशिष्टाद्वैत के अनुयायी हैं। अद्वैतवादियों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। मैं इन तीन सम्प्रदायों की विचार-पद्धतियों की चर्चा तुम्हारे सम्मुख करना चाहता हूँ। इसके पहले कि मैं ऐसा करूँ, मैं तुमको यह बतला देना चाहता हूँ कि इन तीनों वेदान्त दर्शनों की मनोवैज्ञानिक पद्धति सांख्य की मनोवैज्ञानिक पद्धति के समान ही है। सांख्य दर्शन का मनोविज्ञान न्याय एवं वैशेषिक दर्शनों के मनोविज्ञानों के सदृश ही है। इनके मनोविज्ञानों में केवल गौण विषयों में भेद पाया जाता है।

सभी वेदान्ती तीन बातों में एक मत हैं। ये सभी ईश्वर को, वेदों के श्रुत रूप को तथा सृष्टि-चक्र को मानते हैं। वेदों की चर्चा तो हम कर चुके हैं। सृष्टि सम्बन्धी मत इस प्रकार है। समस्त विश्व का जड़ पदार्थ आकाश नामक मूल जड़-सत्ता से उद्भूत हुआ है। गुरुत्वाकर्षण, आकर्षण या विकर्षण, जीवन आदि जितनी शक्तियाँ हैं, वे सभी आदि शक्ति प्राण से उद्भूत हुई हैं। आकाश पर प्राण का प्रभाव पड़ने से विश्व का सर्जन या प्रक्षेपण[1] होता है। सृष्टि के प्रारम्भ में आकाश स्थिर तथा अव्यक्त रहता है। बाद में प्राण ज्यों ज्यों अधिकाधिक क्रियाशील

वेदान्त की अनेक व्याख्याएँ हुई हैं। इसके विचारों की अन्तिम अभिव्यक्ति व्यास के दार्शनिक सूत्रों में हुई है। वेदान्त मत का प्रामाणिक ग्रन्थ उत्तर मीमांसा है। उत्तर मीमांसा हिन्दू धर्मशास्त्र का सबसे अधिक प्रामाणिक ग्रन्थ है। कट्टर विरोधी धर्म-संप्रदायों ने भी विवश होकर व्यास की उक्तियों को अपनी विचार-पद्धति के साथ मिलाने का प्रयत्न किया है। अति प्राचीन काल में ही वेदान्त के व्याख्याकार तीन प्रसिद्ध हिन्दू सम्प्रदायों में विभक्त हो गये। इन सम्प्रदायों के नाम द्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा अद्वैत हैं। अति प्राचीन व्याख्याएँ तो शायद लुप्त हो गयी हैं, किन्तु अर्वाचीन काल में बौद्ध धर्म के उत्थान के बाद शंकर, रामानुज तथा मध्व ने उनका पुनरुद्धार किया है। शंकर ने अद्वैत को, रामानुज ने विशिष्टाद्वैत को तथा मध्व ने द्वैत को पुनः संस्थापित किया है। भारतीय सम्प्रदायों के पारस्परिक भेद का कारण उनकी विचार-पद्धति है। कर्मानुष्ठान के बारे में उनमें कम भेद है, क्योंकि उनके धर्मशास्त्र का आधार एक ही है।

१. अंग्रेजी भाषा का 'क्रियेशन' (creation) तथा संस्कृत का प्रक्षेपण (projection) समानार्थक शब्द हैं। भारत का कोई भी मत पाश्चात्य देशों के उस सृष्टिवाद को नहीं मानता, जिसके अनुसार असत् से सत् की उत्पत्ति मानी जाती है। हम सृष्टि से जो अर्थ समझते हैं, वह उसीका प्रक्षेपण है, जो पहले से ही विद्यमान था।

होता है, त्यों त्यों अधिकाधिक स्थूल पदार्थ उत्पन्न होते जाते हैं, यथा पेड़, पौधे, पशु, मनुष्य, नक्षत्र आदि। कालान्तर में सृष्टि की प्रगति समाप्त हो जाती है और प्रलय प्रारम्भ होता है। सभी पदार्थ सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूपों को प्राप्त करते हुए मूलभूत आकाश एवं प्राण में परिवर्तित हो जाते हैं। तब नया सृष्टि-चक्र प्रारम्भ होता है। आकाश एवं प्राण के परे भी एक सत्ता है, जिसे महत् कहते हैं। महत् आकाश एवं प्राण का निर्माण नहीं करता, स्वयं उनका रूप धारण कर लेता है।

अब मैं मन, आत्मा तथा ईश्वर के सम्बन्ध में चर्चा करूँगा। सर्वमान्य सांख्य दर्शन के अनुसार चाक्षुष प्रत्यक्ष के लिए चक्षु जैसे उपकरणों की आवश्यकता होती है। इन उपकरणों के पीछे चाक्षुष स्नायु-तंतु तथा उसके स्नायु-केन्द्र—दर्शनेन्द्रिय हैं। ये बाह्य उपकरण नहीं हैं, फिर भी इनके बिना आँखें देख नहीं सकतीं। प्रत्यक्ष के लिए अन्य उपकरण की भी आवश्यकता होती है। इन्द्रिय के साथ मन का संयोग भी आवश्यक है। फिर बुद्धि से भी संवेदना का संयोग आवश्यक है, क्योंकि मन की वह शक्ति जिससे रूप निर्धारण करनेवाली प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, बुद्धि ही है। बुद्धि के कारण जब प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, तब साथ ही साथ बाह्य जगत् तथा अहंकार प्रतिभासित हो उठते हैं। और तब इच्छा उत्पन्न होती है। मन के स्वरूप का वर्णन यहीं पूरा नहीं होता। जैसे प्रकाश के आनुक्रमिक संवेगों से रचित चित्र को सम्पूर्ण बनाने के लिए उसका किसी स्थिर आधार पर संघटित होना आवश्यक है, उसी प्रकार मन के लिए यह आवश्यक है कि उसके सभी प्रत्यय सम्मिलित हों और शरीर एवं मन से अपेक्षाकृत अधिक स्थिर सत्ता पर उनका प्रक्षेपण हो। ऐसी स्थिर सत्ता को पुरुष या आत्मा कहते हैं।

सांख्य दर्शन के अनुसार मन की प्रतिक्रियात्मक शक्ति, जिसे बुद्धि की संज्ञा दी जाती है, महत् से उद्भूत होती है। ऐसा कहा जा सकता है कि बुद्धि महत् का परिवर्तित रूप है या उसकी अभिव्यक्ति है। महत् स्पंदनशील बुद्धि में परिवर्तित होता है। बुद्धि का एक अंश इन्द्रियों में तथा दूसरा अंश तन्मात्राओं में परिवर्तित होता है। इन सबके संयोग से विश्व का निर्माण होता है। सांख्य के अनुसार महत् के परे भी सत् की एक अवस्था है, जिसे अव्यक्त कहते हैं। इस अवस्था में मन का अस्तित्व नहीं रहता, केवल इसके कारण विद्यमान रहते हैं। सत् की इस अवस्था को प्रकृति भी कहते हैं। प्रकृति से पुरुष सतत भिन्न होता है। सांख्य के अनुसार पुरुष ही आत्मा है, जो निर्गुण तथा सर्वव्यापी होता है। पुरुष कर्ता नहीं, द्रष्टा मात्र है। पुरुष का स्वरूप समझाने के लिए स्फटिक का उदाहरण दिया जाता है स्फटिक स्वयं बिना रंग का होता है, किन्तु यदि किसी प्रकार का रंग उसके समीप रखा जाता है, तो वह उसी प्रकार के रंग में रँगा दीख पड़ता है। वेदान्ती सांख्य के

आत्मा एवं जगत् सम्बन्धी मतों को नहीं मानते। सांख्य के अनुसार पुरुष एवं प्रकृति के बीच बड़ा पार्थक्य है। इस पार्थक्य को दूर करना आवश्यक है। सांख्य इसे दूर करना चाहता है, पर सफल नहीं होता। जब पुरुष वास्तव में रंगहीन है, तो उस पर प्रकृति का रंग कैसे चढ़ सकता है? इसलिए वेदान्ती मौलिक स्तर पर ही यह मानते हैं कि पुरुष और प्रकृति अभिन्न हैं।[1] द्वैतवादी भी यह स्वीकार करते हैं कि आत्मन् या ईश्वर संसार का केवल निमित्त कारण ही नहीं, उपादान कारण भी है। किन्तु यथार्थ में वे ऐसा केवल कहते हैं। उनके कहने का अभिप्राय दूसरा होता है, क्योंकि उनके विचारों से जो सही परिणाम निकलते हैं, उनको वे स्वीकार नहीं करना चाहते। वे कहते हैं कि विश्व में तीन प्रकार की सत्ताएँ हैं—ईश्वर, आत्मा और प्रकृति। प्रकृति और आत्मा मानो ईश्वर का शरीर हैं। इस कारण यह कहा जा सकता है कि ईश्वर और प्रकृति अभिन्न हैं। किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से तो प्रकृति और आत्माओं में भिन्नता रह ही जाती है। सृष्टि-चक्र के प्रारम्भ होने पर वे व्यक्त रूप धारण करती हैं और जब सृष्टि-चक्र का अन्त होता है, तो वे सूक्ष्म रूप धारण कर लेती हैं और सूक्ष्मावस्था में ही रहती हैं। अद्वैत वेदान्ती आत्मा की इस व्याख्या को नहीं मानते और इनके मत का समर्थन तो प्रायः सभी उपनिषदों में पाया जाता है। उपनिषदों के आधार पर ही वे अपने दर्शन का प्रतिपादन करते हैं। सभी उपनिषदों का विषय एक है, उद्देश्य एक है—निम्नलिखित विचार को स्थापित करना: 'मिट्टी के एक टुकड़े के बारे में ज्ञान प्राप्त कर लेने से हम संसार की सभी मिट्टी के बारे में ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। इसी प्रकार अवश्य ऐसा कोई तत्त्व है, जिसको जान लेने से हम संसार की सभी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर ले सकते हैं। वह तत्त्व क्या है?'[2] अद्वैतवादी समस्त विश्व को एक सामान्य रूप देना चाहते हैं, विश्व के एकमात्र तत्त्व को बतलाना चाहते हैं। उनका मूल सिद्धान्त यह है कि सारा विश्व एक है और एक ही सत् नाना

---

१. वेदान्त और सांख्य में परस्पर विरोध बहुत कम है। वेदान्त की ईश्वर-कल्पना सांख्य की पुरुष-कल्पना से निकली है। सभी दर्शन सांख्य के मनोविज्ञान को मानते हैं। वेदान्त और सांख्य दोनों ही शाश्वत पुरुष को मानते हैं। भेद केवल इतना है कि सांख्य अनेक पुरुषों को मानता है। सांख्य के अनुसार विश्व के अस्तित्व के लिए किसी अन्य सत्ता की आवश्यकता नहीं है। वेदान्त के अनुसार आत्मा एक है, जो अनेक जैसी प्रतिभासित होती है। इस एक विचार को छोड़कर वेदान्त के अन्य विचार तो प्रायः सांख्य पर ही आधारित हैं।

२. छान्दोग्योपनिषद् ॥६।१।४॥

रूपों में प्रतिभासित होता है। उनके अनुसार सांख्य की प्रकृति का अस्तित्व तो है, परन्तु प्रकृति ईश्वर से अभिन्न है। विश्व, मनुष्य, जीवात्मा तथा जितनी भी अन्य सत्ताएँ हैं, सभी सत् के ही भिन्न भिन्न रूप हैं। मन तथा महत् उसी सत् के व्यक्त रूप हैं। इस मत के विरोध में कहा जा सकता है कि यह तो सर्वेश्वरवाद (pantheism) है। यह भी प्रश्न उठ सकता है कि अपरिवर्तनशील सत् (वेदान्ती सत् को ऐसा ही मानते हैं, क्योंकि जो निरपेक्ष है, वह अपरिवर्तनशील है) परिवर्तनशील तथा नाशवान में कैसे परिवर्तित हो सकता है? इस समस्या के समाधान में (अद्वैत) वेदान्ती विवर्तवाद के सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हैं। सांख्य मतानुयायियों तथा द्वैतवादियों के अनुसार समस्त विश्व प्रकृति से उद्भूत हुआ है। कुछ अद्वैतवादियों तथा कुछ द्वैतवादियों के अनुसार सारा विश्व ईश्वर से उत्पन्न हुआ है। किन्तु शंकराचार्य के अनुयायियों के अनुसार (सही अर्थ में ये ही अद्वैत-वादी हैं) समस्त विश्व ब्रह्म का प्रातिभासिक रूप है। ब्रह्म विश्व का वास्तविक नहीं, केवल आभासी उपादान कारण है, इस सम्बन्ध में रज्जु और सर्प का प्रसिद्ध उदाहरण दिया जाता है। रज्जु सर्प जैसी आभासित होती है, वह वास्तव में सर्प नहीं है। उसका सर्प में परिवर्तन नहीं होता। इसी तरह सारा विश्व वास्तव में सत् है। सत् का परिवर्तन नहीं होता। हम इसमें जितने भी परिवर्तन पाते हैं, सभी आभास मात्र हैं। ये परिवर्तन देश, काल तथा निमित्त के कारण होते हैं; मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त की दृष्टि से नाम-रूप के कारण होते हैं। नाम और रूप के द्वारा ही एक वस्तु का दूसरी वस्तु से भेद किया जाता है। अतः नाम और रूप ही उन वस्तुओं के भेद के कारण हैं। वास्तव में दोनों वस्तुएँ एक हैं। (अद्वैत) वेदान्तियों के अनुसार सत् और जगत् (phenomenon) परस्पर भिन्न सत्ताएँ नहीं हैं। रज्जु का सर्प जैसा दीखना भ्रमात्मक है। भ्रम के समाप्त होने पर सर्प का दीखना भी समाप्त हो जाता है। अज्ञानवश व्यक्ति जगत् को देखता है, ब्रह्म को नहीं। जब उसे ब्रह्म का ज्ञान होता है, तब उसके लिए जगत् नहीं होता। अज्ञान, जिसे माया कहते हैं, जगत् का कारण है, क्योंकि इसीके कारण निरपेक्ष अपरिवर्तन-शील सत् व्यक्त जगत् के रूप में प्रतिभासित होता है। माया शून्य या असत् नहीं है। यह सत् भी नहीं है, क्योंकि निरपेक्ष अपरिवर्तनशील तत्त्व ही एक मात्र सत् है। पारमार्थिक दृष्टि से तो माया को असत् कहा जाना चाहिए, किन्तु इसे असत् भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि तब तो इसके कारण जगत् का प्रतिभासित होना भी संभव नहीं हो सकता। अतः यह न तो सत् है, न असत् है। वेदान्त में इसे अनिर्वचनीय कहते हैं। यही जगत् का यथार्थ कारण है। ब्रह्म उपादान कारण है और माया नाम-रूप का कारण है। ब्रह्म नाना रूपों में परिवर्तित जैसा प्रति-

भासित होता है। इस प्रकार अद्वैतियों के लिए जीवात्मा का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। उनके अनुसार माया ही जीवात्मा के अस्तित्व का कारण है। पारमार्थिक दृष्टि से उसका अपना कोई अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार सत्ता यदि केवल एक है, तो यह कैसे संभव हो सकता है कि मैं एक पृथक् सत्ता हूँ और तुम एक पृथक् सत्ता हो? यथार्थ में हम लोग सभी एक हैं। हमारी द्वैत दृष्टि ही सभी अनिष्ट का कारण है। जभी मैं यह समझता हूँ कि मैं संसार से पृथक् हूँ, तभी पहले भय उत्पन्न होता है और तब दुःख का अनुभव होता है। जहाँ व्यक्ति दूसरे से सुनता है, दूसरे को देखता है, वह अल्प है। जहाँ व्यक्ति दूसरे को देखता नहीं, दूसरे को सुनता नहीं, वह भूमा है; वह ब्रह्म है। भूमा में परम सुख है, अल्प में नहीं?[1]

अद्वैत दर्शन के अनुसार परम तत्त्व के विघटन से सांसारिक नाम-रूपों के प्रतिभासित होने के कारण मनुष्य का पारमार्थिक स्वरूप छिप जाता है। पर उसमें वास्तविक परिवर्तन कदापि नहीं होता। निम्न से निम्न कीट में तथा उच्च से उच्च मनुष्य में एक ही आध्यात्मिक तत्त्व विद्यमान है। कीट निम्न कोटि का इसलिए है कि उसके देवत्व पर मायाजनित अध्यास अधिक रहता है। जिस पदार्थ में इस तरह का अध्यास सबसे कम रहता है, वह सबसे ऊँची कोटि का होता है। सभी वस्तुओं के पीछे उसी देवत्व का अस्तित्व है, और इसीसे नैतिकता का आधार प्रस्तुत होता है। दूसरों को कष्ट नहीं देना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को अभिन्न समझकर उसके साथ प्रेम करना चाहिए, क्योंकि समस्त विश्व मौलिक स्तर पर एक है। दूसरे को कष्ट देना अपने आप को कष्ट देना है। दूसरे के साथ प्रेम करना अपने आपसे प्रेम करना है। इसीसे अद्वैत नैतिकता का वह सिद्धान्त उद्भूत होता है, जिसका समाहार एक आत्मोत्सर्ग शब्द में किया गया है। अद्वैतवादियों के अनुसार जीवात्मा ही दुःखों का कारण है। व्यक्ति-सीमित जीवात्मा के कारण मैं अपने को अन्य वस्तुओं से भिन्न समझता हूँ। अतः यही घृणा, ईर्ष्या, दुःख, संघर्ष आदि अनिष्टों का कारण है। इसके परिहार से सभी संघर्ष, सभी दुःख समाप्त हो जाते हैं। अतः इसका परिहार आवश्यक है। निम्न से निम्न सत्ताओं के लिए भी हमें अपने जीवन का उत्सर्ग करने को तत्पर रहना चाहिए। मनुष्य जब एक लघु कीट के लिए अपने जीवन तक का उत्सर्ग करने को तत्पर हो जाता है, तो वह पूर्णत्व को प्राप्त कर लेता है। अद्वैतवादियों के अनुसार पूर्णत्व ही जीवन का अभीष्ट है। मनुष्य जब उत्सर्ग के योग्य हो जाता है, तो उसके अज्ञान का

---

१. छान्दोग्योपनिषद् ॥७।२३-४।१॥

आवरण दूर हो जाता है और वह अपने को पहचान लेता है। जीवन-काल में ही उसे यह अनुभव हो जाता है कि उसमें और संसार में कोई अन्तर नहीं है। कुछ समय के लिए तो ऐसे व्यक्ति के लिए जगत् का नाश हो जाता है और वह समझ लेता है कि उसका वास्तविक स्वरूप क्या है। किन्तु जब तक उसके वर्तमान शरीर का कर्म अवशिष्ट रहत है, तब तक उसे जीवन धारण करते रहना पड़ता है। ऐसी स्थिति में अविद्या का आवरण तो नष्ट हो चुका रहता है, पर शरीर को कुछ अवधि के लिए रहना पड़ता है। इसे वेदान्ती जीवन्मुक्ति कहते हैं। मनुष्य मरीचिका को देखकर कुछ समय के लिए भ्रम में अवश्य पड़ जाता है, किन्तु एक दिन मरीचिका विलीन हो जाती है। बाद में मरीचिका के सम्मुख आने पर भी मनुष्य भ्रम में नहीं पड़ता। मरीचिका जब पहली बार घटित होती है, मनुष्य सत्य और मिथ्या में भेद नहीं कर सकता। किन्तु जब वह एक बार नष्ट हो जाती है, तब नेत्रादि इन्द्रियों के वर्तमान रहने के कारण मनुष्य उसे देखता तो है, पर उसके कारण भ्रम में नहीं पड़ता। अब तो उसे मरीचिका तथा वास्तविक जगत् के भेद का ज्ञान प्राप्त रहता है। इसीलिए वह मरीचिका के कारण भ्रम में नहीं पड़ता। इस प्रकार अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार व्यक्ति जब अपने आपका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तो उसके लिए संसार का मानो लोप हो जाता है। संसार का फिर से प्रत्यक्ष तो होता है, किन्तु अब वह दुखःमय नहीं रह जाता। जो संसार पहले दुःखमय कारागार था, अब वह सच्चिदानन्द हो जाता है। अद्वैत के अनुसार सच्चिदानन्द की अवस्था को प्राप्त करना ही जीवन का अभीष्ट है।

वेदान्त दर्शन–२

वेदान्ती कहता है कि मनुष्य न तो जन्म लेता है और न मरता या स्वर्ग जाता है। आत्मा के सम्बन्ध में पुनर्जन्म एक कल्पना मात्र है। पुस्तक के पन्ने उलटने का उदाहरण लो। उलट-पुलट पुस्तक में हो रही है, उलटनेवाले मनुष्य में नहीं। प्रत्येक आत्मा सर्वव्यापी है, तब वह कहाँ आ-जा सकती है? ये जन्म और मरण प्रकृति में होनेवाले परिवर्तन हैं, जिन्हें हम प्रमादवश अपने में ही घटनेवाले परिवर्तन समझ रहे हैं।

पुनर्जन्म प्रकृति का क्रम-विकास तथा अन्तःस्थित परमात्मा की अभिव्यक्ति है।

वेदान्त कहता है कि प्रत्येक जीवन अतीत का प्रतिफलस्वरूप है, और जब हम सम्पूर्ण अतीत पर दृष्टि डाल सकने में सक्षम हो सकेंगे, तब हम मुक्त हो जायँगे। मुक्त होने की इच्छा बचपन से ही धार्मिक प्रवृत्ति का रूप धारण कर लेती है। और कुछ वर्ष का समय मानो मानव की आँखों में सत्य को स्पष्ट कर देता है। यह जीवन छोड़ने के बाद जब मनुष्य दूसरे जन्म की प्रतीक्षा में रहता है, तब भी वह प्रपंचमय जगत् के अन्तर्गत ही है।

आत्मा का हम इन शब्दों में वर्णन करते हैं : इसे न तलवार काट सकती है, न भाला छेद सकता है; न आग जला सकती है, न पानी घुला सकता है; यह अविनाशी और सर्वव्यापी है। अतएव इसके लिए रोना क्यों?

यदि यह अत्यन्त पतित रही है, तो कालक्रम से उन्नत बन जायगी। मूल सिद्धान्त यह है कि शाश्वत मुक्ति पर सबका अधिकार है। उसे सभी अवश्य प्राप्त करेंगे। मोक्ष की इच्छा से प्रेरित होकर हमें प्रयत्न करना पड़ता है। मोक्ष की इच्छा को छोड़कर अन्य सभी इच्छाएँ भ्रमात्मक हैं। वेदान्ती कहता है कि प्रत्येक शुभ कार्य इस मुक्ति की ही अभिव्यक्ति है।

मैं यह नहीं मानता कि एक ऐसा भी समय आयेगा, जब संसार से समस्त अशुभ लुप्त हो जायगा। यह कैसे हो सकता है? यह प्रवाह तो चलता ही रहेगा। जलराशि एक छोर से निकलती रहती है, पर दूसरे छोर से जलसमूह आता भी रहता है।

वेदान्त कहता है कि तुम पवित्र और पूर्ण हो। एक अवस्था ऐसी भी है, जो

कि पाप और पुण्य से परे है, और वही तुम्हारा प्रकृत स्वरूप है। वह अवस्था पुण्य से भी ऊँची है। पुण्य में भी भेद-ज्ञान है, किन्तु पाप से कम।

हमारे यहाँ पाप विषयक कोई सिद्धान्त नहीं। हम तो उसे अज्ञान कहते हैं।

जहाँ तक नीतिशास्त्र, अन्य लोगों के प्रति व्यवहार आदि का सम्बन्ध है— यह सब प्रपचमय जगत् के अन्तर्गत है। सत्य तो यह है कि परमात्मा में अज्ञान जैसी किसी वस्तु के आरोप करने की बात सोची ही नहीं जा सकती। उसके सम्बन्ध में हम कहते हैं कि वह सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है। उस अतीन्द्रिय, निरपेक्ष सत्ता को विचार और वाणी द्वारा व्यक्त करने का हमारा प्रत्येक प्रयत्न उसे इन्द्रियग्राह्य और सापेक्ष बना देगा, और इस तरह उसके वास्तविक स्वरूप को नष्ट कर देगा।

एक बात हमें ध्यान में रखनी होगी, और वह यह कि इन्द्रियग्राह्य जगत् में 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार का कथन नहीं किया जा सकता। यदि तुम इस नाम-रूपमय जगत् में आबद्ध हो और साथ ही अपने को ब्रह्म होने का भी दावा करो, तो तुम्हें अनाचार करने से कौन रोक सकता है? अतएव तुम्हारे ब्रह्म होने की बात इन्द्रियातीत जगत् के विषय में ही लागू हो सकती है। यदि मैं ब्रह्म हूँ, तो इन्द्रिय-वृत्तियों से मैं परे हूँ और पाप कर ही नहीं सकता। निश्चय ही, नैतिकता मनुष्य का चरम लक्ष्य नहीं है, वह तो मोक्ष-प्राप्ति का साधन मात्र है। वेदान्त कहता है कि इस ब्रह्म-तत्त्व की अनुभूति का एक मार्ग 'योग' है। योग अपने आन्तरिक मुक्तस्वभाव की अनुभूति से होता है, और इस अनुभूति के सामने सभी वस्तुएँ पराभूत हो जाती हैं। नैतिकता और आचार सभी अपने सम्यक् स्थान में विन्यस्त हो जायँगे।

अद्वैत दर्शन के विरोध में जितनी भी आलोचनाएँ की गयी हैं, उन सबका सारांश यह है कि उससे इन्द्रिय-सुखों के भोग में बाधा पहुँचती है। हम हर्षपूर्वक इस बात को स्वीकार करते हैं।

वेदान्त दर्शन परम निराशावाद को लेकर प्रारम्भ होता है और उसकी समाप्ति होती है यथार्थ आशावाद में। हम ऐंद्रिक आशावाद को अस्वीकार करते हैं, परन्तु इन्द्रियातीत आत्मानुभूति पर आधारित सच्चे आशावाद को स्वीकार करते हैं। यथार्थ सुख इन्द्रियों में नहीं, इन्द्रियों से परे है, और प्रत्येक व्यक्ति में वह विद्यमान है। संसार में हम जो तथाकथित आशावाद देखते हैं, वह हमें इन्द्रियपरायण बनाकर विनाश की ओर ले जाता है।

हमारे दर्शन में निषेध (नेति-नेति) का बहुत बड़ा महत्त्व है। निषेधीकरण में वास्तविक आत्मा का अस्तित्व-बोध निहित है। ऐंद्रिक जगत् को अस्वीकार

करने के दृष्टिकोण से वेदान्त निराशावादी है, पर इन्द्रियातीत सच्चे जगत् को स्वीकार करने के दृष्टिकोण से वह आशावादी है।

यद्यपि वेदान्त कहता है कि बुद्धि से भी परे कोई वस्तु है, तो भी वह मनुष्य की तर्क-शक्ति को उचित मान्यता प्रदान करता है—उसकी अवहेलना नहीं करता; क्योंकि उस वस्तु की प्राप्ति का मार्ग बुद्धि से होकर ही जाता है।

समस्त पुराने अंधविश्वासों को भगा देने के लिए हमें तर्क-बुद्धि की आवश्यकता है; और अन्त में जो बच रहता है, वही वेदान्त है। संस्कृत में एक सुन्दर कविता है, जिसमें एक साधु पुरुष अपने आप से कहता है, 'मेरे मित्र, तू क्यों रोता है! तेरे लिए न भय है, न मत्यु। तू क्यों रोता है? तेरे लिए कोई दुःख-कष्ट नहीं है, क्योंकि तू तो इस अनन्त नीलाकाश की भाँति स्वभावतः अपरिवर्तनशील है। नील गगन के सामने रंग-बिरंगे बादल आते हैं, क्षण भर खेल करते हैं और फिर चले जाते हैं, पर आकाश ज्यों का त्यों ही रहता है। तुझे भी केवल अज्ञानरूपी बादलों को भगा देना है।'

हमें केवल द्वार खोलकर रास्ता साफ़ कर देना है। पानी अपने आप वेग से आकर भर जायगा, क्योंकि वह वहाँ पहले ही से विद्यमान है।

मानव मन का अधिकांश चेतन एवं कुछ अंश अचेतन होता है, और उसके लिए चेतन से परे चले जाना सम्भव है। यथार्थ मनुष्य बन जाने पर ही हम तर्क-बुद्धि से अतीत हो सकते हैं। 'उच्चतर' और 'निम्नतर' शब्दों का प्रयोग हम केवल प्रपंचमय जगत् में ही कर सकते हैं। इनका अतीन्द्रिय जगत् के विषय में प्रयोग करना सहज ही विरोधाभास है, क्योंकि वहाँ विभेद नहीं है। इस प्रपंचमय जगत् में मनुष्य-योनि उच्चतम है। वेदान्ती कहता है कि मानव देवता से भी ऊँचा है। समस्त देवताओं को एक न एक दिन मरना ही होगा, और पुनः मनुष्य-जन्म लेना होगा—केवल मनुष्य शरीर में ही वे पूर्णत्व लाभ कर सकेंगे।

यह सत्य है कि हम एक विचार-प्रणाली की—एक मत या वाद की—सृष्टि करते हैं, किन्तु हमें यह मानना पड़ेगा कि वह पूर्ण नहीं है, क्योंकि सत्य सभी प्रणालियों से परे की चीज़ है। हम अपने उस मत की अन्य मतों से तुलना करने को तैयार हैं, और यह सिद्ध भी कर सकते हैं कि वही एकमात्र युक्तिसंगत मत हो सकता है; पर वह पूर्ण नहीं है, क्योंकि युक्ति स्वयं अपूर्ण है। तो भी, वही एकमात्र युक्तिसंगत विचार-प्रणाली है, जिसकी धारणा मानव मन कर सकता है।

यह कुछ अंशों में सत्य है कि किसी भी मत के परिपुष्ट होने के लिए उसका प्रचार होना चाहिए। किसी भी मत का उतना प्रचार नहीं हुआ, जितना कि वेदान्त

का। अभी भी शिक्षा व्यक्तिगत सम्पर्क द्वारा ही होती है। बहुत सा पढ़ लेने से ही 'मनुष्य' का निर्माण नहीं होता। जितने भी यथार्थ मनुष्य हो चुके हैं, वे सब व्यक्तिगत सम्पर्क द्वारा ही बने थे। यह सत्य है कि ऐसे यथार्थ मनुष्य बहुत कम संख्या में हैं, पर उनकी संख्या बढ़ेगी। तो भी, यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि एक ऐसा भी दिन आयेगा, जब हम सबके सब दार्शनिक बन जायँगे। हमारा इस बात में विश्वास नहीं कि कभी ऐसा समय आयेगा, जब केवल सुख ही सुख रहेगा और दुःख का सर्वथा अभाव हो जायगा।

हमारे जीवन में कुछ क्षण ऐसे आते हैं, जब हमें परमानन्द की झलक मिल जाती है, और उस समय हम न कुछ लेना चाहते हैं, न देना—उस महदानन्द की अनुभूति की अवस्था में हम उस आनन्द को छोड़ और कुछ भी अनुभव नहीं करते। पर ये क्षण लुप्त हो जाते हैं और पुनः हम विश्व के प्रपंच को अपने सामने चलते-फिरते देखते हैं। हम जानते हैं कि यह सब सभी वस्तुओं के आधारस्वरूप ईश्वर पर चित्रित रंग-बिरंगी पच्चीकारी मात्र है।

वेदान्त शिक्षा देता है कि निर्वाण-लाभ यहीं और अभी हो सकता है, उसके लिए हमें मृत्यु की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं। निर्वाण का अर्थ है आत्म-साक्षात्कार कर लेना; और यदि एक बार भी, वह चाहे क्षण भर के लिए ही क्यों न हो, हमें यह अवस्था प्राप्त हो गयी, तो फिर कभी भी हम व्यक्तित्व की भ्रांति से विमोहित न हो सकेंगे। हमारे चक्षु हैं, अतः हम प्रतीयमान वस्तु को ही देखते हैं, पर हमने इसके वास्तविक स्वरूप को जान लिया है और हमें सदैव यह ज्ञान रहता है कि वह है क्या; हमने उसके वास्तविक स्वरूप को जान लिया है। यह वह आवरण है, जिसने अपरिणामी आत्मा को ढक रखा है। आवरण खुल जाता है और तब हम इसके पीछे अवस्थित आत्मा को देख पाते हैं। सभी परिवर्तन या परिणाम आवरण में ही होते हैं। साधु पुरुष में यह आवरण इतना महीन होता है कि उसमें आत्मा की हमें स्पष्ट झलक दिखायी पड़ती है; पर पापी में यह आवरण इतना मोटा होता है कि हम इस सत्य में संशय करने लग जाते हैं कि पापी के पीछे भी वही आत्मा है, जो साधु पुरुष के पीछे विद्यमान है। जब सम्पूर्ण आवरण हट जाता है, तब हम देखने लगते हैं कि वास्तव में आवरण का अस्तित्व किसी काल में नहीं था—हम सदैव आत्मा ही थे, अन्य कुछ भी नहीं; यहाँ तक कि आवरण की बात ही भूल जाती है।

जीवन में इस विभेद के दो चरण हैं: पहला तो यह कि जो मनुष्य आत्मज्ञानी है, उस पर किसी भी बात का प्रभाव नहीं पड़ता और दूसरे, ऐसा ही मनुष्य संसार का हित कर सकता है। केवल वही मनुष्य परोपकार का वास्तविक उद्देश्य समझ

सकता है, क्योंकि वह जानता है कि ब्रह्म-व्यतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं। इस उद्देश्य को हम अहंवादिता नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा होने से तो उसमें भेद-ज्ञान आ जायगा। यही एकमात्र निःस्वार्थपरता है। इस अवस्था में व्यक्ति का बोध नहीं होता, सर्वगत आत्मा का बोध होता है। प्रेम और सहानुभूति का प्रत्येक कार्य इसी सर्वव्यापी तत्त्व की पुष्टि करता है। 'मैं नहीं, तू।' दार्शनिक ढंग से इसे यों कह सकते हैं कि दूसरों की सहायता इसलिए करो कि तुम उसमें और वह तुममें है। केवल सच्चा वेदान्ती ही बिना किसी दुःख या हिचकिचाहट के दूसरे के लिए अपना जीवन दे सकता है, क्योंकि वह जानता है कि वह अमर है। जब तक संसार में एक कीड़ा भी जीवित है, तब तक वह जीता है; जब तक खानेवाला एक भी मुँह है, तब तक वह खाता है। अतः, वह दूसरों का हित करता जाता है; और शरीर-रक्षा के इन आधुनिक विचारों की तनिक भी परवाह नहीं करता। जब मनुष्य इस त्याग की अवस्था में आरूढ़ हो जाता है, तब वह नैतिक संघर्ष के —समस्त वस्तुओं के परे चला जाता है। तब, वह महापंडित, गाय, कुत्ते और घृणित से घृणित पदार्थों में विद्वान्, गाय, कुत्ता या घृणित पदार्थ नहीं देखता, किन्तु सर्वभूतों में उसी देवत्व का प्रकाश देखता है। केवल वही सुखी है। और जिसने इस एकत्व का अनुभव कर लिया है, उसने इस जीवन में ही संसार पर विजय प्राप्त कर ली है। परमात्मा पवित्र है; अतः ऐसा व्यक्ति परमात्मा में अवस्थित कहा जाता है। ईसा मसीह ने कहा है, 'मैं अब्राहम[1] के भी पहले से हूँ।' इसका अर्थ यह है कि ईसा और उनकी तरह के अन्य लोग मुक्त आत्माएँ हैं। ईसा ने पूर्व कर्मों से बाध्य होकर मनुष्य-शरीर ग्रहण नहीं किया, किन्तु केवल मानव जाति का हित करने के लिए उन्होंने नर-देह धारण की। यह बात नहीं है कि मुक्त होने पर मनुष्य कर्म करना छोड़ दे और निर्जीव मिट्टी का ढेर बन जाय, प्रत्युत् वह अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक कर्मशील होता है, क्योंकि अन्य लोग तो केवल बाध्य होकर कर्म करते हैं, पर वह स्वतंत्र होकर।

यदि हम ईश्वर से अभिन्न हैं, तो क्या हमारा पृथक् व्यक्तित्व नहीं है? हाँ, है, और वह है ईश्वर। हमारा व्यक्तित्व ईश्वर ही है। अभी तुम अपना जो व्यक्तित्व देख रहे हो, वह तुम्हारा यथार्थ व्यक्तित्व नहीं—तुम यथार्थ व्यक्तित्व की ओर अग्रसर हो रहे हो। 'इंडिविजुअल्टी' (व्यक्तित्व) का अर्थ है जिसका 'डिवीज़न' (विभाजन) न हो सके। तुम वर्तमान व्यक्तित्व को व्यक्तित्व कैसे कह सकते हो? अभी तुम एक तरह से सोच रहे हो, घण्टे भर बाद कुछ दूसरी

---

१. यहूदियों का एक पूर्वपुरुष।

तरह से चिन्ता करने लगते हो, और दो घण्टे बाद कुछ तीसरी ही तरह से। व्यक्तित्व तो वह है, जो बदलता नहीं—वह समस्त वस्तुओं से परे है, अपरिणामी है। यदि यह वर्तमान स्थिति ही चिरकाल तक बनी रहे, तो यह बड़ी ही भयानक बात होगी; क्योंकि तब तो चोर या दुष्ट सदैव चोर या दुष्ट ही बना रहेगा। यदि किसी बच्चे की मृत्यु हो जाय, तो वह सदा बच्चा ही बना रहेगा। यथार्थ व्यक्तित्व वह है, जिसमें कभी भी परिवर्तन नहीं होता, और न होगा—और वह है अन्तःस्थित परमात्मा।

वेदान्त वह विशाल सागर है, जिसके वक्ष पर युद्ध-पोत और साधारण बेड़ा दोनों पास पास रह सकते हैं। वेदान्त में यथार्थ योगी, मूर्तिपूजक, नास्तिक इन सभी के लिए पास पास रहने को स्थान है। इतना ही नहीं, वेदान्त-सागर में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई या पारसी सभी एक हैं—सभी उस सर्वशक्तिमान परमात्मा की सन्तान हैं।

क्या वेदान्त भावी युग का धर्म होगा ?

(सैन फ़ान्सिस्को में ८ अप्रैल, १९०० ई० को दिया गया भाषण)

इधर लगभग महीने भर मेरे व्याख्यानों में उपस्थित रहने से तुम लोगों को अब तक वेदान्त दर्शन के आधारभूत सिद्धान्तों का थोड़ा-बहुत परिचय मिल चुका होगा। संसार भर में प्राचीनतम धर्म-दर्शन है वेदान्त, लेकिन वह लोकप्रिय हुआ है, ऐसा कदापि नहीं कहा जा सकता। इसलिए 'क्या वेदान्त भावी युग का धर्म होगा ?' इस प्रश्न का उत्तर दे सकना बड़ा कठिन है।

मैं यह पहले ही बता दूं कि अधिकांश मानवता कभी इसे अपना धर्म मानेगी, इसका मैं अनुमान नहीं लगा पाता। क्या संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे एक समग्र राष्ट्र को वह कभी प्रभावित कर सकेगा ? शायद वह कर सके ! जो भी हो, आज की संध्या का प्रतिपाद्य विषय यही रहेगा।

वेदान्त क्या नहीं है, इससे आरम्भ कर, वेदान्त क्या है, इसका परिचय दूंगा। लेकिन यह याद रखो कि निरपेक्ष सिद्धान्तों पर ज़ोर देने के साथ साथ वेदान्त का किसी अन्य विचारधारा से विरोध नहीं है। हां, मौलिक सिद्धान्तों का जहाँ तक सम्बन्ध है, उसका किसीसे समझौता या अपने सत्य पक्ष का त्याग सम्भव नहीं है।

तुम सबको मालूम है कि धर्म के निर्माण के लिए कुछ उपादान आवश्यक होते हैं। इनमें ग्रंथ का स्थान सर्वोपरि है। ग्रंथ की शक्ति अद्भुत है। कारण जो भी हों, ग्रंथ मानवीय श्रद्धा के ध्रुव केन्द्र हैं। आज के जीवित धर्मों में ऐसा कोई भी नहीं है, जिसका अपना ग्रंथ न हो। तर्कवाद और लंबी-चौड़ी बातों के बावजूद मानवता ग्रंथों से चिपकी हुई है। आपके देश में ही ग्रंथरहित धर्म के प्रचार का सारा प्रयास विफल हुआ है। भारत में सम्प्रदायों का आरम्भ तो सफलतापूर्वक हो जाता है, किन्तु कुछ ही वर्षों में वे इसलिए दिवंगत हो जाते हैं कि उनके पीछे कोई ग्रंथ नहीं होता। यही अन्य देशों में होता है।

एकत्ववादी (Unitarian) आन्दोलन के उत्थान और पतन के इतिहास को लो। वह तुम्हारे राष्ट्र के सर्वोच्च चिन्तन का प्रतीक है। मेथाडिस्ट (Methodist), बैप्टिस्ट (Baptist) और इतर ईसाई सम्प्रदायों की भाँति उसका

प्रचार क्यों नहीं हो सका ? कारण स्पष्ट है। उसका अपना कोई ग्रंथ न था। ठीक विपरीत यहूदियों को देखो। मुट्ठी भर लोग, हर राष्ट्र से खदेड़े जाकर भी संघटित हैं, क्योंकि उनका अपना धर्मग्रंथ है। पारसियों को लो, दुनिया भर में वे केवल एक लाख ही होंगे। जैन सम्प्रदाय के अनुयायी भारत में दस ही लाख रह गये हैं। क्या तुम जानते हो कि ये थोड़े से पारसी और जैनी केवल अपने धर्मग्रंथों की बदौलत ही जीवित हैं ? आज जितने भी जीवित धर्म हैं, उनमें से प्रत्येक का अपना स्वतंत्र धर्मग्रंथ है।

धर्म की दूसरी आवश्यकता है व्यक्तिविशेष के प्रति पूज्य भाव। यह विशिष्ट व्यक्ति विश्व के स्वामी या महान् उपदेशक के रूप में पूजा जाता है। मनुष्य के लिए किसी देहधारी मानव की उपासना करना अनिवार्य है। कोई अवतारी पुरुष, पैग़म्बर या महान् नेता मानव को चाहिए ही। सारे धर्मों में आज यही बात दिखायी पड़ेगी। हिंदू और ईसाई धर्मों में अवतार की मान्यता है। बौद्ध, इस्लाम, यहूदी आदि धर्मों में पैग़म्बर को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। लेकिन लक्ष्य सबका समान है—उनकी पूजा-भावना किसी व्यक्ति या व्यक्ति समुदाय पर केन्द्रित है।

धर्म की तीसरी आवश्यकता यह है कि सबल और आत्मविश्वासयुक्त होने के लिए उसे केवल अपने को ही सत्य मानना चाहिए। अन्यथा जन-समाज पर उसका प्रभाव नहीं के बराबर होगा।

उदारवादिता (Liberalism) मानव मन में धर्मान्धता को जगा नहीं पाती, स्वयं अपने को छोड़कर किसी अन्य के प्रति शत्रुता का भाव नहीं जगा सकती, अतः वह मर जाती है। इसीलिए उदारता को बार बार पराभूत होना पड़ेगा। उसका प्रभाव भी इने-गिनों तक सीमित रहता है। इसका कारण भी स्पष्ट है। उदारवादिता हमें स्वार्थरहित बनाने की चेष्टा करती है। लेकिन हम निःस्वार्थी नहीं होना चाहते। उससे कोई तात्कालिक लाभ नहीं होता। स्वार्थी बने रहने में ही हमारा अधिक हित है। जब हम ग़रीब या साधनहीन होते हैं, हम उदारता की हामी भरते हैं। धन और शक्ति-संचय के क्षण से ही हम अतीव अनुदार हो जाते हैं। ग़रीब जनतंत्रवादी होता है। धनी बनते ही वह सामन्त बन जाता है। मानव-स्वभाव की यही प्रवृत्ति धर्मक्षेत्र में भी दिखायी पड़ती है।

किसी पैग़म्बर का आविर्भाव होता है। वह अपने अनुयायियों को हर तरह के पुरस्कारों का वचन और अनुसरण न करनेवालों को चिरन्तन नरक की धमकी देता है। और इस प्रकार वह अपने पंथ का प्रचार करता है। वर्तमान सारे प्रचारशील धर्म घोर कट्टरपंथी हैं। कोई सम्प्रदाय अन्य सम्प्रदायों से जितनी

घृणा करेगा, उतना ही वह सफल होगा और अपने अनुयायियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ाता जायगा। संसार के अधिकतर भागों में भ्रमण करने के उपरान्त और विविध जातियों के मध्य रहने एवं विश्व की वर्तमान स्थिति को ध्यान में रखते हुए मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि विश्वबन्धुत्व के सम्बन्ध में इतनी बातें होते रहने पर भी प्रस्तुत स्थिति चलती ही रहेगी।

वेदान्त इनमें से किसी पर भी विश्वास नहीं करता। उसकी सबसे मौलिक कठिनाई यही है कि किसी ग्रंथ पर उसकी आस्था नही है। एक ग्रंथ का दूसरे पर अधिकार उसे मान्य नहीं। कोई भी ग्रंथ ईश्वर, जीव, परम तत्त्व आदि सम्बन्धी सभी सत्यों का आश्रय हो सकता है, इस दावे का वह प्रबल विरोध करता है। तुममें से जिन्होंने उपनिषद् पढ़े हैं, उन्हें मालूम होगा कि उनकी बार बार यही घोषणा है—नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया (इस आत्मा को प्रवचन से अथवा बुद्धि से प्राप्त नहीं किया जा सकता)।

दूसरे, वह व्यक्तिविशेष की आराधना को और भी अधिक अग्राह्य मानता है। तुममें से वेदान्त के विद्यार्थी—वेदान्त से आशय उपनिषद् हैं—जानते हैं कि केवल यही धर्म किसी व्यक्तिविशेष से चिपका नहीं है। कोई भी एक स्त्री या पुरुष वेदांतियों की आराधना का पात्र नहीं बन सका है। यह सम्भव भी नहीं। कोई मानव किसी पक्षी या कीट की अपेक्षा अधिक पूज्य नहीं होता। हम सब भाई हैं। अन्तर केवल परिमाण का है। जो क्षुद्र कीट है, बिल्कुल वही मैं भी हूँ। इस प्रकार तुम देखते हो कि वेदान्त में, किसी व्यक्ति का हमारे आगे खड़ा होना, और हम सबका उसकी आराधना करना, उसका हमें घसीटते हुए आगे बढ़ाना और हमारा उद्धार करना, इसकी सम्भावना ही नहीं है। वेदान्त आपको यह सब नहीं देता। कोई ग्रंथ नहीं, पूजा के लिए कोई व्यक्ति नहीं, कुछ भी नहीं।

इससे भी अधिक कठिनता ईश्वर सम्बन्धी है। इस देश में तुम जनतंत्रवादी रहना चाहते हो ? वेदान्त जनतंत्रीय ईश्वर का ही उपदेश करता है।

तुम्हारी सरकार है; पर सरकार व्यक्ति-निरपेक्ष है। तुम्हारी कोई तानाशाही सरकार नहीं, फिर भी दुनिया के किसी भी राजतंत्र की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है। शायद यह कोई भी नहीं समझ पाता कि यथार्थ शक्ति, यथार्थ जीवन एवं वास्तविक बल अदृश्य, निरपेक्ष तथा शून्य सत्ता में छिपे हैं। दूसरों से अलग मात्र व्यक्ति की हैसियत से तुम्हारी कोई सत्ता नहीं, लेकिन स्वशासित राष्ट्र की अवैयक्तिक इकाई के रूप में तुम अतीव बलशाली हो। शासन-व्यवस्था में सम्मिलित सदस्य-समूह के नाते तो महान् शक्तिशाली हो।' किन्तु यथार्थतः यह शक्ति है कहाँ ? हर व्यक्ति ही वह शक्ति है। कोई राजा नहीं। मैं सबको समान देखता हूँ।

किसी के सामने मुझे टोपी उतारना या सिर झुकाना नहीं पड़ा है। फिर भी हर व्यक्ति में अद्‌भुत शक्ति छिपी हुई है।

वेदान्त पूर्णरूपेण यही है। उसका ईश्वर, सर्वथा सबसे दूर, एक ऊँचे सिंहासन पर विराजनेवाला महाराजा नहीं। ऐसे लोग भी हैं, जो अपना ईश्वर उसी रूप में देखना चाहते हैं, जिससे सभी भयभीत हों और जिसको प्रसन्न रखा जाय। वे उसके सामने दीप जलाते हैं और नाक रगड़ते हैं। वे एक राजा से शासित होना चाहते हैं और यहाँ की भाँति स्वर्ग में भी शासित होने की बात पर विश्वास रखते हैं। कम से कम इस राष्ट्र से तो राजा मिट ही गया है। अब स्वर्ग का राजा है कहाँ? केवल वहीं जहाँ लौकिक राजा है। इस देश में राजा प्रत्येक मनुष्य में निहित हो गया है। यहाँ तुम सब लोग राजा हो। यही वेदान्त का भी ध्येय है। तुम सब ईश्वर हो। केवल एक ईश्वर पर्याप्त नहीं। वेदान्त का अभिमत है, तुम सब ईश्वर हो।

इससे वेदान्त की कठिनाई और भी बढ़ जाती है। वह ईश्वर की पुरानी धारणा का प्रतिपादन करता ही नहीं। सुरलोक में रहकर हमारी अनुमति के बिना ही संसार की गतिविधि का आयोजन करनेवाले, अपनी लीला के लिए शून्य से हमारा सर्जन करनेवाले और निज परितोष के लिए हमें आपद्ग्रस्त करनेवाले ईश्वर की जगह वेदान्त सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक ईश्वर का निरूपण करता है। इस राष्ट्र से तो राजराजेश्वर की विदाई हो चुकी है। लेकिन वेदान्त से तो स्वर्ग का साम्राज्य सहस्रों वर्ष पूर्व ही लुप्त हो गया था।

भारत लौकिक परम भट्टारक का परित्याग नहीं कर सकता। इसी कारण वेदान्त भारत का धर्म नहीं हो सकता। जनतंत्र के कारण वेदान्त इस राष्ट्र का धर्म हो सकता है, परन्तु यह उसी हालत में सम्भव है जब तुम दिमाग़ में धुँधली विचारधाराओं एवं अन्धविश्वासोंवाले मनुष्य न बनकर उसे भली भाँति समझ सको और समझो, जब तुम सच्चे स्त्री-पुरुष बनो और जब तुम सच्चे अर्थों में आध्यात्मिक बनो, क्योंकि वेदान्त केवल अध्यात्म का ही विषय है।

स्वर्गस्थ ईश्वर की धारणा क्या है? भौतिकवाद। ईश्वरीय अनन्त तत्त्व जो हम सबमें समाविष्ट है, वेदान्त की धारणा है। बादलों के ऊपर विराजनेवाला ईश्वर! इसकी निरी ईशतिरस्कारिता पर विचार करो। यह भौतिकवाद है, कोरा भौतिकवाद! यदि शिशु ऐसा सोचें तो कोई बात नहीं। लेकिन परिपक्व बुद्धिवाले ऐसी बातों की शिक्षा देने लगें, तो यह अत्यधिक अरुचिकर है—यही उसका फल होता है। यह सब कुछ जड़ है, देह-भाव है, स्थूल भाव है, इन्द्रियगोचर विषय है। उसका प्रत्येक अंश मिट्टी है, कोरी मिट्टी है। यह भी कोई धर्म है?

अफ़्रीका के मम्बो-फ़म्बो 'धर्म' की भाँति यह कोई धर्म नहीं है। ईश्वर आत्मा है और आत्मा एवं सत्य के द्वारा ही उसकी उपासना होनी चाहिए। क्या आत्मा मात्र स्वर्ग-निवासी है? आत्मा है क्या? हम सब आत्मा हैं। क्या कारण है कि हम इसकी अनुभूति नहीं करते? कौन मुझसे तुम्हें अलग करता है? देह और कुछ नहीं। देह को भूलो, और सब आत्मा ही है।

ये वे बातें हैं, जो वेदान्त से अपेक्षित नहीं हैं। कोई धर्मग्रंथ नहीं। शेष मनुष्य जाति से पृथक् कोई मनुष्य नहीं, 'तुम कीट मात्र और हम जगदीश्वर' ऐसा कुछ नहीं। यदि तुम जगदीश्वर प्रभु हो तो मैं भी जगदीश्वर प्रभु हूँ। अतः वेदान्त पाप नहीं मानता। भूलें ज़रूर हैं, लेकिन पाप नहीं। कालान्तर में सभी ठीक होनेवाला है। कोई शैतान नहीं—ऐसी कोई बकवास नहीं। वेदान्त के अनुसार जिस क्षण तुम अपने को या इतर जन को पापी समझते हो, वही पाप है। इसीसे अन्य सब भूलों का या उनका जिन्हें बहुधा पाप की संज्ञा दी जाती है, सूत्रपात होता है। हमारे जीवन में अनेक भूलें हुई हैं। फिर भी आगे हम बढ़ते ही रहे हैं। हमसे भूलें हुईं, इसमें हमारा गौरव है! बीते जीवन का सिंहावलोकन करो। यदि तुम्हारी आज की हालत अच्छी है, तो उसका श्रेय सफलताओं के साथ साथ पिछली भूलों को भी मिलना चाहिए। सफलता भी गौरवशालिनी! विफलता भी गौरवशालिनी! बीते हुए की चिन्ता मत करो। आगे बढ़ो!

इस तरह तुम देखते हो कि वेदान्त पाप और पापी की स्थापना नहीं करता। वह (ईश्वर) एक ऐसी सत्ता है, जिससे हम कदापि आतंकित नहीं होंगे; क्योंकि वह हमारी अपनी आत्मा है। उसमें भीति जगानेवाले ईश्वर का आतंक नहीं। केवल एक ही सत्ता है, जिससे हमें डर नहीं है, वह ईश्वर है। तो क्या ईश्वर से डरनेवाला प्राणी ही यथार्थ में सबसे बड़ा अंधविश्वासी नहीं है? निज छाया से कोई भयभीत भले ही हो उठे, किन्तु वह भी निज से संत्रस्त नहीं है। ईश्वर मानव की ही आत्मा है। वही एक ऐसी सत्ता है, जिससे तुम कदापि भयभीत नहीं हो सकते। ईश्वर का भय व्यक्ति के अन्तराल में घर कर जाए, वह उससे थर्रा उठे, ये सब बातें अनर्गल नहीं तो और क्या हैं? ईश्वर की कृपा कहो कि हम सब पागल-ख़ाने में नहीं हैं! यदि हममें से अधिकांश पागल न हो गये हों, तो हम 'ईश्वर-भीति' जैसी धारणा का आविष्कार ही क्यों करें? भगवान् बुद्ध का कथन था कि न्यूनाधिक मात्रा में सारी मानवता विक्षिप्त है। लगता है कि यह पूर्णतः सत्य है।

कोई धर्मग्रंथ नहीं, कोई व्यक्ति (अवतार) नहीं, कोई सगुण ईश्वर नहीं। इन सभी को जाना होगा। फिर इन्द्रियों को भी जाना पड़ेगा। हम इन्द्रियों के दास नहीं रह सकते। अभी हम नदी में ठंड से ठिठुरकर मरनेवालों की भाँति,

आवद्ध हैं। सो जाने की ऐसी बलवती ईप्सा द्वारा वे लोग आक्रान्त हैं कि जब उनके साथी उन्हें मृत्यु से सजग कर जाग्रत करना चाहते हैं, तो वे कहते हैं, "जान जाय बला से। लेकिन नींद हराम न होने पाये।" हम इन्द्रिय-सुख की सस्ती वस्तु के शिकार हैं, भले ही उससे हमारा सर्वनाश ही क्यों न हो। हमने यह भुला दिया है कि जीवन में और अधिक महान् वस्तुएँ हैं।

एक हिन्दू पौराणिक कथा है कि ईश्वर ने एक बार धरती पर शूकरावतार लिया। उनकी एक शूकरी भी थी। कालान्तर में उनके कई शूकर सन्तानें हुईं। अपने परिवारवालों के बीच वे बड़े चैन से रहे। कीचड़ में लोटते हुए वे खूब मस्त थे। वे अपनी दिव्य महिमा एवं प्रभुता भूल बैठे। देवता बड़े चिन्तित हुए। वे धरती पर उतर आये और उनसे शूकर-शरीर त्याग कर देवलोक लौट चलने की विनती करने लगे। ईश्वर ने उनकी एक न सुनी और उन सबको दुत्कार दिया। वे बोले, "मैं बड़ा प्रसन्न हूँ और इस रंग में भंग देखना नहीं चाहता हूँ।" कोई चारा न देख देवताओं ने प्रभु का शूकर-शरीर नष्ट कर दिया। तत्क्षण ईश्वर की दिव्य भव्यता लौट आयी और वे बड़े विस्मित थे कि शूकर-स्थिति में वे प्रसन्न रहे कैसे!

मानवीय आचरण भी इसी प्रकार का है। जब कभी वे लोग निर्गुण ईश्वर की चर्चा सुनते हैं, तो उनकी प्रतिक्रिया होती है कि 'मेरे व्यक्तित्व का क्या होगा? व्यक्तित्व लुप्त ही हो जायगा।' फिर कभी ऐसा विचार मन में उठे तो उस शूकर की दशा याद कर लेना और तब देखना कि तुममें से प्रत्येक की प्रसन्नता का पारावार कितना असीम है! तुम अपनी वर्तमान स्थिति से कितने संतुष्ट हो। लेकिन जब तुम्हें यह अनुभव हो जायगा कि तुम यथार्थतः क्या हो, तो तुम यह देखकर तत्क्षण आश्चर्यचकित हो जाओगे कि इन्द्रिय-जीवन के परित्याग के प्रति तुम अनिच्छुक क्यों हो। तुम्हारे व्यक्तित्व में रहा ही क्या है? वह शूकर-जीवन से कहीं बढ़कर है? और क्या तुम इसीको छोड़ना नहीं चाहते! प्रभु हमारा कल्याण करे!

वेदान्त की शिक्षा क्या है? प्रथमतः, यह शिक्षा देता है कि सत्य-दर्शन के लिए तुम्हें अपने से भी बाहर जाने की जरूरत नहीं। सभी अतीत और सभी अनागत इसी वर्तमान में निहित हैं। कभी किसीने अतीत को नहीं देखा। क्या तुममें से किसीने अतीत को देखा है? जब यह सोचते हो कि तुम अतीत को जानते हो, तो तुम केवल वर्तमान में ही अतीत की कल्पना करते हो। भविष्य को देखने के लिए तुम्हें इसे वर्तमान में उतार लाना पड़ेगा, जो वर्तमान यथार्थ सत्य है—शेष सब कल्पना है। वर्तमान ही सब कुछ है। केवल वही 'एक' है—एकमेवाद्वितीयम्। जो कुछ है, सब इसीमें है। अनन्त काल का एक क्षण दूसरे प्रत्येक क्षण की ही

भाँति अपने में पूर्ण और सबको समाहित कर लेनेवाला है। जो कुछ है, था और होगा, सब इसी वर्तमान में है। इससे परे किसी कल्पना में कोई प्रवृत्त हो तो वह विफल मनोरथ होगा।

क्या इस पृथ्वी से भिन्न स्वर्ग का चित्रण कोई धर्म कर सकता है? और यह सब कला मात्र है, केवल इस कला का ज्ञान हमें धीरे धीरे होता है। हम पंचेन्द्रियों के सहारे इस सृष्टि को निरखते हैं और उसे रंग-रूप-शब्द आदि से युक्त स्थूल ही पाते हैं। मान लो, विद्युत्-चेतना का मुझमें स्फुरण हो जाय तो सब कुछ बदल जायगा। मान लो कि मेरी इन्द्रियाँ सूक्ष्मतर हो जायँ, तो तुम सब बदले नजर आओगे। मैं ही बदल जाऊँ तो तुम भी बदल जाओगे। यदि मैं इन्द्रियों की सीमा पार कर लूं, तो तुम सब आत्मरूप तथा ईश्वर-रूप दिखोगे। जगत् का दृश्य रूप सत्य नहीं है।

हम इसको शनैः शनैः समझ सकेंगे और तब हम देखेंगे कि स्वर्ग आदि सब कुछ यहीं है; इसी क्षण है और दिव्य सत्ता पर अध्यासों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह सत्ता सभी—लोकों एवं स्वर्गों से बढ़कर है। लोगों का विचार है कि यह संसार त्रुटिपूर्ण है और वे कल्पना करते हैं कि स्वर्ग कहीं अन्यत्र है। यह संसार बुरा नहीं है। तुम जानो तो यह साक्षात् ईश्वर है। इसका बोध भी दूभर है और इस पर विश्वास करना और भी दुष्कर है। कल फाँसी पर लटकाया जानेवाला हत्यारा भी ईश्वर है, पूर्ण ब्रह्म है। अवश्य ही यह विषय जटिल है, पर वह बोधगम्य हो सकता है।

इसीलिए वेदान्त का प्रतिपाद्य है 'विश्व का एकत्व', विश्वबन्धुत्व नहीं। मैं भी वैसा हूँ, जैसा एक मनुष्य है, एक जानवर है—बुरा, भला या और कुछ भी। सब परिस्थितियों में यह एक ही देह, एक ही मन और एक ही आत्मा है। आत्मा का अंत नहीं। कहीं कोई विनाश नहीं, देह का भी अंत नहीं। मन भी मरता नहीं है। देह का अन्त हो कैसे? एक पत्ती झड़ जाय तो क्या पेड़ का अंत हो जायगा? यह विराट् विश्व ही मेरी देह है। देखो, कैसी इसकी अविकल परम्परा है। सारे मन मेरे मन हैं। सबके पैरों से मैं ही चलता हूँ। सबके मुंह से मैं ही बोलता हूँ। सबके शरीर में मेरा ही निवास है।

मैं इसका अनुभव क्यों नहीं कर पाता हूँ? इसका कारण है वही व्यक्तित्व भाव, वही शूकरपना। इस मन से तुम आबद्ध हो चुके हो और तुम यहीं रह सकते हो, वहाँ नहीं। अमरत्व है क्या? कितने कम लोग यह उत्तर देंगे कि 'वह हमारा यह जीवन ही है!' बहुतेरों की धारणा है कि यह जीवन मरणशील है, प्राणहीन है—ईश्वर यहाँ नहीं है, स्वर्ग पहुँचने पर ही वे अमर होंगे। उनकी कल्पना है कि मृत्यु के बाद ही ईश्वर से उनका साक्षात्कार होगा। लेकिन, यदि वे इसी जीवन में

और अभी उसका साक्षात्कार नहीं करते, तो मरने के बाद भी उसे नहीं देख पायेंगे। यद्यपि अमरता पर उनकी आस्था है, तो भी उन्हें यह अज्ञात है कि अमरता मरने और स्वर्ग जाने से नहीं, बल्कि व्यक्तिवाद की इस शूकर-प्रवृत्ति और क्षुद्र देह-बन्धन से अपने को आबद्ध न करने पर ही प्राप्त होती है। निज को सबमें, सबको निज में जानने, समस्त मन से देखने की ही संज्ञा अमरता है। हमें दूसरों के शरीर में भी आत्मदर्शन अवश्य ही मिलेगा। सहानुभूति या समानुभूति है क्या? क्या सहानुभूति की भी सीमा निर्दिष्ट है? सम्भवतः एक ऐसा भी समय आयेगा, जब कि समस्त सृष्टि से मैं तादात्म्य अनुभव कर पाऊँगा।

इससे लाभ? इस शूकर-देह का परित्याग करना कठिन है। अपनी छोटी सी वासनामय देह के आनन्द के परित्याग से हमें पश्चात्ताप होता है। वेदान्त का लक्ष्य 'देह-भाव-त्याग' नहीं, 'देह-भाव-अतिक्रमण' है। तपश्चर्या आवश्यक नहीं — दो देहों का भी उपभोग भला—तीन का भी भला। एक से अधिक देहों में जीवन-यापन करना अच्छा! जब मैं निख़िल सृष्टि से तादात्म्य का सुख लूट सकता हूँ, तो सम्पूर्ण सृष्टि ही मेरा शरीर है।

बहुत से ऐसे हैं जो यह उपदेश सुनते ही संत्रस्त हो जाते हैं। उन्हें यह सुनना पसन्द नहीं कि वे क्षुद्र पशुदेहधारी नहीं, जिनका किसी निरंकुश भगवान् ने सर्जन किया है। मेरा उनसे अनुरोध है, 'ऊपर उठो!' वे कहते हैं कि 'पाप में हमारा जन्म हुआ, किसीके अनुग्रह के बिना वे अपना उद्धार नहीं कर सकते।' मैं कहता हूँ, "तुम दिव्य तेजसंभूत हो।" उनका जबाब है, "आप नास्तिक हैं, ऐसी बकवास करने का आप साहस कैसे करते हैं। एक अति दुःखी जीव परमेश्वर कैसे हो सकता है? हम सभी पापी हैं।" तुम्हें विदित है, कभी कभी मैं बेहद निराश हो जाता हूँ। सैकड़ों स्त्री-पुरुष मुझसे कहते हैं कि यदि कोई भी नरक नहीं है, तो कोई धर्म कैसे हो सकता है? यदि ये लोग खुशी खुशी नरक जाते हैं, तो इन्हें कौन रोक सकता है!

तुम जिसका स्वप्न देखोगे, जो सोचोगे, उसीकी सृष्टि करोगे। अगर यह नरक है, तो मरते ही तुम्हें नरक दिखेगा। अगर वह असत् और शैतान है, तो तुम्हें शैतान ही मिलेगा। अगर प्रेत हैं, तो प्रेत ही देखोगे। तुम जो कुछ सोचते हो, वही बनते भी हो। अगर तुम्हें सोचना हो तो अच्छे-ऊँचे विचार मन में लाओ। मान लिया कि तुम कमजोर क्षुद्र कीट हो। अपने को कमजोर घोषित करने से हम कमज़ोर बनेंगे, हमारी हालत बेहतर न होगी। कल्पना करो कि हमने प्रकाश बुझा दिया, खिड़कियाँ बन्द कर दीं और कमरे को अंधकारपूर्ण कहने लगे! इससे बढ़कर प्रलाप क्या होगा! अपने को पापी कहने से लाभ मुझे क्या मिलता है? यदि मैं अँधेरे में हूँ, तो रोशनी कर लूँ। फिर सारी बला टली। फिर भी मानव

स्वभाव कितना विचित्र है ! विश्व-मन को अपने जीवन का नित्य आधार जानकर भी लोग शैतान, अँधेरा, झूठ आदि पर ही ज़्यादा सोचते हैं। तुम उन्हें सही बताओ, उन्हें विश्वास नहीं होता। उन्हें अँधेरा ही ज़्यादा पसन्द है।

यह वेदान्त की ओर से उठाया गया एक महान् प्रश्न है कि लोग इतने भयभीत क्यों हैं ? जवाब सीधा है कि उन्होंने अपने को असहाय और पराश्रित बना लिया है। हम इतने आलसी हैं कि अपने लिए स्वयं कुछ करना नहीं चाहते। हम अपना प्रत्येक काम कराने के लिए किसी सगुण ईश्वर की, किसी त्राता की या किसी पैग़म्बर की कामना करते हैं। एक बड़ा अमीर आदमी कभी पैदल नहीं चलता, हमेशा सवारी पर घूमता है। लेकिन कुछ वर्ष बाद वह पंगु बन जाता है, तो उसकी नींद खुलती है। वह महसूस करने लगता है कि उसके जीने का ढंग अन्ततः अच्छा न था। मेरे लिए दूसरा कोई नहीं चल सकता है। जब कभी किसीने मेरे लिए किया, तो उससे नुक़सान मेरा ही होता था। दूसरा कोई किसीका हर काम करने लगे तो उसके हाथ-पैर बेकार हो जायँगे। जो कुछ भी हो, हम स्वयं करते हैं, वही हमें करना है। दूसरे की ओर से हुआ कोई काम कभी हमारा अपना नहीं हो सकता है ! मेरे व्याख्यानों से अध्यात्म के रहस्य तुम नहीं सीख पाओगे। तुम जो कुछ भी सीख सके हो, उसके लिए मैं चिनगारी मात्र हूँ, जिसने इसको अंगारे में परिवर्तित किया। पैग़म्बर या उपदेशक इतना ही कर सकते हैं। सहायता प्राप्त करने के लिए मारे मारे फिरना मूर्खता है।

तुम जानते हो, भारत में बैलगाड़ियाँ होती हैं। यों एक गाड़ी में दो बैल जोते जाते हैं और कभी कभी जुए की नोंक पर तिनके का एक गुच्छा लटका दिया जाता है, वह बैलों के ठीक सामने किन्तु उनकी पहुँच से कुछ दूर होता है। बैल लगातार उसे खा लेने की कोशिश करते हैं, लेकिन असफल ही रहते हैं। हमें दूसरों से मिलनेवाली मदद का असली रूप यही है। हम सोचते हैं कि हमें सुरक्षा, शक्ति, विवेक, संतोष आदि बाहर से मिलेंगे। हमारी आशा सतत बनी रहती है, किन्तु वह कभी पूरी नहीं होती। किसीको भी बाहर से सहायता कभी नहीं प्राप्त होती।

मनुष्य को कोई सहायता नहीं प्राप्त होने की। न कोई सहायता कभी मिली, मिल रही है और न मिलेगी ही। सहायता की आवश्यकता भी क्या है ? क्या तुम पुरुष और स्त्री नहीं हो ? क्या पृथ्वी के पालक को दूसरों की सहायता चाहिए ? क्या तुम लज्जित नहीं होते ? तुम ख़ाक बन जाओ तो तुम्हें मदद मिलेगी। पर तुम तो आत्मरूप हो। स्वयं कठिनाइयों से छुटकारा पाओ ! कोई तुम्हारा सहायक नहीं है और न कभी था। अपनी रक्षा स्वयं करो। यह सोचना कि कोई सहायक है, मीठा सपना मात्र है। उससे कोई लाभ नहीं होने का।

एक बार एक ईसाई मेरे पास आया और बोला—"आप घोर पापी हैं।" मैंने जवाब दिया—"जी हाँ ! मैं पापी हूँ। आप अपना काम देखिए।" वह ईसाई प्रचारक था। उसने मुझे तंग करना न छोड़ा। मैं जब उसे देखता हूँ, तो भाग खड़ा होता हूँ। वह कहने लगा—"मेरे पास आपकी भलाई के लिए कुछ उपाय हैं। आप पापी हैं और नरक में गिरने जा रहे हैं।" मेरा जवाब था—"बहुत खूब ! और कुछ ?" मैंने उससे प्रश्न किया—"आप कहाँ जानेवाले हैं ?" वह बोल उठा—"मैं स्वर्ग जानेवाला हूँ।" मैंने बता दिया—"मैं नरक जाऊँगा।" उस दिन से उसने पिण्ड छोड़ दिया।

अब एक ईसाई महोदय आते हैं और कहते हैं—"आपका सर्वनाश निश्चित है; लेकिन यदि आप इस धर्म-सिद्धान्त पर विश्वास करें, तो ईसा मसीह आपको बचा लेंगे।" यह अगर सच होता—मैं निश्चित रूप से जानता हूँ कि यह कोरा अंधविश्वास है—तो ईसाई राष्ट्रों में कोई कुटिलता न होती। थोड़ी देर के लिए इसमें विश्वास भी कर लें—मानने में लगता क्या है—लेकिन फिर कोई असर क्यों नहीं नज़र आता ? मेरे पूछने पर कि "इतने कुटिल स्वभाववाले—खल—क्यों हैं ?" तो जवाब मिलता है "अभी हमें अधिक परिश्रम करना है।" ईश्वर पर विश्वास रखो, किन्तु बारूद सूखी रखो ! ईश्वर से प्रार्थना करो, और ईश्वर को उद्धार करने के लिए आने दो। लेकिन मैंने ही सभी संघर्ष किये, मेरी ही प्रार्थना-पूजा रही; समस्याओं का समाधान मैं निकालूँ—और ईश्वर उसके गौरव का भागी बने। यह ठीक नहीं। मैं कदापि ऐसा नहीं करने का।

मैं एक बार प्रीतिभोज में निमंत्रित था। आतिथेया ने मेरे मुँह से 'कल्याण हो' कहलवाना चाहा। मैं बोला, "देवी जी ! मैं आपकी कल्याण-कामना करता हूँ। आशीर्वाद-धन्यवाद दोनों आपको ही अर्पित हैं।" मैं जब काम में लगता हूँ, तो अपने लिए 'कल्याण' कह लेता हूँ। गौरव मुझे मिलना चाहिए कि मैं अथक परिश्रम कर पाया और यह सब कुछ प्राप्त कर सका।

कड़ा परिश्रम करो तुम और धन्यवाद दो दूसरों को ! यह इसलिए कि तुम अंधविश्वासी हो, डरपोक हो। हज़ारों वर्षों के पाले-पोसे अंधविश्वास की अब कोई आवश्यकता नहीं। आध्यात्मिक बनने में थोड़ा विशेष परिश्रम लगता है। अंधविश्वास मात्र भौतिकवादिता है, क्योंकि उनका अस्तित्व ही देह पर आधारित है। वहाँ आत्मा के लिए स्थान नहीं ! आत्मा अंधविश्वास से असम्पृक्त है—वह देहज क्षुद्र वासनाओं से परे है।

आत्मा के क्षेत्र में भी जहाँ-तहाँ क्षुद्र वासनाएँ प्रक्षेपित होने लगी हैं। मैं कई प्रेतात्मा सम्बन्धी सभाओं में गया हूँ। उनमें से एक में एक महिला सभानेत्री थीं।

वे मुझसे बोलीं—"आपकी माता जी और आपके पितामह मेरे यहाँ आते हैं।" उन्होंने कहा कि "उन्होंने मेरा अभिवादन किया और मुझसे बातें कीं।" किन्तु मेरी माता जी अभी जीवित हैं! लोगों का यह प्रिय विषय सा हो गया है कि मरने के बाद भी उनके सगे सम्बन्धी सुपरिचित शरीर में ही जी रहे हैं और प्रेतात्मवादी उनके अंधविश्वास का फ़ायदा उठाते हैं। मुझे बड़ा दुःख होगा कि मेरे स्वर्गीय पिता अपने उसी घिनौने शरीर को अभी भी धारण किये हुए हैं। उनके सभी पितर जड़ावृत हैं; इससे लोगों को सान्त्वना मिलती है। एक स्थान पर ईसा मसीह मेरे सामने हाज़िर कराये गये। मैं पूछ बैठा, "प्रभो, आप कैसे हैं?" मेरे लिए ये सभी बातें निराशाजनक हैं। यदि वह संत महापुरुष अभी भी शरीरधारी हैं, तो हम बेचारे जीवधारियों का क्या होगा? प्रेतात्मवादियों ने उन बुलाये गये सज्जनों में से किसीको छूने नहीं दिया। यदि यह सब सच भी है, तो भी मुझे उनकी आवश्यकता नहीं। मैं सोचता हूँ—'माँ! माँ! ये नास्तिक—सचमुच लोगों की यही समुचित संज्ञा है! केवल पंचेन्द्रियों की वासना मात्र हैं! यहाँ के प्राप्त पदार्थों से तृप्त न होकर मरने के बाद भी उन्हींको और अधिक पाने के इच्छुक हैं।'

वेदान्त का ईश्वर क्या है? वह व्यक्ति नहीं, विचार है, तत्त्व है। तुम और हम सब सगुण ईश्वर हैं। विश्व का परात्पर ईश्वर, विश्व का स्रष्टा, विधाता और संहर्ता परमेश्वर निर्विशेष तत्त्व है। तुम-हम, चूहे-बिल्ली, भूत-प्रेत आदि सभी उसके रूप हैं—सभी सगुण ईश्वर हैं। तुम्हारी इच्छा है सगुण ईश्वर की उपासना करने की। वह तो अपनी आत्मा की ही उपासना है। यदि तुम मेरी राय मानो तो किसी भी गिरजाघर में क़दम न रखो। बाहर निकलो, जाओ, और अपने को प्रक्षालित कर डालो। जब तक कि युग युग के चिपके-जमे तुम्हारे अंधविश्वास बह न जायें, तब तक अपने को बारंबार प्रक्षालित करते रहो। शायद यह काम तुम्हें न रुचे, क्योंकि तुम तो इस देश में नहाते ही कम हो, स्नान पर स्नान भारत की रीति है, तुम्हारे समाज की नहीं।

मुझसे प्रायः पूछा गया है, "मैं इतना अधिक हँसता और व्यंग-विनोद करता क्यों हूँ?" जब कभी पेट दर्द करने लगता है, तो कभी कभी गम्भीर हो जाता हूँ! ईश्वर केवल आनन्दपूर्ण है। सभी अस्तित्व के मूल में एकमात्र वही है, निखिल विश्व का वही शिव है, सत्य है। तुम उसीके अवतार मात्र हो। यही गौरव की बात है। उसके जितने अधिक निकट तुम होओगे, तुम्हें उतना ही कम चीखना-चिल्लाना पड़ेगा। उससे जितनी दूर हम होते हैं, उतना ही अधिक हमें अवसाद झेलना पड़ता है। जितना अधिक उसे जानते हैं, उतना ही संकट टलता जाता है। यदि प्रभु में लीन होनेवाला भी पीड़ित रहे, तो उसकी तल्लीनता से लाभ क्या? ऐसे ईश्वर

का भी कोई उपयोग है? प्रशान्त महासागर में उसे फेंक दो! हमें उसकी आवश्यकता नहीं!

लेकिन ईश्वर तो अनन्त है, निर्विशेष सत्ता है—सच्चिदानन्द है, निर्विकार है, अमर है, अभय है, और तुम सब उसके अवतार हो, अंगमात्र हो। वेदान्त का ईश्वर यही है, जिसका स्वर्ग सर्वत्र ही है। इस स्वर्ग में समस्त सगुण ईश्वर निवास करते हैं। तुम सभी मन्दिरों में प्रार्थना, पुष्प-समर्पण आदि से विरत रहो!

तुम्हारी प्रार्थना का ध्येय क्या है? स्वर्ग-प्राप्ति, किसी की वस्तु-सिद्धि, और दूसरों को उससे वंचित करने की कामना। "प्रभो! भोजन मुझे खूब मिले! दूसरा भले ही भूखा रहे!" नित्य, अनन्त, शाश्वत, सच्चिदानन्दस्वरूप उस ईश्वर की कैसी भव्य कल्पना है, जिसमें कोई भेद नहीं, कोई दोष नहीं, जो सदा स्वतंत्र, निरन्तर निर्मल एवं सतत परिपूर्ण है! हम उसे समस्त मानवीय लक्षणों, कार्य-व्यापारों एवं सीमाओं से आभूषित करते हैं। उसे हमारे लिए खाना देना पड़ेगा, कपड़ा देना पड़ेगा। वस्तुतः ये सारे काम हमें स्वयं करने होंगे, और कभी भी किसीने यह सब हमारे लिए नहीं किया। यही स्पष्ट सत्य है।

किंतु तुम शायद ही कभी इस पर विचार करते हो। तुम यह कल्पना करते हो कि एक ईश्वर है, जिसके तुम विशेष कृपा-पात्र हो, जो तुम्हारी मनौतियाँ पूरी करता है; और तुम उससे समस्त मानव, सम्पूर्ण जीवधारियों पर कृपा करने का अनुरोध नहीं करते, बल्कि निज के लिए, निज परिवार के लिए, अपनी बिरादरी भर के लिए उसके अनुग्रह का आग्रह करते हो। जब हिन्दू भूखा है, तो तुम्हें उसकी चिंता नहीं है; उस समय तुम यह नहीं विचारते कि ईसाइयों का ईश्वर ही हिन्दुओं का ईश्वर भी है। ईश्वर सम्बन्धी हमारी सारी धारणाएँ, प्रार्थनाएँ, उपासनाएँ देह-बुद्धि के, अज्ञान के प्रभाव से विकृत हैं। हो सकता है, मेरी बात तुम्हें अच्छी न लगे। आज तुम मुझे भले ही कोस लो, लेकिन कल तुम मुझे आशीर्वाद दोगे।

हमें विचारशील अवश्य बनना चाहिए। किसी भी योनि में जन्म दुःखदायी है। हमें भौतिकता से ऊपर उठना होगा। मेरी 'माँ' हमें अपनी वज्रमुष्टिका से मुक्त होने देना न चाहेंगी; फिर भी हमें प्रयत्न करना होगा। यह संघर्ष ही उपासना है, अन्य सब कुछ भ्रम मात्र है। तुम सगुण ईश्वर हो। इस क्षण मैं तुम्हारा उपासक हूँ। यही महत्तम प्रार्थना है। इसी अर्थ में सम्पूर्ण विश्व की उपासना करो—उसकी सेवा करते हुए। मेरा ऊँचे मंच पर खड़ा होना, मैं जानता हूँ, उपासना जैसा नहीं प्रतीत होता है। किन्तु यदि इसमें सेवा-भाव है, तो-यही उपासना है।

अनन्त सत्य अप्राप्य है। वह सतत ही इस लोक में विद्यमान है, वह अमर है, अज है। वह, जो विश्व का प्रभु है, जन जन में है। मन्दिर केवल एक हैं, वह है

देह-मन्दिर। यही अकेला मन्दिर सनातन है। इसी देह में उसका, परमात्मा का, राजराजेश्वर का निवास है। हम देख नहीं पाते, इसलिए हम उसकी पाषाण-प्रतिमाएँ बनाते हैं, और उन पर ऊँचे मन्दिर खड़े करते हैं। सदा से भारत में वेदान्त रहा है, लेकिन भारत ऐसे मन्दिरों से भरा पड़ा है—केवल मन्दिर ही नहीं, किन्तु खुदी हुई मूर्तियों से भरी गुफाएँ भी वहाँ हैं। 'गंगा किनारे रहनेवाला मूढ़मति पानी के लिए कुआँ खोदे।' यही हमारा हाल है। ईश्वर में निवास करते हुए भी हम बाहर जाकर उसकी मूर्तियाँ बनाने लगते हैं। जब वह हमारे देह-मन्दिर में सदा निवास करते हैं, हम उसे मूर्तियों में प्रक्षेपित करते हैं। बुद्धि हमारी मारी गयी है, और यह बड़ा भारी भ्रम है।

ईश्वर रूप में सबकी उपासना करो—सारे आकार उसके मन्दिर हैं। बाकी सब कुछ भ्रम है। हमेशा भीतर की ओर देखो, बाहर की ओर कदापि नहीं। वेदान्त-प्रतिपादित ईश्वर यही है और उसकी उपासना भी यही है। स्वभावतः वेदान्त में कोई सम्प्रदाय नहीं, कोई शाखा-प्रशाखा नहीं, कोई जाति-भेद नहीं। यह भारत का राष्ट्रीय धर्म हो भी कैसे ?

सैकड़ों जातियाँ ! यदि कोई किसीकी थाली छू दे, तो वह चिल्ला उठता है, "परमात्मा, उबार लो, मैं भ्रष्ट हो गया !" पहली विदेश-यात्रा से लौटकर जब मैं भारत गया, तो अनेक सनातनी हिन्दुओं ने पाश्चात्यों के साथ मेरे सम्पर्क और कट्टरता के नियमों के भंग करने को सम्प्रदायविरोधी ठहरा कर खूब हो-हल्ला मचाया। पाश्चात्य लोगों को मेरा वैदिक सत्य की शिक्षा देना उन्हें अप्रिय लगा।

लेकिन इतने भेद और अन्तर रहेंगे कैसे ? जब हम आत्मरूप हैं, समान हैं। अमीर ग़रीब को एवं पंडित अज्ञानी को देखकर नाक-भौं कैसे सिकोड़ पायेगा ? यदि समाज की रूपरेखा न बदले, तो वेदान्त-धर्म के सदृश धर्म प्रभावशाली कैसे हो ? विवेकी यथार्थ विचारशील मानवों की संख्या विपुल होने में हज़ारों साल लगेंगे। मानव को नयी बातें सुझाना, उन्हें उच्च विचार प्रदान करना बड़ा ही श्रमसाध्य है। रूढ़ि-विश्वासों का उन्मूलन और भी दुष्कर है—बहुत ही दुष्कर। ये शीघ्र विनष्ट नहीं होते, शिक्षा-दीक्षा के बाद भी विद्वज्जन अँधेरे में काँप उठते हैं—शिशु अवस्था की कहानियाँ याद आ जाती हैं, और वे प्रेत देखने लगते हैं।

वेदान्त 'वेद' शब्द से बना है और 'वेद' का अर्थ है ज्ञान। समस्त ज्ञान वेद है और ईश्वर की भाँति अनन्त है। कोई व्यक्ति ज्ञान की कभी सृष्टि नहीं करता। क्या तुमने कभी ज्ञान का सर्जन होते देखा है ? ज्ञान का अन्वेषण मात्र होता है —आवृत का अनावरण होता है। ज्ञान सदा यहीं है, क्योंकि वह स्वयं ईश्वर है। अतीत, वर्तमान, अनागत इन तीनों का ज्ञान हम सबमें विद्यमान है। हम उसका

अनुसंधान मात्र करते हैं, और कुछ नहीं। ये सारे ज्ञान स्वयं ईश्वर हैं। वेद संस्कृत भाषा के महान् ग्रंथ हैं। हम अपने देश में वेदपाठी के सम्मुख नतमस्तक होते हैं, भौतिक शास्त्र के विशेषज्ञ की हम कोई चिंता नहीं करते। यह अंधविश्वास ही है। यह बिल्कुल ही वेदान्त नहीं। यह कोरा जड़वाद है। ईश्वर के लिए समस्त ज्ञान पवित्र है। ज्ञान ही ईश्वर है। अनन्त ज्ञान पूर्ण मात्रा में प्रत्येक जीवधारी में निहित है। तुम वास्तव में अज्ञानी नहीं, भले ही ऐसा दिखायी पड़े। तुममें से प्रत्येक ईश्वरावतार है। तुम सर्वशक्तिसम्पन्न, सर्वान्तिर्यामी, दिव्यस्वरूप के अवतार हो। हो सकता है, मेरी बातों पर तुम्हें हँसी आये, किन्तु वह समय दूर नहीं, जब तुम इसे समझ सकोगे। तुम्हें समझना पड़ेगा। कोई पीछे नहीं रहने पायेगा।

इसका लक्ष्य क्या है? जिस वेदान्त की चर्चा मैंने की है, वह कोई नया धर्म नहीं। वह स्वयं ईश्वर ही की भाँति प्राचीन है। देश-काल के बन्धन उसे बाँध नहीं सकते, वह सर्वत्र है। प्रत्येक को इस सत्य का ज्ञान है। हम सब इसीका रूप निश्चित कर रहे हैं। विश्व मात्र का लक्ष्य वही है। बाह्य प्रकृति पर भी यही नियम लागू है—कण कण इसी लक्ष्य की ओर धावित हैं। तुम क्या सोचते हो कि परिशुद्ध अनन्त आत्माएँ इस परम सत्य के दर्शन से वंचित हैं? वह सर्वसुलभ है, सभी इसी लक्ष्य पर पहुँच रहे हैं—अंतर्निहित दिव्यता की ओर। सनकी, हत्यारा, रूढ़िवादी, भीड़-दण्ड से पीड़ित सभी इसी लक्ष्य की ओर बढ़ रहे हैं। हमारा काम इतना ही है कि अनजाने जो कुछ हम कर रहे हैं, उसे हम समझकर करें—अधिक अच्छाई के साथ करें।

समग्र अस्तित्व का एकत्व तुममें पहले से ही विद्यमान है। उससे रहित कभी किसीने जन्म ही नहीं लिया। तुम किसी भी तरह उसे अस्वीकार करो, वह सदा अपने अस्तित्व को सिद्ध करता है। मानवीय अनुराग क्या है? यह न्यूनाधिक रूप में इसी एकत्व का मण्डन तो है: 'मैं तुम, अपनी स्त्री, सन्तान, बन्धु-बान्धवों से अभिन्न हूँ।' तुम केवल अनजाने इस अभिन्नता का अनुमोदन कर रहे हो। 'कभी किसीने पति से पति के नाते नहीं, अपितु पति में निवसित आत्मा के हेतु अनुराग दर्शाया है।'[1] पत्नी पति से अभिन्नता का अनुभव करती है। पति भी पत्नी में निज को ही पाता है—प्रकृत्या वह ऐसा करता है। जान-बूझकर वह ऐसा कर नहीं पाता है।

---

१. न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति॥ बृहदारण्यकोपनिषद् ॥२।४।५॥

सम्पूर्ण जगत् एक ही सत्ता है। उसके अतिरिक्त और कुछ हो भी नहीं सकता। विभिन्नताओं के परे हम इसी विराट् विश्व-सत्ता की ओर बढ़ रहे हैं। परिवार से क़बीले, क़बीलों से कुल, कुलों से राष्ट्र, राष्ट्रों से मानवता—कितनी इच्छाएँ उस एकत्व की ओर अग्रसर हो रही हैं! इस एकत्व की अनुभूति ही सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान है।

एकत्व ही ज्ञान है और अनेकता ही अज्ञान। इस ज्ञान पर तुम सबका जन्मसिद्ध अधिकार है। मुझे तुमको यह सब समझाने की आवश्यकता नहीं। संसार में कभी भी अलग अलग धर्म नहीं रहे। चाहें या न चाहें, हम सभी मुक्ति के अधिकारी हैं। सब अन्त में बन्धन-मुक्त होकर रहेंगे, क्योंकि मुक्त होना तुम्हारा स्वभाव है। हम तो मुक्त हैं ही, केवल हम यह जानते भर नहीं और हमें पता नहीं कि हम क्या करते रहे हैं। समस्त धर्मों के विधि-विधानों, आदर्शों का नैतिक मानदंड एक है। एक ही ध्येय का प्रचार हो रहा है कि 'सबसे स्वार्थरहित बनो, दूसरों से प्रेम करो।' कोई कहता है, 'जेहोवा का आदेश है।' मुहम्मद साहब ने घोषणा की, 'अल्लाह', दूसरे चिल्लाये, 'मसीहा !' अगर यह जेहोवा का आदेश होता, तो वह जेहोवा से अपरिचितों का आदर्श हुआ कैसे ? यदि यह केवल ईसा मसीह का सन्देश है, तो उन्हें न जाननेवालों को वह कैसे प्राप्त हुआ ? अगर केवल विष्णु ही ऐसा कर सके तो उनको न जाननेवाले एक यहूदी का यह जीवन-ध्येय क्यों हुआ ? सबसे महत्तर एक अन्य प्रेरणा-स्रोत है। वह है कहाँ ? वह है ईश्वर के सनातन मंदिर में, वह है क्षुद्र से लेकर महान् तक की आत्मा में। अनन्त निःस्वार्थता, असीम त्याग और महती एकता की ओर जानेवाली असीम अनिवार्यता वहाँ ही है।

अपने अज्ञान के कारण देखने में हम विभक्त एवं सीमित से लगते हैं, और हम मानो नगण्य श्रीयुत-श्रीमती ही रह गये हैं। किन्तु समूची प्रकृति इस भ्रम को हर क्षण असत्य सिद्ध करती रही है। सबसे विलग मैं एक तुच्छ स्त्री-पुरुष नहीं। मैं एक विराट् सत्ता ही हूँ। आत्मा निज गौरव के सहारे क्षण-प्रतिक्षण जाग्रत हो रही है, एवं अपनी सहजात दिव्यता का उद्घोष कर रही है।

यह वेदान्त सर्वत्र है, केवल तुम्हें उससे अवगत होना है। ये निरर्थक विश्वास-पुंज एवं अंधविश्वास-समूह ही हमारी प्रगति में बाधक हैं। अगर सम्भव हो तो हम इन्हें दूर फेंकें और यह समझें कि ईश्वर सत्य-आत्मा के द्वारा एक उपास्य आत्मा है। अब अधिक बनने का प्रयत्न मत करो। भौतिकता को दूर हटाओ ! ईश्वर की धारणा यथार्थतः आध्यात्मिक होनी चाहिए। ईश्वर सम्बन्धी अन्य आदर्श जो न्यूनाधिक रूप में जड़वाद से प्रेरित हैं, अवश्य ही विदा हों। जब मानव अधिकाधिक आध्यात्मिक होगा, तो उसे निरर्थक विचारों को दूर फेंकना होगा,

उन्हें पीछे छोड़ आना होगा। वस्तुतः प्रत्येक देश में कुछ ऐसे पुरुष हुए हैं, जो भौतिकता के परित्याग के लिए शक्तिमान हों एवं आत्मा के अमर आलोक में खड़े होकर आत्मा की आत्मा से आराधना करते हैं।

अगर वेदान्त—जो यह चेतनशील ज्ञान है कि सभी एक आत्मा है, चारों ओर फैल जाय तो सारी मानवता आध्यात्मिक हो जायगी। परन्तु क्या यह सम्भव है? मैं तो कुछ नहीं कह सकता। हज़ारों वर्षों में भी यह सम्भव नहीं हुआ। पुरानी सड़ी-गली धारणाओं को विदा लेनी ही है। अपने अंधविश्वासों के चिरस्थायी बनाने के फेर में ही तुम अभी पड़े हो। उस पर भी परिवार-बन्धु, जाति-भाई, राष्ट्र-बन्धु आदि के झमेले हैं। वेदान्त-सिद्धि के मार्ग में ये सब रोड़े हैं। इनेगिनों के ही लिए धर्म धर्म रहा है।

सारे संसार में धर्मक्षेत्र में कार्य करनेवाले व्यक्तियों में बहुतेरे वास्तव में राजनीतिक कार्यकर्ता ही रहे हैं। यही मानव इतिहास रहा है। किसीसे समझौता न करते हुए शायद ही उन्होंने सत्य का अनुशीलन किया हो, ये लोग सदा ही समूह या समाज नामधारी ईश्वर के उपासक रहे हैं। अधिकतर जनसमुदाय के अंधविश्वासों और दुर्बलताओं के समर्थन से ही उनका सम्बन्ध रहा है। प्रकृति पर विजय-प्राप्ति उनका लक्ष्य नहीं, बल्कि अपने को प्रकृति के अनुकूल बनाने में लगे रहना उनका साध्य है—और कुछ नहीं। भारत में जाकर किसी नये धर्म का प्रचार करो—वे अपना कान हटा लेंगे। लेकिन यदि तुम बताओ कि यह वेद से उद्धृत है, तब वे कहेंगे, 'यह ठीक है।' मैं यहाँ इस मत की शिक्षा दे सकता हूँ; किन्तु तुममें से ऐसे कितने हैं, जो इसे ध्यानपूर्वक स्वीकार करेंगे? पर यह पूर्णतया सत्य है, और मुझे तुम्हारे लिए इसका प्रतिपादन करना ही है।

इस प्रश्न का एक दूसरा भी पक्ष है। प्रत्येक यही कहता है कि सर्वोच्च एवं पूर्ण सत्य की अनुभूति एकाएक सबके लिए सम्भव नहीं; क्रम से उपासना, प्रार्थना एवं अन्य प्रचलित धार्मिक विधि-विधानों का सहारा लेकर धीरे धीरे मानव को यहाँ तक पहुँचाना होगा। मैं कह नहीं सकता कि यह तरीक़ा ग़लत है या सही। भारत में मैं दोनों मार्गों से कार्य करता हूँ।

कलकत्ते में ईश्वर, वेद, बाइबिल, ईसा, बुद्ध आदि के नाम पर बहुत सारे मन्दिर एवं प्रतिमाएँ हैं। इन्हें चलने दो। लेकिन हिमालय की ऊँचाइयों पर हमने एक स्थान बनाया है, जहाँ पूर्ण सत्य की अपेक्षा और किसी वस्तु का प्रवेश नहीं हो सकता। तुम्हारे सम्मुख आज के व्याख्यान में बताये गये तत्त्वों का प्रयोग वहाँ देखना चाहता हूँ। आश्रम एक अंग्रेज सज्जन और अंग्रेज महिला के संरक्षण में है। सत्य-साधकों का प्रशिक्षण, शैशव से ही निर्भीक, अंधविश्वासरहित नरश्रेष्ठों

का निर्माण आदि मेरा ध्येय है। वे ईसा, बुद्ध, शिव एवं विष्णु आदि नामों को सुनने नहीं पायेंगे—इनमें से किसीका भी नहीं। आरम्भ से ही उन्हें आत्मनिर्भर बनने की शिक्षा दी जायगी। शैशवावस्था से ही वे सीखेंगे कि ईश्वर आत्मा है, आत्मा और सत्य के द्वारा ही उसकी आराधना होनी चाहिए। सबको आत्मा के रूप में देखना होगा। यही आदर्श है। इसकी सफलता का मुझे कोई अनुमान नहीं। आज मैं अपने प्रिय विषय का प्रचार कर रहा हूँ। यदि द्वैत के सम्पूर्ण रूढ़ि-विश्वासों से दूर ऐसे ही आदर्श के अनुरूप मेरा लालन-पालन भी हुआ होता, तो कितना भला होता !

कभी कभी मैं यह स्वीकार करता हूँ कि द्वैत मार्ग में भी कुछ अच्छाई अवश्य है, जो दुर्बल हैं, उनकी यह सहायता करता है। यदि कोई तुमसे ध्रुव नक्षत्र देखना चाहे, तो पहले उसे तुम निकटवर्ती उज्ज्वल नक्षत्र, पीछे क्षीण प्रकाश का नक्षत्र, बाद में धुँधला नक्षत्र और अंत में ध्रुव नक्षत्र दिखाओ। उसके ध्रुव नक्षत्र के निरीक्षण में इससे आसानी होगी। समस्त साधनाएँ, दीक्षा-विधियाँ, धर्मग्रंथ, ईश्वर आदि धर्म के आरंभिक रूप हैं, धर्म की शिशुशालाएँ मात्र हैं।

तदुपरान्त इसके दूसरे पक्ष पर भी मैं सोचता हूँ। यदि संसार इस धीमी चाल, क्रमिक प्रणाली का अनुसरण करता है, तो सत्य-साक्षात्कार में इसे कितनी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी ? कितनी देर होगी ? यह कभी किसी सीमा तक सफल हो सकेगा, इसका निश्चय कैसे किया जाय ? आज तक तो यह सफल नहीं रहा। आखिरकार क्रम से हो या क्रमरहित, दुर्बल के लिए सरल या जटिल, क्या द्वैत मार्ग असत्य पर आधारित नहीं है ? क्या सारे प्रचलित धार्मिक अनुष्ठान ज्यादातर कमजोरी बढ़ानेवाले, इसीलिए दोषपूर्ण नहीं हैं ? ये ग़लत सिद्धान्त मानवता की भ्रामक धारणा पर आधारित हैं। दो ग़लतियों से कभी एक सत्य का निर्माण होता है ? मिथ्या कभी सत्य सिद्ध होगा ? अँधेरा कभी उजाला होगा ?

मैं एक दिवंगत व्यक्ति का सेवक हूँ। उनका मैं एक सन्देशवाहक मात्र हूँ। मैं प्रयोग करना चाहता हूँ। वेदान्त-शिक्षा मैंने अभी तुमको दी है, उस पर कोई ठोस प्रयोग पहले नहीं हुआ। यद्यपि वेदान्त विश्व का प्राचीनतम दर्शन है, फिर भी अंधविश्वास आदि समस्त विकारों को इसमें मिला दिया गया है।

ईसा मसीह के उद्गार थे, 'परम पिता और मैं दोनों अभिन्न हैं', और तुम इसे दुहराते हो, फिर भी मनुष्य के लिए यह सहायक सिद्ध नहीं हुआ। लगभग बीस सदियों तक मानव इस उद्गार का मर्म न जान सके। ईसा मानवों के रक्षक ठहराये गये। वे ईश्वर और हम कीड़े हैं ! यही हाल भारत में भी है। हर देश में यही धारणा प्रत्येक सम्प्रदाय विशेष की रीढ़ है। सैकड़ों, हजारों वर्षों से दुनिया

में लाखों-करोड़ों की संख्या में जगदीश्वर, अवतारी पुरुष, उद्धारक, पैग़म्बर आदि की आराधना व्यक्ति को प्रेरित करती आयी है। लोगों को यही सिखाया गया है कि वे असहाय हैं, दुःखी जीव हैं और मुक्ति के लिए किसी व्यक्ति विशेष या व्यक्ति समूह पर ही उनको आश्रित रहना है। इन विश्वास-भावनाओं में अद्‌भुत तत्त्व हैं अवश्य। किन्तु वे अपनी चरमावस्था में भी धर्म की शिशुशालाएँ मात्र हैं, और उनसे किसीको कोई- खास सहायता नहीं मिली। मानव एक प्रकार के सम्मोहन के द्वारा अति अधमावस्था को प्राप्त हो गया है। हाँ, इस दशा में भी कुछ ऐसे स्थितप्रज्ञ लोग हैं, जो इस मोह-जाल को काट फेंकते हैं। महापुरुषों के आविर्भाव का अनुकूल समय आयेगा और उनके सतत प्रयास से धर्म की ये शिशुशालाएँ विनष्ट हो जायँगी और यथार्थ धर्म—आत्मा से आत्मा की आराधना—अधिक सजीव और शक्तिशाली हो सकेगा।

वेदान्त और विशेषाधिकार

(लंदन में दिया गया व्याख्यान)

हम लोगों ने अद्वैत के तत्त्ववाद से सम्बद्ध भाग को प्रायः समाप्त कर लिया है। एक बात जो शायद सबसे कठिन है, अभी शेष है। अब तक हम लोगों ने यह समझ लिया है कि अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार हम अपने चतुर्दिक् जो कुछ देखते हैं, वस्तुतः समस्त विश्व, उसी एक पूर्ण का विकास है। संस्कृत में उसे ब्रह्म कहते हैं। ब्रह्म समस्त प्रकृति में परिणत हो गया है। परन्तु यहाँ एक कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। ब्रह्म के लिए परिणामी होना कैसे सम्भव है? ब्रह्म में परिणति किसने की? स्वयं अपनी परिभाषा के अनुसार ब्रह्म अपरिणामी है। अपरिणामी में परिणाम का होना परस्पर-विरोधी है। जो सगुण ईश्वर में विश्वास रखते हैं, उनके लिए भी वही कठिनाई उत्पन्न होती है। उदाहरणार्थ, यह सृष्टि कैसे हुई? शून्य से उसका उद्भव नहीं हो सकता; इसमें अन्तर्विरोध है—असत् से सत् का प्रादुर्भाव कभी हो नहीं सकता। कार्य दूसरे रूप में कारण ही है। बीज से विशाल वृक्ष उगता है। वृक्ष बीज है, जिसमें वायु तथा जल गृहीत हैं। और यदि वृक्ष के आकार के निर्माण में लिये गये जल तथा वायु की मात्रा के परीक्षण की कोई विधि निकल आये, तो हमें पता लग जायगा कि वह (बीज) ठीक वही कार्य अर्थात् वृक्ष है। आधुनिक विज्ञान ने इसे असन्दिग्ध रूप से सिद्ध कर दिया है कि कारण दूसरे रूप में कार्य होता है। कारण के भागों के समायोजन में परिवर्तन होता है और वह कार्य हो जाता है। अतः हमें विना कारण के विश्व की उत्पत्ति मानने की कठिनाई से बचना है और हम यह मानने के लिए बाध्य हो जाते हैं कि ईश्वर ही विश्व बन गया।

किन्तु हम लोग एक कठिनाई से तो बचे, पर दूसरी में पड़ गये। प्रत्येक सिद्धांत में अपरिवर्तनशीलता की धारणा के माध्यम से ईश्वर की धारणा आ जाती है। हमने इतिहास से खोज निकाला है कि ईश्वर विषयक जिज्ञासा की सबसे अपरिपक्व अवस्था में भी जो एक भाव मन में सदा बना रहा है, वह है मुक्ति का भाव; और मुक्ति तथा अपरिवर्तनशीलता या नित्यता की धारणा एक तथा अभिन्न हैं। केवल मुक्त ही ऐसा है, जिसमें कभी परिवर्तन नहीं होता और जो अपरिणामी या नित्य है, केवल वही मुक्त है; क्योंकि किसी वस्तु में परिवर्तन किसी अन्य बाह्य वस्तु द्वारा

अथवा आन्तरिक वस्तु द्वारा, जो अपने परिवेश की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली हो, उत्पन्न होता है। परिणामधर्मी प्रत्येक वस्तु अवश्य ही कुछ कारण या कारणों से आबद्ध होती है। ये कारण अपरिणामी नहीं हो सकते। मान लिया जाय कि ईश्वर ही यह विश्व बन गया है, तो ईश्वर यहाँ है और वह परिवर्तित हो गया है। और मान लिया जाय कि असीम यह ससीम विश्व बन गया है, तो असीम का इतना अंश निकल गया और इसलिए असीम में से विश्व के घटा देने पर जो शेष रह जाय, वही ईश्वर हुआ। परिणामी या परिवर्तनशील ईश्वर तो ईश्वर हो नहीं सकता। सर्वेश्वरवाद के इस सिद्धान्त से बचने के लिए वेदान्त में बड़ा ही निर्भीक सिद्धान्त है। वह है—जिस रूप में हम इस जगत् को जानते या सोचते हैं, उसकी सत्ता ही नहीं है; अपरिवर्तनीय परिवर्तित नहीं हुआ है; यह सारा विश्व आभास मात्र है, सत्य नहीं है और अंशों, क्षुद्र जीवों तथा विभेद के ये प्रत्यय मिथ्या हैं, स्वयं वस्तु के स्वरूप नहीं। ईश्वर में किंचित् भी परिवर्तन नहीं हुआ है तथा वह लेशमात्र विश्व नहीं बना है। देश, काल और निमित्त के माध्यम से देखने के लिए विवश होने के कारण हम ईश्वर को विश्ववत् देखते हैं। देश, काल एवं निमित्त के कारण यह आपातदृष्ट भेद है, वस्तुतः नहीं। सचमुच यह बड़ा निर्भीक सिद्धान्त है। अब इस सिद्धान्त की व्याख्या ज़रा और स्पष्ट रूप से होनी चाहिए। इसका अर्थ वह (दार्शनिक) आदर्शवाद या प्रत्ययवाद नहीं है, जैसा कि लोग साधारणतया समझते हैं। वह यह नहीं कहता कि विश्व का अस्तित्व नहीं है। उसका अस्तित्व है, किन्तु साथ ही हम उसे जो समझते हैं, वह नहीं है। इसे सोदाहरण समझाने के लिए अद्वैत दर्शन द्वारा दिया गया दृष्टान्त सुविदित है। रात के अन्धकार में पेड़ का तना किसी अंधविश्वासी को भूत के रूप में, लुटेरे को पुलिस के सिपाही के रूप में और साथी की प्रतीक्षा में खड़े किसी व्यक्ति को सुहृद् के रूप में दिखायी पड़ता है। इन सभी स्थितियों में वृक्ष का तना परिवर्तित नहीं हुआ, परन्तु परिवर्तनों के आभास हुए और ये परिवर्तन देखनेवालों के मन में घटित हुए थे। हम मनोविज्ञान के द्वारा आत्मनिष्ठ पक्ष से इसे अपेक्षाकृत अधिक अच्छी तरह समझ सकते हैं। कोई हमसे बहिर्वस्तु है, जिसका प्रकृत स्वरूप हमें अज्ञात एवं अज्ञेय है—उसे हम 'क' मान लें। और कोई हममें अन्तर्निष्ठ वस्तु है। वह भी हमें अज्ञात एवं अज्ञेय है—उसे हम 'ख' मान लें। 'क' और 'ख' का समवाय ज्ञेय है, अतः प्रत्येक वस्तु जिसे हम जानते हैं उसके दो भाग हुए, 'क' जो बाहर है और 'ख' जो भीतर है; और 'क' तथा 'ख' की संहति वह वस्तु हुई, जिसे हम जानते हैं। अतः विश्व में प्रत्येक रूप अंशतः हम लोगों की सृष्टि है और अंशतः कुछ बाह्य वस्तु है। अब वेदान्त यह प्रतिपादित करता है कि यह 'क' और यह 'ख' एक ही है और उनमें अन्तर नहीं।

कुछ पाश्चात्य दार्शनिक, विशेषतः हर्बर्ट स्पेन्सर तथा कतिपय अन्य आधुनिक दार्शनिक, इससे बहुत मिलते-जुलते निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। जब यह कहा जाता है कि वही शक्ति जो अपने को फूलों में अभिव्यक्त कर रही है, मेरी अपनी चेतना में भी उमड़ रही है, तब यह ठीक वही भाव है, जिसका उपदेश वेदान्ती देते हैं कि बाह्य जगत् की तात्त्विकता तथा अन्तर्जगत् की तात्त्विकता एक एवं अभिन्न है। आन्तरिक तथा बाह्य के भावों का अस्तित्व भी भेदजन्य है और स्वयं वस्तुओं में उनका अस्तित्व नहीं है। उदाहरणार्थ, यदि हममें एक अन्य इन्द्रिय विकसित हो जाय, तो हमारे लिए सारा जगत् बदल जायगा, जिसका अभिप्राय यह है कि विषयी विषय को बदल देगा। यदि मैं परिवर्तित होता हूँ, तो बाह्य जगत् परिवर्तित हो जाता है। अतएव वेदान्त के सिद्धान्त का मर्म यह है कि तुम और मैं तथा विश्व की प्रत्येक वस्तु ब्रह्म ही है, अंश नहीं, वरन् पूर्ण। तुम उस ब्रह्म के सर्वांश हो और अन्य लोग भी वही हैं, क्योंकि पूर्ण में अपूर्ण का भाव आ नहीं सकता। ये विभाग तथा ये सीमाएँ आभास मात्र हैं, वस्तुनिष्ठ नहीं। मैं सम्पूर्ण और अशेष हूँ और मैं कभी बंधन में नहीं था। वेदान्त डंके की चोट पर कहता है कि यदि तुम अपने को बंधन में समझते हो, तो बंधन में पड़े रहोगे; यदि तुम जानते हो कि तुम मुक्त हो, तो बस मुक्त हो गये। इस प्रकार इस दर्शन का चरम लक्ष्य तथा उद्देश्य हमें यह बोध कराता है कि हम सदैव मुक्त रहे हैं और नित्य मुक्त रहेंगे। हम न कभी परिवर्तित होते हैं, न मरते हैं और न जन्म लेते हैं। तब ये परिवर्तन क्या हैं? इस जगत् को मिथ्या जगत् के रूप में स्वीकार किया गया है, जो देश, काल तथा निमित्त से आबद्ध है और इसे संस्कृत में विवर्तवाद की संज्ञा दी गयी है। यह प्रकृति का विकास और ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। ब्रह्म में कोई विकार नहीं होता या उसका पुनर्विकास नहीं होता। सूक्ष्म जीवाणु (एमीबा) में अव्यक्त रूप से वही असीम पूर्णता रहती है। एमीबा आवरण के कारण इसका नाम एमीबा पड़ा और एमीबा अवस्था से पूर्ण मनुष्य होने की अवस्था पर्यन्त उसमें परिवर्तन नहीं होता, जो भीतर विद्यमान है—वह ज्यों का त्यों अविकारी बना रहता है—किन्तु आवरण में परिवर्तन होता है।

यहाँ एक परदा है और बाहर सुन्दर दृश्य है। परदे में एक छोटा सा छिद्र है, जिससे हम उसकी झलक मात्र पाते हैं। मान लो यह छिद्र बढ़ने लगा। ज्यों ज्यों छिद्र बड़ा होता जाता है, त्यों त्यों दृश्य का अधिकाधिक अंश दिखायी पड़ने लगता है और जब परदे का लोप हो जाता है, तब सम्पूर्ण दृश्य दृष्टिगत हो जाता है। यह बाहर का दृश्य आत्मा है और हमारे तथा दृश्य के बीच का परदा माया—देश, काल और निमित्त है। कहीं एक छोटा सा छिद्र है, जिससे मुझे आत्मा की एक झलक

मात्र मिलती है। जब छिद्र पहले से बड़ा हो जाता है, तब मैं अधिकाधिक साक्षात्कार करने लगता हूँ और जब परदा लुप्त हो जाता है, तब मैं जानता हूँ कि मैं आत्मा हूँ। अतः विश्व में जो परिवर्तन होते हैं, उनसे ब्रह्म निर्लिप्त है। परिवर्तन प्रकृति में होता है। प्रकृति अधिकाधिक विकसित होती है और अन्ततः ब्रह्म अपने को अभिव्यक्त करता है। प्रत्येक में उसकी सत्ता है। कुछ में उसकी अभिव्यक्ति दूसरों की अपेक्षा अधिक होती है। सम्पूर्ण विश्व यथार्थतः एक है। आत्मा के प्रसंग में यह कथन निरर्थक है कि एक आत्मा अन्य की अपेक्षा श्रेष्ठ है। आत्मा के वर्णन में यह कथन निरर्थक है कि मनुष्य पशु अथवा पौधे से श्रेष्ठ है; सारा विश्व एक है। पौधे में आत्मा की अभिव्यक्ति में रुकावटें बहुत बड़ी हैं; पशुओं में उनसे थोड़ी कम और मनुष्य में और भी कम हैं; सुसंस्कृत आध्यात्मिक मनुष्यों में उनसे भी कम हैं और पूर्ण मानव में उन रुकावटों का पूर्णतया लोप हो जाता है। हमारे सभी संघर्ष, अभ्यास, कष्ट, सुख, आँसू और मुसकान—जो कुछ हम करते और सोचते हैं—इसी ध्येय की ओर प्रवृत्त होते हैं कि परदा फट जाय, छिद्र बढ़ता जाय और पीछे छिपी हुई अभिव्यक्ति एवं यथार्थता के बीच की परतें क्षीण हो जायँ। अतः हमारा कार्य आत्मा को मुक्त करना नहीं, वरन् बंधन से पिंड छुड़ाना है। सूर्य बादलों की परतों से ढँका है, किन्तु उनसे अप्रभावित है। वायु का कार्य बादलों को उड़ाकर भगा देना है और बादल जितने ही छटेंगे उतना ही सूर्य का प्रकाश दिखायी पड़ने लगेगा। आत्मा में कोई भी विकार नहीं है—वह असीम, पूर्ण, शाश्वत और सच्चिदानन्द है। आत्मा का जन्म-मरण भी नहीं हो सकता। मृत्यु, जन्म, पुनर्जन्म और स्वर्गारोहण आत्मा का नहीं हो सकता। ये तो नाना आभास, नाना मृगमरीचिकाएँ और नाना स्वप्न हैं। यदि कोई मनुष्य भव-स्वप्न देख रहा है और इस समय दुर्विचारों तथा दुष्कर्मों के स्वप्न में निमग्न है, तो कुछ काल पश्चात् उसी स्वप्न का विचार दूसरे स्वप्न को पैदा करेगा। वह स्वप्न देखेगा कि वह एक भयानक स्थान में है और उसे यंत्रणा मिल रही है। जो मनुष्य सुविचारों तथा शुभ कर्मों का स्वप्न देख रहा है, वह उसकी अवधि समाप्त होने पर यह स्वप्न देखेगा कि वह पहले की अपेक्षा उत्तम स्थान में है और एक स्वप्न के पश्चात् दूसरे स्वप्न का ताँता लगा रहेगा। परन्तु वह समय आयेगा, जब ये सभी स्वप्न विलुप्त हो जायेंगे। हममें से प्रत्येक व्यक्ति के समक्ष एक ऐसा समय अवश्य आयेगा, जब समस्त विश्व स्वप्न मात्र प्रतीत होगा। तब हमें पता लगेगा कि अपने परिवेश की अपेक्षा आत्मा अनन्त गुना श्रेष्ठ है। जिन्हें हम अपना परिवेश कहते हैं, उनके बीच संघर्ष में एक समय ऐसा आयेगा, जब हमें पता लगेगा कि आत्मा की शक्ति की तुलना में ये परिवेश प्रायः शून्य थे। केवल प्रश्न काल का है और अनन्त में काल शून्य

है; महासागर में यह एक बूंद के तुल्य है। हममें प्रतीक्षा की क्षमता है और हम शान्त रह सकते हैं।

अतएव जाने या अनजाने समस्त विश्व उसी लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रहा है। चन्द्रमा अन्य पिंडों की आकर्षण-शक्ति की परिधि से निकलने के लिए संघर्ष कर रहा है और अन्ततोगत्वा वह उससे बाहर निकलेगा ही। लेकिन जो मुक्त होने के प्रयास में सचेत हैं, वे काल की अवधि त्वरित कर देते हैं। इस सिद्धान्त से एक लाभ जो हमें व्यवहार में दिखायी पड़ता है, वह यह है कि केवल इसी दृष्टिकोण से यथार्थ सार्वभौम प्रेम का भाव सम्भव है। सब साथ के मुसाफिर हैं, सहयात्री हैं—सभी जीव, पौधे और पशु; केवल मेरा भाई मनुष्य ही नहीं, वरन् मेरा भाई पशु और मेरा भाई पौधा भी; केवल मेरा भाई सज्जन ही नहीं, वरन् मेरा भाई दुर्जन, मेरा भाई आध्यात्मिक और मेरा भाई दुष्ट भी। वे सब एक लक्ष्य की ओर चल रहे हैं। सब एक ही नदी में हैं, और अनन्त मुक्ति की दिशा में प्रत्येक शीघ्रता से बढ़ रहा है। हम धारा को रोक नहीं सकते, कोई भी रोक नहीं सकता, कोई पीछे नहीं जा सकता, चाहे वह लाख कोशिश करे; वह आगे बहता ही जायगा और अन्त में मुक्ति-लाभ करेगा। मुक्ति हमारी सत्ता का केन्द्र-विन्दु है, जिससे मानो हम बाहर फेंक दिये गये हैं और सृष्टि का अभिप्राय वहीं वापस लौटने का संघर्ष है। हम यहाँ हैं, यह तथ्य ही बतलाता है कि हम केन्द्र की ओर जा रहे हैं और केन्द्र की ओर इस आकर्षण की अभिव्यक्ति को हम प्रेम कहते हैं।

प्रश्न पूछा जाता है कि विश्व की उत्पत्ति किससे होती है, किसमें उसकी स्थिति है और फिर किसमें वह लय होता है? और उत्तर है—प्रेम से उसकी उत्पत्ति होती है, प्रेम में वह स्थित होता है और प्रेम में ही लीन हो जाता है। इस प्रकार हम यह समझ सकते हैं कि चाहे किसीको पसंद हो या नापसंद, किसीके लिए प्रतिगमन की गुंजाइश नहीं। पीछे लौटने के लिए चाहे कोई कितना भी छटपटाये, प्रत्येक को केन्द्र में पहुँचना ही होगा। फिर भी यदि हम सचेत होकर और जान-बूझकर प्रयत्न करें, तो इससे मार्ग निरापद होगा, संघर्षण कम हो जायगा और समय भी कम लगेगा। इससे स्वभावतः हम जिस दूसरे निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, वह यह है कि सभी ज्ञान और सभी शक्ति भीतर हैं, बाहर नहीं। जिसे हम प्रकृति कहते हैं, वह प्रतिबिम्बक शीशा (दर्पण) है—बस प्रकृति का इतना ही प्रयोजन है—और समस्त ज्ञान प्रकृति के इस दर्पण पर अभ्यंतर परावर्तन या प्रतिबिंबन है। जिन्हें हम सिद्धियाँ, प्रकृति के रहस्य और शक्ति कहते हैं, वे सब भीतर विद्यमान हैं। बाह्य जगत् में परिवर्तन की शृंखला मात्र होती है। प्रकृति में कोई ज्ञान नहीं; मानव की आत्मा से समस्त ज्ञान उद्भूत होता है। मनुष्य ज्ञान व्यक्त करता है, अपने भीतर

वह उसका आविष्कार करता है, जो पहले शाश्वत काल से विद्यमान है। प्रत्येक व्यक्ति चित्स्वरूप है, प्रत्येक व्यक्ति आनन्दस्वरूप और सत्स्वरूप है। समता के सम्बन्ध में नैतिक प्रभाव ठीक वैसा ही है, जैसा हम अन्यत्र देख चुके हैं।

किन्तु विशेषाधिकार का भाव मानव जीवन का विष है। मानो दो शक्तियाँ निरन्तर कार्य कर रही हैं, एक जातियाँ बना रही है और दूसरी जातियाँ तोड़ रही है। दूसरे शब्दों में हम इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि एक विशेषाधिकार बनाने में लगी है और दूसरी विशेषाधिकार तोड़ने में लगी है। और जब कभी विशेषाधिकार तोड़ दिया जाता है, तब जाति को अधिकाधिक प्रकाश तथा प्रगति उपलब्ध होती है। यह संघर्ष हम अपने चतुर्दिक् देखते हैं। अवश्य ही प्रथम है विशेषाधिकार का वह पाशविक भाव, जो निर्बल के ऊपर सबल का होता है। धन का विशेषाधिकार है। यदि दूसरे की अपेक्षा किसीके पास अधिक द्रव्य है, तो वह कम द्रव्यवालों पर थोड़ा विशेषाधिकार चाहता है। फिर बुद्धि का विशेषाधिकार उससे कहीं अधिक सूक्ष्म और शक्तिशाली है। एक आदमी दूसरों की अपेक्षा अधिक जानकारी रखता है, इसलिए वह अधिक विशेषाधिकार का दावा करता है। और सबसे अन्तिम तथा सबसे निकृष्ट, क्योंकि यह सर्वाधिक अत्याचारपूर्ण है, आध्यात्मिकता का विशेषाधिकार है। यदि कुछ लोग यह सोचते हैं कि उनका आध्यात्मिक ज्ञान अधिक है और वे ईश्वर के विषय में अधिक जानते हैं, तो वे अन्य सबकी अपेक्षा श्रेष्ठतर विशेषाधिकार का दावा करते हैं। वे कहते हैं, "ऐ भेड़-बकरियो ! आओ और हमारी पूजा करो, हम ईश्वर के संदेशवाहक हैं और हमारी पूजा तुम्हें करनी ही पड़ेगी।" किसीके ऊपर मानसिक, शारीरिक अथवा आध्यात्मिक विशेषाधिकार स्वीकार करना और साथ ही वेदान्ती बनना—दोनों नहीं हो सकता। किसीको रंच मात्र विशेषाधिकार नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति में समान ही सामर्थ्य है—एक में उसकी अभिव्यक्ति अधिक है, दूसरे में कम। प्रत्येक में समान क्षमता है। फिर विशेषाधिकार का दावा कहाँ ? प्रत्येक आत्मा में, यहाँ तक कि सर्वाधिक अज्ञानी में भी, समस्त ज्ञान है; उसने उसे अभिव्यक्त नहीं किया, लेकिन शायद उसे अवसर नहीं मिला, शायद, परिवेश उसके अनुकूल नहीं थे। जब उसे अवसर मिलेगा, तब वह उसे अभिव्यक्त करेगा। एक मनुष्य दूसरे से जन्मना श्रेष्ठ है, यह भाव वेदान्त की दृष्टि से निरर्थक है और दो राष्ट्रों में से एक श्रेष्ठ है तथा दूसरा निकृष्ट है, यह विचार भी बिल्कुल निरर्थक है। दोनों को एक ही परिस्थितियों में रखो और देखो कि एक सी बुद्धि का समुदय होता है या नहीं। इसके पूर्व तुम्हें यह कहने का अधिकार नहीं कि एक राष्ट्र दूसरे से श्रेष्ठतर है। जहाँ तक आध्यात्मिकता का सवाल है, वहाँ विशेषाधिकार का दावा नहीं होना चाहिए। मानव

जाति की सेवा करना विशेषाधिकार है, क्योंकि यह ईश्वर की उपासना है। ईश्वर यहीं है, इन सब मानवीय आत्माओं में है। वह मनुष्य की आत्मा है। मनुष्य क्या विशेषाधिकार माँग सकते हैं? ईश्वर के कोई विशेष संदेशवाहक नहीं, न कभी हुए और न हो सकते हैं। छोटे-बड़े सभी जीव ईश्वर की समान रूप से अभिव्यक्तियाँ हैं, अन्तर केवल अभिव्यक्तियों में है। वही सनातन संदेश, जो शाश्वत काल से दिया जाता रहा है, उन्हें थोड़ा थोड़ा प्राप्त हो रहा है। वह सनातन संदेश प्रत्येक जीव के हृदय पर अंकित है, वह वहाँ पहले से ही विद्यमान है और उसे प्रकट करने के लिए सब संघर्ष कर रहे हैं। अनुकूल परिस्थितियों में होने के कारण कुछ लोग दूसरों की अपेक्षा कुछ अच्छे प्रकार से प्रकट करते हैं, पर संदेशवाहक के रूप में सब एक ही हैं। वहाँ श्रेष्ठता का दावा क्या? सर्वाधिक अज्ञानी, सर्वाधिक अबोध शिशु भी ईश्वर के उतने ही महान् संदेशवाहक हैं, जितने वे जिनका कभी अस्तित्व रहा और वे जो कभी भविष्य में पैदा होंगे, क्योंकि प्रत्येक जीव के हृदय पर सदा के लिए वह अनन्त संदेश अंकित कर दिया गया है। जहाँ कहीं भी जीव है, उसके पास सर्वोच्च का अनन्त संदेश है। वह वहाँ है। अतः अद्वैत का कार्य इन सभी विशेषाधिकारों को तोड़ डालना है। यह सब कार्यों से कठिन है, और विचित्र बात तो यह है कि अद्वैत अपनी जन्मभूमि में अन्य किसी स्थान की अपेक्षा कम सक्रिय रहा है। यदि विशेषाधिकारवाला कोई देश है, तो यह वही देश है, जिसने इस दर्शन को जन्म दिया—आध्यात्मिक मनुष्य के लिए और साथ ही जन्मना मनुष्य के लिए विशेषाधिकार। वहाँ उन्हें रुपये-पैसे का विशेषाधिकार (मेरी समझ से लाभों में यह भी एक है) उतना नहीं है, किन्तु जन्मना विशेषाधिकार और आध्यात्मिक विशेषाधिकार सर्वत्र है।

वेदान्ती नैतिकता के प्रचार का एक बार महत् प्रयास हुआ, जो कुछ हद तक कई सौ वर्षों के लिए सफल रहा और इतिहास से हमें ज्ञात होता है कि वे वर्ष राष्ट्र के सर्वोत्तम काल थे। मेरा अभिप्राय विशेषाधिकार तोड़ने के बौद्धों के प्रयास से है। बुद्ध को सम्बोधित कर जिन अति सुंदर विरुदावलियों का प्रयोग किया गया है, उनमें से जो थोड़ी सी मुझे याद हैं, वे इस प्रकार हैं—'हे जाति-विध्वंसक, विशेषाधिकारविनाशक, सर्वजीव-समत्व-शिक्षक।' इस तरह समता के एक भाव का उन्होंने उपदेश दिया। श्रमणों के भ्रातृ-मण्डल में इसकी शक्ति को कुछ हद तक ग़लत समझा गया। हमें पता लगता है कि वहाँ वरिष्ठों एवं कनिष्ठों की व्यवस्था कर उनका धर्मसंघ बनाने के सैकड़ों प्रयत्न किये गये। यदि लोगों से कहो कि सभी देवता हैं, तो तुम धर्मसंघ को ज्यादा कारगर नहीं बना सकते। वेदान्त के अच्छे प्रभावों में से एक यह है कि धार्मिक विचारों में स्वतन्त्रता रही है, जिसका उपभोग

भारत ने अपने इतिहास के सभी कालों में किया है। यह एक गौरव की बात है कि यह एक ऐसा देश है, जहाँ कभी धार्मिक उत्पीड़न नहीं हुआ और जहाँ लोगों को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता दी जाती है।

वेदान्त के इस व्यावहारिक पक्ष की आज भी उतनी ही आवश्यकता है, जितनी पहले कभी थी; और शायद पहले की अपेक्षा कहीं अधिक आवश्यकता है, क्योंकि ज्ञान के विस्तार के साथ विशेषाधिकार का यह दावा अत्यधिक घनीभूत हो गया है। भगवान् और शैतान या अहुर्मज्द और अहिर्मन की कल्पना में पर्याप्त काव्य है। सुर और असुर में कुछ भेद नहीं है, भेद केवल निःस्वार्थ तथा स्वार्थ में है। असुर भी उतना जानता है, जितना सुर, उसमें बस पवित्रता नहीं होती—इसीसे वह असुर बन जाता है। आधुनिक संसार पर वही भावना लागू करो। अपवित्र ज्ञान और शक्ति का अतिरेक मनुष्यों को असुर बना देता है। यन्त्रों तथा अन्य साज-सामानों के निर्माण से बहुत बड़ी शक्ति प्राप्त की जा रही है और आज विशेषाधिकारों का ऐसा दावा किया जा रहा है, जैसा संसार के इतिहास में पहले कभी नहीं किया गया था। इसी कारण वेदान्त इसके विरुद्ध प्रचार करना चाहता है कि मनुष्यों की आत्मा पर अत्याचार करना समाप्त किया जाय।

तुममें से जिन लोगों ने गीता पढ़ी है, उन्हें यह स्मरणीय उद्धरण याद होगा—'सचमुच वही ऋषि और पण्डित है, जो विद्या तथा विनय से युक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में समदृष्टि रखता है। जिसका अन्तःकरण समता में अर्थात् सब भूतों के अन्तर्गत ब्रह्मरूप समभाव में निश्चलतापूर्वक स्थित हो गया है, उसने जीवितावस्था में ही जन्म को जीत लिया है और क्योंकि वह ब्रह्म निर्दोष है, इसलिए जो समदर्शी एवं निर्दोष हैं, वे ब्रह्म में ही स्थित कहे जाते हैं।'[1] वेदान्ती नैतिकता का यही सारांश है—सबके प्रति साम्य। हम देख चुके हैं कि वह अन्तर्जगत् है, जो बाह्य जगत् पर शासन करता है। आत्मपरिवर्तन के साथ वस्तुपरिवर्तन अवश्यम्भावी है; अपने को शुद्ध कर लो और संसार का विशुद्ध होना अवश्यम्भावी है। पहले के किसी भी समय से अधिक आजकल इस एक बात की शिक्षा की आवश्यकता है। हम लोग अपने विषय में उत्तरोत्तर कम और अपने

---

१. विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥
—गीता॥५।१८-१९॥

पड़ोसियों के विषय में उत्तरोत्तर अधिक व्यस्त होते जा रहे हैं। यदि हम परिवर्तित होते हैं, तो संसार परिवर्तित हो जायगा; यदि हम निर्मल हैं, तो संसार निर्मल हो जायगा। प्रश्न यह है कि मैं दूसरों में दोष क्यों देखूं। जब तक मैं दोषमय न हो जाऊँ, तब तक मैं दोष नहीं देख सकता। जब तक मैं निर्बल न हो जाऊँ, तब तक मैं दुःखी नहीं हो सकता। जब मैं बालक था, उस समय जो चीजें मुझे दुःखी बना देती थीं, अब वैसा नहीं कर पातीं। कर्ता में परिवर्तन हुआ, इसलिए कर्म में परिवर्तन अवश्यम्भावी है—यह वेदान्त का मत है। जब हम समत्व की अद्भुत स्थिति में पहुँच जायँगे अर्थात् साम्यभाव प्राप्त कर लेंगे तब उन सभी वस्तुओं पर हमें हँसी आयेगी, जिन्हें हम दुःखों और अशुभ का निमित्त कहते हैं। इसीको वेदान्त में मुक्ति-लाभ कहा गया है। उस मुक्ति तक पहुँचने का लक्षण यह है कि इस प्रकार का अनन्य भाव तथा समत्व अधिकाधिक प्रतीत होगा। 'सुख-दुःख में सम, जयपराजय में सम'—इस प्रकार की मनःस्थिति मुक्तावस्था के निकट है।

मन आसानी से नहीं जीता जा सकता। हलकी से हलकी उत्तेजना या खतरा आने पर, प्रत्येक छोटी सी घटना उपस्थित होने पर, जो मन तरंगायमान होने लगते हैं, उनकी दशा भला क्या होगी? जब इस प्रकार के विकार मन में उत्पन्न होते हैं, तब महानता और आध्यात्मिकता की चर्चा का क्या प्रयोजन? मन की यह अस्थिर दशा बदलनी ही होगी। हमें स्वयं अपने से पूछना चाहिए कि हमारे ऊपर बाह्य जगत् की कहाँ तक प्रतिक्रिया हो सकती है और अपने बाहर की तमाम शक्तियों के बावजूद कहाँ तक हम अपने पैरों पर खड़े हो सकते हैं। जब दुनिया की सारी शक्तियों को हम अपना सन्तुलन बिगाड़ने से रोकने में सफल हो जायँ, तभी हम मुक्त हैं और उसके पूर्व नहीं। वही उद्धार है। वह यहीं है और अन्यत्र नहीं—वह यही क्षण है। इस भाव से और इस मूल स्रोत से सभी सुन्दर विचार-धाराओं का संसार में प्रवाह हुआ है, जो प्रत्यक्षतः परस्पर विरोधी हैं और जिनकी अभिव्यक्ति सामान्यतः ग़लत अर्थ में समझी गयी है। प्रत्येक राष्ट्र में हम ऐसे कितने ही वीर तथा अद्भुत आध्यात्मिक व्यक्ति पाते हैं, जो ध्यान-धारणा के लिए गुफाओं और वनों में चले गये तथा जिन्होंने बाहरी दुनिया से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। यह तो एक भाव है। दूसरी ओर हमें ऐसे प्राणी मिलते हैं, जो समुज्ज्वल और यशस्वी हैं और जो समाज में प्रवेश करते हैं तथा जनगण एवं दीन-दुःखियों की समुन्नति के लिए यत्न करते हैं। देखने में ये दोनों विधियाँ परस्पर-विरोधी हैं। जो अपने भाई मनुष्यों से पृथक् गुफा में निवास करता है, वह उन लोगों पर घृणा की दृष्टि से हँसता है, जो अपने भाई मनुष्यों के पुनरुद्धार के लिए कार्य कर रहे हैं। वह कहता है, "कितनी मूर्खता की बात है! वहाँ क्या काम है? माया का संसार

सदा मायामय रहेगा। वह बदल नहीं सकता।" यदि मैं भारत के किसी अपने पुरोहित से पूछूँ कि क्या वेदान्त में तुम्हें विश्वास है, तो वह जवाब देगा, "वह तो मेरा धर्म है; मैं अवश्य विश्वास करता हूँ; वह मेरा प्राण है।" "बहुत ठीक, तो क्या तुम प्राणिमात्र की समता और प्रत्येक वस्तु की अनन्य एकता को स्वीकार करते हो?" "निश्चय ही, मैं स्वीकार करता हूँ।" परन्तु दूसरे ही क्षण जब एक नीच जाति का आदमी पुरोहित के पास पहुँचता है, तो उसकी छूत से बचने के लिए वह छलाँग मारकर सड़क के किनारे चला जाता है। "कूदते क्यों हो?" "क्योंकि उसके स्पर्श मात्र से मैं अपवित्र हो जाता।" "परन्तु तुम तो अभी अभी कह रहे थे कि हम सब एक ही हैं और तुम स्वीकार करते हो कि प्राणियों में कोई भेद नहीं है।" वह जवाब देता है, "अरे भाई, गृहस्थों के लिए तो यह केवल सिद्धान्त का विषय है; जब मैं (संन्यास लेकर) वन में जाऊँगा, तब मैं समदर्शी हो जाऊँगा।" तुम इंग्लैंड में अपने किसी बड़े आदमी से, जो बड़े कुल में पैदा हुआ हो और धनी हो, पूछो कि जब सभी ईश्वर के यहाँ से आये हैं, तब क्या तुम ईसाई होने के नाते मनुष्य जाति के भ्रातृत्व में विश्वास करते हो? वह स्वीकारात्मक उत्तर देगा, किन्तु पाँच मिनट में ही वह सामान्य लोगों के प्रति कुछ अनादरसूचक शब्दों का ज़ोर से प्रयोग करने लगेगा। अतएव कई हज़ार वर्षों तक यह कोरा सिद्धान्त ही रहा है और कभी कार्य रूप में परिणत नहीं हुआ। इसे सब समझते हैं, सब इसे सत्य घोषित करते हैं, किन्तु जब व्यवहार में लाने की बात कहो, तो लोग कहने लगते हैं कि इसमें लाखों वर्ष लगेंगे।

कोई राजा था, जिसके बहुत से सभासद थे और इन सभासदों में से प्रत्येक यह दम भरता था कि अपने स्वामी के लिए वह जीवनोत्सर्ग करने को उद्यत है और उससे बढ़कर निष्कपट व्यक्ति कभी कोई पैदा ही नहीं हुआ। कालान्तर में एक संन्यासी राजा के यहाँ आया। राजा ने उससे कहा कि मेरे यहाँ जितने अधिक सच्चे सभासद हैं, उतने पहले किसी राजा के यहाँ कभी नहीं थे। संन्यासी मुसकराने लगा और उसने कहा कि मैं इस पर विश्वास नहीं करता। राजा ने कहा कि यदि चाहें तो संन्यासी महोदय परीक्षा ले सकते हैं। तब संन्यासी ने घोषणा की कि वह एक बहुत बड़ा यज्ञ करेगा, जिसके द्वारा राजा का राज्यकाल बहुत दीर्घ हो जायगा, लेकिन शर्त यह है कि एक छोटा सा तालाब बनना चाहिए, जिसमें रात्रि के अन्धकार में प्रत्येक सभासद एक एक घड़ा दूध उड़ेल दे। राजा मुसकराया और उसने कहा, "क्या यही परीक्षा है?" उसने सभासदों को अपने पास बुलाया और उन्हें बताया कि क्या करना है। सबने प्रस्ताव पर अपनी सहर्ष स्वीकृति प्रदान की और वे सब लौट गये। निशीथ वेला में आ आकर उन्होंने अपने घड़े उड़ेले।

परन्तु सवेरे देखा गया तो वह केवल पानी से भरा था। सभासद एकत्र किये गये और उनसे इस मामले में पूछताछ की गयी। उनमें से प्रत्येक ने यह सोचा था कि इतने घड़ों का दूध हो जायगा कि उसके द्वारा उड़ेले गये पानी का पता न लगेगा। दुर्भाग्य से हममें से अधिकांश का भाव यही होता है और हम अपने कार्य-भाग को उसी प्रकार करते हैं, जैसा कहानी के सभासदों ने किया है।

पुरोहित कहता है कि समता का भाव इतना अधिक है कि मेरे छोटे से विशेषाधिकार की पोल नहीं खुलेगी। यही बात हमारे धनिक कहते हैं, यही बात प्रत्येक देश के अत्याचारी कहते हैं। जिन पर अत्याचार होता है, उनके लिए उन लोगों की अपेक्षा अधिक आशाएँ हैं, जो अत्याचारी हैं। मुक्ति-लाभ करने में अत्याचारियों को बहुत लम्बा समय लगेगा, पर अन्य लोगों को अपेक्षाकृत कम समय लगेगा। लोमड़ी की क्रूरता सिंह की क्रूरता से अत्यधिक भयानक है। सिंह एक आघात करता है और बाद में कुछ समय शान्त रहता है, लेकिन लोमड़ी लगातार शिकार का पीछा करने की कोशिश में कोई मौक़ा हाथ से नहीं जाने देती। पौरोहित्य प्रकृत्या क्रूर तथा हृदयहीन है। यही कारण है कि जहाँ पौरोहित्य का उदय हुआ, वहाँ धर्म का अधःपतन हो जाता है। वेदान्त कहता है कि हमें विशेषाधिकार का भाव अवश्य त्याग देना होगा, तभी धर्म आयेगा। उसके पूर्व धर्म का लेश भी नहीं है।

क्या ईसा के इस कथन पर तुम्हारा विश्वास है, 'तुम्हारे पास जो कुछ है, उसे बेच दो और ग़रीबों को दे दो?' वहाँ व्यावहारिक समता है, शास्त्र को तोड़-मरोड़कर व्याख्या का प्रयास मत करो, सत्य को यथावत् ग्रहण करो! तोड़-मरोड़कर शास्त्र की व्याख्या का प्रयास मत करो। मैंने लोगों को यह कहते सुना है कि केवल उन मुट्ठी भर यहूदियों को वह उपदेश दिया गया था, जिन्होंने ईसा की बातों को ध्यानपूर्वक सुना। अन्य बातों में भी वही तर्क लागू होगा। शास्त्रों को मत तोड़ो-मरोड़ो; सत्य यथावत् ग्रहण करने का साहस करो। यदि हम वहाँ तक पहुँच न भी सकें, तो अपनी दुर्बलता स्वीकार कर लें, किन्तु हम आदर्श का विनाश न करें। हम आशा करें कि कभी उसे उपलब्ध कर लेंगे और एतदर्थ प्रयास करें। वही तो है—'तुम्हारे पास जो कुछ है उसे बेच दो और ग़रीबों को दे दो तथा मेरा अनुसरण करो।' इस प्रकार अपने विशेषाधिकारों तथा अपने भीतर की उस प्रत्येक वस्तु को, जो विशेषाधिकार के लाभ में सहायक है, रौंदते हुए हम उस ज्ञान के लिए उद्यम करें, इससे समस्त मनुष्य जाति के प्रति अनन्यता की भावना पैदा हो। तुम कुछ अधिक परिमार्जित भाषा बोलते हो, इससे सोचते हो कि तुम किसी साधारण व्यक्ति से बढ़कर हो। याद रखो, जब तुम ऐसा सोचते हो, तब तुम मुक्ति की ओर

आगे नहीं बढ़ते हो, प्रत्युत् अपने पैरों में एक नयी बेड़ी डालते हो। सर्वोपरि बात तो यह है कि यदि आध्यात्मिकता का घमंड तुम्हारे भीतर घुसता है, तो तुम्हारे लिए महा विपत्ति है। यह सब बंधनों से बढ़कर महा भयावना बंधन है। धन अथवा मानव हृदय का कोई अन्य बंधन आत्मा को उतना जकड़कर नहीं बाँधता, जितना यह बाँधता है। 'अन्य लोगों की अपेक्षा मैं अधिक पवित्र हूँ'—यह भाव उन सबसे अधिक भयावह है, जिनका प्रवेश कभी मानव के हृदय में हो सकता है। किस अर्थ में तुम पवित्र हो ? तुम्हारे अन्दर जो परमात्मा है, वही परमात्मा सबमें है। यदि तुमने यह न जाना, तो कुछ न जाना। भेद हो कैसे सकता है ? यह सब तो एक है। प्रत्येक प्राणी सर्वोच्च प्रभु का मन्दिर है। यदि तुम उसे देख सके, तो ठीक है और यदि नहीं देख सके, तो तुममें आध्यात्मिकता अभी तक नहीं आयी।

विशेषाधिकार

(लंदन के सेसम क्लब में दिया गया व्याख्यान)

समस्त प्रकृति में दो शक्तियाँ कार्य करती हुई प्रतीत होती हैं। इनमें से एक निरन्तर भिन्नता और दूसरी निरन्तर एकता उत्पन्न करती रहती है। एक अधिकाधिक पृथक् व्यष्टियों के निर्माण में लगी है और दूसरी मानो व्यष्टियों को एक समष्टि में लाने और इन नाना भेदों के बीच अभेद लाने में लगी है। ऐसा ज्ञान पड़ता है कि इन दोनों शक्तियों का कार्य प्रकृति तथा मानव जीवन के प्रत्येक विभाग में प्रविष्ट होता है। हम सदा दोनों शक्तियों को भौतिक स्तर पर सर्वापेक्षा सुस्पष्ट कार्य करते हुए पाते हैं। वे व्यष्टियों को पृथक् करती रहती हैं, अन्य व्यष्टियों से उन्हें अधिकाधिक भिन्न बनाती रहती हैं और फिर उन्हें जातियों और श्रेणियों में विभक्त करती हैं एवं अभिव्यक्तियों तथा आकृतियों में एकरूपता लाती हैं। मनुष्य के सामाजिक जीवन में भी यही लागू होता है। जिस काल से समाज आरम्भ हुआ, ये दोनों शक्तियाँ कार्य कर रही हैं, विभेदीकरण तथा एकीकरण में लगी हैं। विभिन्न स्थानों और विभिन्न कालों में उनका कार्य नाना रूपों में प्रकट होता है और वह नाना नामों से सम्बोधित होता है। परन्तु सार सबमें विद्यमान है, एक शक्ति विभेदीकरण और दूसरी एकीकरण के लिए सचेष्ट है; एक जाति बनाने और दूसरी उसे तोड़ने के लिए कार्य कर रही है; एक श्रेणियों तथा विशेषाधिकारों को जन्म देने और दूसरी उनका विनाश करने में लगी है। सारा विश्व इन दोनों शक्तियों का रण-क्षेत्र प्रतीत होता है। एक ओर यह आग्रह है कि यद्यपि एकीकरण की इस प्रक्रिया का अस्तित्व है, पर हमें अपनी पूरी शक्ति लगाकर इसका प्रतिरोध करना ही चाहिए, क्योंकि यह मृत्यु की ओर ले जाती है, पूर्ण एकत्व पूर्ण विनाश है, और इस विश्व में विभेदीकरण की प्रक्रिया जब बंद हो जाती है, तब विश्व का अन्त हो जाता है। यह विभेदीकरण ही है, जो हमारे सम्मुख स्थित इस जगत् की घटनावली का निमित्त है; एकीकरण उन्हें समरूप और निर्जीव जड़ पदार्थ में रूपान्तरित कर देगा। निश्चय ही मानव जाति ऐसी स्थिति से बचना चाहती है। हम अपने चतुर्दिक् जो वस्तुएँ तथा तथ्य देखते हैं, उन सब पर यही तर्क लागू होता है। इस बात पर ज़ोर दिया जाता है कि इस भौतिक शरीर और सामाजिक वर्गीकरण में भी

पूर्ण साम्य अथवा एकरूपता स्वाभाविक मृत्यु तथा सामाजिक मृत्यु उत्पन्न कर देगी। विचार तथा भावना के पूर्ण साम्य से मानसिक अपक्षय और अधःपतन हो जायगा। इसलिए एकरूपता का परिहार करना है। एक पक्ष की ओर से उपर्युक्त तर्क दिया गया है, और विविध समयों पर हर देश में भिन्न शब्दों के द्वारा उस पर जोर दिया गया है। भारत के ब्राह्मण अन्य सब लोगों के विरुद्ध समाज के विशेष अंश के विशेषाधिकारों को बनाये रखने तथा वर्ग-भेद और वर्ण-व्यवस्था का प्रतिपादन करने में इन्हीं तर्कों पर बल देते हैं। वे घोषणा करते हैं कि जाति-भेद के विनाश से समाज का विनाश हो जायगा और साहसपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों का प्रमाण पेश करते हैं कि उनका समाज सर्वाधिक चिरजीवी है। अतः शक्ति के किंचित् दिखावे के साथ वे इस तर्क का सहारा लेते हैं। प्रामाणिकता के किंचित् दिखावे के साथ वे घोषणा करते हैं कि व्यक्ति को अल्पतर जीवन प्रदान करनेवाली व्यवस्था की अपेक्षा उसे दीर्घतम जीवन प्रदान करनेवाली व्यवस्था निश्चित रूप से श्रेष्ठ है।

दूसरी ओर एकत्व के भाव के समर्थक भी सभी कालों में रहे हैं। उपनिषदों, बुद्धों और ईसा मसीहों तथा अन्य महान् धर्मोपदेष्टाओं के समय से हमारे वर्तमान काल तक नयी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं में, उत्पीड़ितों तथा पददलितों के दावों तथा विशेषाधिकारों से विहीन व्यक्तियों के दावों में, बस इसी एकता और एकरूपता की एक आवाज़ बुलंद हुई है। किन्तु मानव प्रकृति अपने को व्यक्त करती ही है। जिन्हें कोई सुविधा प्राप्त है, वे उसे बनाये रखना चाहते हैं और उन्हें कोई तर्क मिल जाता है—चाहे वह कितना भी एकांगी और रद्दी क्यों न हो—और वे उस पर डटे रहते हैं। दोनों ही पक्षों पर यह बात लागू होती है।

दर्शन या तत्त्वज्ञान में यह प्रश्न दूसरा रूप धारण कर लेता है। बौद्धों का कहना है कि इस दृश्य प्रपंच के मध्य एकता स्थापित करनेवाली वस्तु खोजने की हमें आवश्यकता नहीं। दृश्य जगत् पर ही हमें सन्तोष करना चाहिए। चाहे कितनी भी दुःखमय और निर्बल क्यों न हो, यह विविधता जीवन का सार है, उससे अधिक हमें कुछ नहीं मिल सकता। वेदान्ती कहता है कि केवल एकत्व ही ऐसी वस्तु है, जिसका अस्तित्व है; विविधता तो केवल दृश्य प्रपंच, क्षणभंगुर और प्रतीयमान है। वेदान्ती कहता है 'नानात्व मत देखो, एकत्व की ओर वापस जाओ।' बौद्ध कहता है, 'एकत्व से बचो, वह भ्रान्ति है; नानात्व की ओर जाओ।' धर्म तथा दर्शन में वे ही मतभेद हम लोगों के समय तक चले आ रहे हैं, क्योंकि वस्तुतः ज्ञान के मूल तत्त्वों की संख्या बहुत कम है। दर्शन और दार्शनिक ज्ञान, धर्म तथा धार्मिक ज्ञान पाँच हज़ार वर्ष पूर्व अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गये और हम लोग उन्हीं सत्यों को विभिन्न भाषाओं में केवल दुहरा भर रहे हैं, कभी कभी नये दृष्टान्तों द्वारा

उन्हें समृद्ध भर कर देते हैं। इसलिए आज भी यह एक संघर्ष है। एक पक्ष चाहता है कि हम दृश्य प्रपंच में क़ायम रहें, इन विविधताओं पर आरूढ़ रहें और वह तर्क के बड़े आग्रह से संकेत करता है कि विविधता को रखना ही होगा, क्योंकि जब वह ख़त्म हो जायगी, तब प्रत्येक वस्तु समाप्त हो जायगी। जीवन का हम जो अर्थ लगाते हैं, उसका निमित्त नानात्व है। इसीके साथ दूसरा पक्ष दृढ़ साहस के साथ एकत्व की ओर संकेत करता है।

जब हम नीतिशास्त्र पर विचार करते हैं, तो हमें बड़ा अंतर मिलता है। शायद यही एक विज्ञान है, जो इस संघर्ष का साहसपूर्ण अतिक्रमण करता है। क्योंकि नीतिशास्त्र एकता है; इसका आधार है प्रेम। वह इस विविधता पर दृष्टिपात नहीं करता। नीतिशास्त्र का एकमात्र उद्देश्य है, यह एकत्व और यह एकरूपता। आज तक मानव जाति नैतिकता के जिन उच्चतम विधानों की खोज कर सकी है, वे विविधता नहीं स्वीकार करते, उसकी खोज-बीन के निमित्त रुकने के लिए उनके पास समय नहीं है, उनका एक उद्देश्य बस वही एकरूपता लाना है। भारतीय मस्तिष्क—मेरा अभिप्राय वेदान्ती मस्तिष्क से है—अधिक विश्लेषक है और उसने समस्त विश्लेषण के परिणामस्वरूप इस एकत्व का पता लगाया और उसने एकत्व के इस एक भाव पर प्रत्येक वस्तु को आधारित करना चाहा। किन्तु जैसा कि हम चर्चा कर चुके हैं, उसी देश में अन्य मस्तिष्क (बौद्ध) थे, जो वह एकत्व कहीं नहीं देख सके। उनकी दृष्टि में संपूर्ण सत्य विविधता का ही समुच्चय है और एक वस्तु का दूसरी से कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रोफ़ेसर मैक्समूलर ने अपनी एक पुस्तक में एक पुरानी यूनानी कहानी का उल्लेख किया है, जो मुझे स्मरण है। उसमें बताया गया है कि एक ब्राह्मण किस प्रकार एथेन्स में सक्रेटिस के यहाँ गया। ब्राह्मण ने पूछा, "सर्वोच्च ज्ञान क्या है?" और सक्रेटिस ने जवाब दिया, "मनुष्य को जान लेना समस्त ज्ञान का चरम लक्ष्य और उद्देश्य है।" "परन्तु ईश्वर को जाने बिना आप मनुष्य को कैसे जान सकेंगे?" ब्राह्मण ने प्रत्युत्तर दिया। एक पक्ष, जो यूनानी पक्ष है और जिसका प्रतिनिधित्व आधुनिक यूरोप करता है, मनुष्य-ज्ञान पर बल देता है; भारतीय पक्ष, जिसका अधिकांश प्रतिनिधित्व संसार के प्राचीन धर्म करते हैं, ईश्वर-ज्ञान पर बल देता है। एक प्रकृति में ईश्वर तथा दूसरा ईश्वर में प्रकृति का दर्शन करता है। वर्तमान काल में शायद हम लोगों को यह सुविधा प्राप्त हुई है कि दोनों दृष्टिकोणों के प्रति तटस्थ रहकर सब पर निष्पक्ष विचार कर सकें। यह एक तथ्य है कि विविधता का अस्तित्व है और यदि जीवन को क़ायम रहना है, तो यह (विविधता) अवश्य रहेगी। यह भी एक तथ्य है कि इस नानात्व में और इसके बीच एकत्व को अवगत

करना होगा। प्रकृति में ईश्वर दिखायी पड़ता है, यह तथ्य है। परन्तु यह भी एक तथ्य है कि प्रकृति का दर्शन ईश्वर में होता है। मनुष्य-ज्ञान सर्वोच्च ज्ञान है और केवल मनुष्य-ज्ञान द्वारा ही हम ईश्वर को जान सकते हैं। यह भी एक तथ्य है कि ईश्वर-ज्ञान सर्वोच्च ज्ञान है और केवल ईश्वर-ज्ञान से ही हम मनुष्य को जान सकते हैं। यद्यपि देखने में ये दोनों वक्तव्य परस्पर विरोधी जान पड़ सकते हैं, किन्तु वे मनुष्य की प्रकृति की आवश्यकता हैं। समस्त विश्व नानात्व में एकत्व तथा एकत्व में नानात्व का खेल है। समस्त विश्व भेद-अभेद की क्रीड़ाभूमि है; समस्त विश्व असीम में ससीम की लीला है। दूसरे को ग्रहण किये बिना हम पहले को अंगीकार नहीं कर सकते। लेकिन हम दोनों को न तो एक ही प्रत्यक्ष बोध के रूप में ग्रहण कर सकते हैं और न एक ही अनुभूति के तथ्य के रूप में। फिर भी इसी प्रकार यह क्रम सदा चलता रहेगा।

अतएव जब हम धर्म की विवेचना करते हैं, जो हमारे लिए नीतिशास्त्र की अपेक्षा अधिक विशेष अभिप्राय का विषय है, तो जब तक जीवन का अस्तित्व रहेगा, तब तक ऐसी अवस्था का होना असम्भव है, जिसमें सारी विविधताओं का लोप होकर एक सी मृत समरूपता क़ायम हो जाय। यह वांछनीय भी नहीं। साथ ही तथ्य का दूसरा पहलू है—एकत्व का अस्तित्व पहले से ही है। यह है विचित्र दावा—यह नहीं कि इस एकत्व को बनाना है, वरन् यह कि इसका अस्तित्व पहले से ही है और उसके बिना तुम्हें नानात्व का किंचित् प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। यह सब धर्मों का दावा रहा है। जब कभी किसीने ससीम का प्रत्यक्ष किया है, तब उसने असीम का भी प्रत्यक्ष किया है। कुछ ने ससीम पर बल दिया और घोषित किया कि उन्होंने बाह्य ससीम का प्रत्यक्ष किया; दूसरों ने असीम पक्ष पर बल दिया और घोषित किया कि उन्होंने केवल असीम का प्रत्यक्ष किया। पर हम जानते हैं कि यह तार्किक आवश्यकता है कि हम एक के बिना दूसरे का प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। इसलिए दावा यह है कि यह एकत्व, यह पूर्णत्व—जैसा कि इसे हम कह सकते हैं—बनने को नहीं है, इसका पहले से ही अस्तित्व है और यह यहाँ विद्यमान है। हमें केवल उसे मान्यता प्रदान करना है और उसे समझना है। चाहे उसे हम जानते हों या नहीं, चाहे उसे हम स्पष्ट भाषा में व्यक्त कर सकते हों या नहीं, चाहे इस प्रत्यक्ष में इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की स्पष्टता और शक्ति हो या न हो, पर वह है अवश्य। अपने मन की तार्किक आवश्यकता के कारण हम यह स्वीकार करने के लिए बाध्य हैं कि वह यहाँ विद्यमान है, अन्यथा ससीम का प्रत्यक्ष न हो पाता। मैं द्रव्य और गुण के प्राचीन सिद्धान्त की चर्चा नहीं कर रहा हूँ, वरन् एकत्व की चर्चा कर रहा हूँ कि इस सब दृश्य प्रपंच-समूह के बीच चेतना का यह

तथ्य तो हृदयंगम होता ही है कि मैं और तुम एक दूसरे से भिन्न हैं और साथ ही यह चेतना भी कि मैं और तुम एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं। उस एकत्व के बिना ज्ञान असम्भव होता। अभेद के भाव बिना न प्रत्यक्ष बोध होगा, न ज्ञान। इसलिए दोनों साथ साथ चलते हैं।

अतएव यदि परिस्थितियों की पूर्ण एकरूपता नीतिशास्त्र का उद्देश्य हो, तो वह असम्भव प्रतीत होता है। चाहे हम कितना भी प्रयत्न क्यों न करें, सब मनुष्य एक से कभी नहीं हो सकते। मनुष्य जन्म से ही भिन्न भिन्न होंगे; कुछ में अन्य की अपेक्षा अधिक सामर्थ्य होगा; कुछ में स्वाभाविक क्षमता होगी, दूसरों में नहीं; कुछ के शरीर पूर्ण विकसित होंगे और दूसरों के नहीं। हम इसे कभी रोक नहीं सकते। इसके साथ ही विभिन्न आचार्यों द्वारा उपदिष्ट नैतिकता के ये अद्भुत शब्द हमारे कर्ण-कुहरों में प्रविष्ट होते हैं—'एक ही ईश्वर को सबमें सम भाव से देखनेवाला मनीषी पुरुष आत्मा से आत्मा की हिंसा नहीं करता और इस प्रकार परम गति को प्राप्त होता है। जिसका अन्तःकरण समता में अर्थात् सब भूतों में स्थित ब्रह्मरूप सम भाव में निश्चलतापूर्वक स्थित हो गया है, उसने जीवितावस्था में ही जन्म को जीत लिया है; और क्योंकि ब्रह्म निर्दोष है, इसलिए जो समदर्शी एवं निर्दोष हैं, वे ब्रह्म में ही स्थित कहे जाते हैं।"[1] हम इसे अस्वीकार नहीं कर सकते कि यही यथार्थ भाव है; फिर भी इसीके साथ यह कठिनाई उपस्थित होती है कि वाह्य रूपों तथा अवस्था में कभी साम्य प्राप्त नहीं हो सकता।

किन्तु जिसकी सम्प्राप्ति हो सकती है, वह है विशेषाधिकार का निराकरण। सारे संसार के समक्ष वास्तव में यही कार्य है। प्रत्येक जाति और प्रत्येक देश के सामाजिक जीवन में यह संघर्ष होता रहा है। कठिनाई यह नहीं है कि कोई जन-समूह किसी अन्य जनसमूह से प्रकृत्या अधिक मेधावी है, परन्तु क्या जिस जनसमूह को बौद्धिक सुविधाएँ प्राप्त हैं, वह उन लोगों के शारीरिक सुख-भोग भी छीन ले, जिनको वे सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं। संघर्ष है उस विशेषाधिकार के उन्मूलन का। यह स्वयंसिद्ध तथ्य है कि अन्य लोगों की अपेक्षा कुछ लोगों में शारीरिक बल अधिक होगा और इस प्रकार स्वाभाविक है कि वे निर्बल को दबा देंगे या परास्त कर देंगे; परन्तु यह क़ानून नहीं कहता कि इस बल के कारण जीवन के सभी प्राप्य सुखों को

---

१. समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥ गीता॥ १३।२८॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ गीता ॥५।१९॥

वे स्वयं अपने में समेट लें, और संघर्ष इसीके विरुद्ध रहा है। यह स्वाभाविक है कि कुछ लोग स्वभावतः सक्षम होने के कारण दूसरों की अपेक्षा अधिक धन संग्रह कर लें; किन्तु धन प्राप्त करने के इस सामर्थ्य के कारण वे उन लोगों पर अत्याचार और अन्धाधुन्ध व्यवहार करें, जो उतना अधिक धन संग्रह करने में समर्थ न हों, तो यह क़ानून का अंग नहीं है, और संघर्ष इसके विरुद्ध हुआ है। अन्य के ऊपर सुविधा के उपभोग को विशेषाधिकार कहते हैं और इसका विनाश करना युग युग से नैतिकता का उद्देश्य रहा है। यह कार्य ऐसा है, जिसकी प्रवृत्ति साम्य और एकत्व की ओर है तथा जिससे विविधता का विनाश नहीं होता।

इन विविधताओं को अनन्त काल तक रहने दो; यह तो जीवन का सार है। अनन्त काल तक हम सब इस प्रकार लीला करेंगे। तुम धनी होगे, मैं निर्धन; तुम सबल होगे और मैं निर्बल; तुम विद्वान् होगे और मैं अज्ञानी; तुम बहुत आध्यात्मिक होगे और मैं कम। किन्तु उससे क्या? हम लोग वैसे बने रहें; लेकिन चूंकि तुममें शारीरिक तथा बौद्धिक बल अपेक्षाकृत अधिक है, इसलिए तुम्हें मेरी अपेक्षा अधिक विशेषाधिकार कदापि नहीं प्राप्त होना चाहिए और यदि तुम्हारे पास अधिक धन है, तो कोई कारण नहीं कि तुम मुझसे बड़े समझे जाओ, क्योंकि विभिन्न दशाओं के बावजूद वही अभेद यहाँ विद्यमान है।

नानात्व के बावजूद एकत्व को स्वीकार करना, प्रत्येक वस्तु के हमारे लिए भयप्रद प्रतीत होने के बावजूद अन्तःकरण में ईश्वर को स्वीकार करना, सभी प्रत्यक्ष दुर्बलताओं के बावजूद असीम बल को प्रत्येक का गुण स्वीकार करना और ऊपरी सतह के सभी विरोधाभासों के बावजूद आत्मा की शाश्वत, अनन्त और तात्त्विक पवित्रता को स्वीकार करना नीतिशास्त्र का कार्य रहा है और भविष्य में भी रहेगा, न कि विविधता का विनाश करना और वाह्य जगत् में एकरूपता की स्थापना करना—जो असम्भव है, क्योंकि उससे मृत्यु तथा विनाश हो जायगा। इसे हमें स्वीकार करना पड़ेगा। केवल एक पक्ष का ग्रहण और उस पक्ष की अर्द्ध स्वीकृति खतरनाक है और उससे विवाद की आशंका है। सम्पूर्ण वस्तु को हमें यथावत् ग्रहण करना होगा, अपना आधार बनाकर उस पर खड़ा होना होगा तथा व्यक्ति के रूप में एवं समाज के इकाई-सदस्य के रूप में अपने जीवन के प्रत्येक अंग में उसे चरितार्थ करना होगा।

सभ्यता का अवयव वेदान्त

(एअर्ली लॉज, रिजवे गार्डेन्स, इंग्लैण्ड में दिये गये एक भाषण का उद्धरण)

जो लोग किसी वस्तु का केवल वाह्य स्थूल स्वरूप ही देखने में समर्थ हैं, वे भारतीय राष्ट्र को केवल विजितों, पीड़ितों तथा स्वप्नद्रष्टाओं और दार्शनिकों की जाति समझते हैं। वे इस बात को समझने में असमर्थ हैं कि आध्यात्मिक क्षेत्र में भारत ने संसार को जीत लिया है। निःसंदेह यह सच है कि जिस प्रकार अत्यधिक कार्यशील पाश्चात्य बुद्धि प्राच्य अन्तर्वीक्षण और चिन्तनशीलता को अपनाने से लाभान्वित होगी, उसी प्रकार प्राच्य बुद्धि भी किंचित् अधिक कार्यशीलता तथा ऊर्ज-स्विता के द्वारा लाभान्वित होगी। फिर भी, हम पूछ सकते हैं कि वह शक्ति क्या है, जिसके कारण सहिष्णु तथा पीड़ित जातियाँ—हिन्दू तथा यहूदी, जिन दो जातियों से विश्व के महान् धर्म निकले, जीवित रहीं, जब कि अन्य राष्ट्र विनष्ट हो गये ? इसका कारण केवल आध्यात्मिक शक्ति हो सकती है। आज भी हिन्दू शान्त भाव से जीवित हैं; तथा यहूदी, जब वे फ़िलिस्तीन में रहते थे, तब की अपेक्षा आज अधिक संख्या में पाये जाते हैं। भारतीय दर्शन समस्त सभ्य संसार में व्याप्त हो गया है और अपनी इस यात्रा में सभ्यताओं को ओतप्रोत तथा परिमार्जित करता गया है। इसी प्रकार, प्राचीन काल में भी जब यूरोप अज्ञात था, भारत का वाणिज्य अफ़्रीका के छोर तक पहुँच गया था, विश्व के अन्य भागों से आवागमन स्थापित कर चुका था, जिससे यह मान्यता निर्मूल सिद्ध हो जाती है कि भारतीय अपने देश के वाहर कभी नहीं गये।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि किसी विदेशी शक्ति का भारत पर आधिपत्य, उस शक्ति के इतिहास में उसे एक मोड़ देनेवाला विन्दु रहा है, जिससे उसको धन, वैभव, राज्य तथा आध्यात्मिक विचार प्राप्त होते रहे हैं। जब कि एक पाश्चात्य मनुष्य यह नापने का प्रयत्न करता है कि उसके लिए कितना अधिक परिग्रह और भोग कर सकना संभव है, प्राच्य मनुष्य विपरीत दिशा में जाता है और नापता सा है कि वह कम से कम कितनी भौतिक संपत्ति से काम चला सकता है। उस प्राचीन जाति में ईश्वर को प्राप्त करने के प्रयत्न का सूत्र हम वेदों में पाते हैं। उस ईश्वर की प्राप्ति के हेतु उन लोगों ने उपासना के विभिन्न स्तरों

को अपनाया। पितरों की पूजा से आरम्भ कर वे लोग अग्नि, अर्थात् अग्निदेवता, इन्द्र, अर्थात् तड़ित के देवता तथा देवाधिदेव वरुण तक पहुँच गये। ईश्वर सम्बन्धी कल्पना का विकास, अर्थात् बहुदेववाद से एकेश्वरवाद, हम सभी धर्मों में पाते हैं। इसका सही अर्थ यह है कि वह ईश्वर वनजातियों के देवताओं में प्रधान है, विश्व की सृष्टि करता है, शासन करता है तथा प्रत्येक हृदय को देखता रहता है। इस प्रकार से यह क्रमिक विकास बहुदेववाद से एकेश्वरवाद की ओर ले जाता है। परन्तु ईश्वर की यह मानवीय कल्पना हिन्दुओं को सन्तुष्ट नहीं कर सकी। यह कल्पना उन लोगों के लिए, जो दिव्य तत्त्व का अन्वेषण कर रहे थे, अत्यधिक मानवीय थी। अतएव, उन लोगों ने ईश्वर का अन्वेषण इन्द्रियजन्य तथा बाह्य भौतिक जगत् में करना छोड़ दिया और अपना ध्यान अन्तर्जगत् के प्रति केन्द्रित किया। क्या कोई अन्तर्जगत् है भी? वह है तो क्या है? यह है आत्मा। यह स्वयंस्वरूप है तथा केवल यही एक ऐसा तत्त्व है, जिसके विषय में कोई व्यक्ति निश्चित हो सकता है। यदि वह स्वयं अपने को जान ले, तो वह समूचे ब्रह्माण्ड को जान सकता है, अन्यथा नहीं। यही प्रश्न दूसरे रूप में काल के प्रारम्भ में ही, ऋग्वेद में पूछा गया था—'कौन अथवा क्या आदि काल ही से वर्तमान था?' इस प्रश्न का उत्तर क्रम से वेदांत दर्शन ने दिया कि आत्मा ही आदि काल में स्थित थी, अर्थात्, जिसे हम ब्रह्म, विश्वात्मा तथा स्वयंस्वरूप कहते हैं, वह शक्ति है जिसके द्वारा प्रारम्भ से ही सभी तत्त्व व्यक्त हुए थे, हो रहे हैं और होंगे।

वेदान्त के दार्शनिकों ने उपर्युक्त प्रश्न का हल करते हुए नीतिशास्त्र के मूल आधार का भी आविष्कार किया। यद्यपि सभी धर्म 'हत्या मत करो; हिंसा मत करो; अपने पड़ोसियों को अपने ही जैसा प्यार करो' इत्यादि नैतिकतामूलक आचार की शिक्षा देते हैं, परन्तु किसी भी धर्म ने इन शिक्षाओं के मौलिक सिद्धान्त पर प्रकाश नहीं डाला है। 'मैं अपने पड़ोसी को क्यों न हानि पहुँचाऊँ?' इस प्रश्न का सन्तोषजनक अथवा निश्चयात्मक उत्तर तब तक नहीं प्राप्त हो सका, जब तक हिन्दुओं ने, जो केवल धार्मिक अन्ध नियमों से ही सन्तुष्ट नहीं हो सकते थे, इसका हल आध्यात्मिक विचारधारा से नहीं किया। अतएव, हिन्दुओं का कहना है कि यह आत्मा सम्पूर्ण तथा सर्वव्यापी है; अतः अनन्त है। दो अनन्त तत्त्वों का अस्तित्व नहीं हो सकता, क्योंकि वे एक दूसरे को सीमित कर देंगे और स्वयं भी परिमित हो जायँगे। एक बात और; प्रत्येक जीवात्मा उस विश्वात्मा का, जो कि अनन्त है, एक अंश है। अतः अपने पड़ोसी को हानि पहुँचाकर मनुष्य वस्तुतः स्वयं अपने आपको हानि पहुँचाता है। यह सभी नीति-संहिताओं का आधारभूत दार्शनिक सत्य है।

बहुधा यह विश्वास कर लिया जाता है कि एक व्यक्ति पूर्णता प्राप्त करने की यात्रा में भ्रान्ति से सत्य की ओर जाता है तथा जब एक विचार से दूसरे विचार पर पहुँचता है, तो वह पहलेवाले विचार को निश्चयात्मक रूप से अस्वीकृत कर देता है। परन्तु कोई भी भ्रान्ति सत्य की ओर नहीं ले जा सकती। विभिन्न दशाओं के अतिक्रमण में जीवात्मा एक सत्य से दूसरे सत्य की ओर जाता है, क्योंकि वह निम्न कोटि के सत्य से उच्चतर कोटि के सत्य की ओर जाती है। यह बात निम्नांकित उदाहरण से स्पष्ट की जा सकती है। मान लो कि एक मनुष्य सूर्य की ओर जा रहा है और हर एक पग पर उसका फ़ोटो लेता जाता है। परन्तु जब वह सचमुच ही सूर्य तक पहुँच जाता है, तब उसका लिया हुआ पहला फ़ोटो दूसरे से, और दूसरा तीसरे से या अन्तिम फ़ोटो से कितना भिन्न होगा! परन्तु ये सभी एक दूसरे से अत्यधिक भिन्न होते हुए भी सत्य हैं। केवल समय तथा स्थान की परिवर्तित दशाओं से वे विभिन्न दीख पड़ते हैं। इस सत्य की मान्यता ही के कारण एक हिन्दू सभी धर्मों में, निकृष्ट से उत्कृष्ट में भी उस सार्वभौम सत्य को देखने में समर्थ होता है। इस दृष्टिकोण के कारण हिन्दुओं ने कभी धार्मिक उत्पीड़न का आश्रय नहीं लिया। (यहाँ तक कि) आज एक मुसलमान सन्त की दरगाह, जो मुसलमानों द्वारा निरादृत और विस्मृत कर दी गयी है, वह हिन्दुओं द्वारा पूजी जाती है! इस प्रकार की सहिष्णु प्रवृत्ति के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

प्राच्य बुद्धि तब तक सन्तुष्ट नहीं हो सकती, जब तक सम्पूर्ण मानवता द्वारा ईप्सित लक्ष्य—एकत्व को प्राप्त न कर ले। पाश्चात्य वैज्ञानिक एकत्व को अणु या परमाणु में खोजता है और जब वह इसे पा लेता है, तब उसको आगे और कुछ खोजने को नहीं रह जाता। इस प्रकार जब हम आत्मा या स्वयं की एकता प्राप्त कर लेते हैं, जिसे आत्मा कहते हैं, तब हम आगे नहीं जा सकते। अतः यह स्पष्ट है कि इस बाह्य जगत् में जो कुछ है, वह उसी एक तत्त्व का व्यक्त स्वरूप है।

फिर भी, वैज्ञानिक को भी अध्यात्म को मान्यता देने की आवश्यकता तब आ पड़ती है, जब वह कल्पना करता है कि एक परमाणु, जिसकी लम्बाई और चौड़ाई नहीं होती, वह भी संयुक्त होकर, विस्तार, लम्बाई तथा चौड़ाई का कारण बन जाता है। जब एक अणु दूसरे अणु पर क्रियाशील होता है, तो इसका कारण कोई माध्यम होगा ही। वह माध्यम क्या है? यह (शायद) एक तीसरा परमाणु होगा। यदि ऐसा है, तो भी इस प्रश्न का हल नहीं हो सकता है, क्योंकि ये दो परमाणु तीसरे पर कसे क्रियाशील होंगे? यह स्पष्ट ही एक असंगत तथा तर्क-विरुद्ध विचार है। इस प्रकार के विरोधाभासी पद सभी भौतिक विज्ञानों की आवश्यक परिकल्पनाओं में पाये जाते हैं, जैसे कि बिन्दु वह है, जिसका कोई अंश या विस्तार

न हो; या रेखा वह है, जिसमें चौड़ाईरहित लम्बाई हो। परन्तु ऐसी कल्पनाएँ न देखी जा सकती हैं और न विचारगम्य ही हैं। क्यों ? इसलिए कि ये इन्द्रियों द्वारा बोधगम्य नहीं हैं और ये दार्शनिक कल्पनाएँ हैं। अतः हम देखते हैं कि बुद्धि ही अन्ततः सभी प्रत्यक्षों को स्वरूप प्रदान करती है। जब मैं एक कुर्सी को देखता हूँ, तब वह कुर्सी मेरी आँखों के बाहर की असली कुर्सी नहीं होती, जिसका हमें बोध होता है; परन्तु, वह (कुर्सी) किसी बाह्य वस्तु तथा तज्जन्य मानसिक प्रतिमा का संयोग ही होती है। इस प्रकार एक भौतिकवादी भी अन्ततोगत्वा अध्यात्म की ओर प्ररित हो जाता है।

वेदान्त का सार तत्व तथा प्रभाव

(बोस्टन के ट्वेन्टिएथ सेन्चुरी क्लब में दिया गया भाषण)

इस सांध्यकालीन विषय पर कुछ बोलने के पहले, जब कि मुझे यह अवसर मिला है, क्या तुम धन्यवाद के कुछ शब्द कहने की अनुमति प्रदान करोगे ? मैं तीन वर्षों तक तुम लोगों के साथ रहा। मैं प्रायः पूरे अमेरिका का भ्रमण कर चुका हूँ, और चूँकि अब मैं अपने स्वदेश लौट रहा हूँ, यह ठीक होगा कि मैं अमेरिका के इस एथेन्स में, अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए इस अवसर का सदुपयोग करूँ। जब मैं प्रथम बार इस देश में आया, तो मैंने कुछ दिनों के बाद सोचा कि मैं इस राष्ट्र पर एक पुस्तक लिखूँगा। परन्तु तीन वर्षों के आवास के उपरान्त मैं यह पा रहा हूँ कि मैं एक पृष्ठ भी नहीं लिख सकता। इसके विपरीत, बहुत से देशों के भ्रमण के बाद मैं यह अनुभव करता हूँ कि वेश-भूषा, खान-पान तथा तौर-तरीक़ों की छोटी-मोटी सभी बाह्य विभिन्नताओं के नीचे मानव अखिल विश्व में मानव ही है, सर्वत्र वही अद्भुत मानव प्रकृति विद्यमान है। फिर भी कुछ विशेषताएँ तो होती ही हैं, अतः मैं थोड़े से शब्दों में यहाँ के अनुभवों को संक्षेप में कहना चाहूँगा। अमेरिका की इस भूमि में मनुष्य की विशेषताओं के सम्बन्ध में कोई प्रश्न नहीं पूछा जाता। यदि मनुष्य मनुष्य है, तो इतना ही यथेष्ट है और वे (अमेरिकावासी) उसे अपने हृदय में स्थान दे देते हैं। यह एक ऐसा तथ्य है, जिसको मैंने विश्व के अन्य किसी देश में नहीं देखा।

मैं यहाँ एक भारतीय दर्शन का, जिसे वेदान्त कहते हैं, प्रतिनिधित्व करने आया था। यह दर्शन अत्यन्त प्राचीन है। यह दर्शन उस विशाल पुरातन आर्य-साहित्य से उद्गत हुआ है, जिसे वेदों के नाम से पुकारते हैं। यह वेदान्त दर्शन मानो शताब्दियों तक संग्रहीत और चयन किये गये उस विशाल साहित्य के अन्तर्गत सभी विचारधाराओं, अनुभवों तथा विवेचनों का सर्वोत्तम पुष्प है। इस वेदान्त दर्शन की कतिपय विशेषताएँ हैं। प्रथमतः, यह पूर्णरूपेण अवैयक्तिक है। इसकी उत्पत्ति किसी व्यक्तिविशेष या धर्मगुरु से नहीं हुई। एक व्यक्तिविशेष को केन्द्र में रखकर वह अपनी प्रतिष्ठा नहीं करता। परन्तु जो दर्शन किसी व्यक्तिविशेष को केन्द्रित करके प्रतिपादित हुए हैं, उनके विरुद्ध भी इसको कुछ कहना नहीं।

आगे चलकर भारत में कुछ व्यक्तियों को केन्द्र बनाकर बौद्ध धर्म तथा हमारे अन्य अर्वाचीन संप्रदायों का उदय हुआ। ये सब ईसाइयों और मुसलमानों की भाँति किसी न किसीको धार्मिक नेता के रूप में मानते हैं और उसमें अपनी निष्ठा रखते हैं। परन्तु वेदान्त दर्शन इन सभी विभिन्न सम्प्रदायों की पृष्ठभूमिवत् है और वेदान्त तथा विश्व के अन्य किसी भी मत के बीच कोई झगड़ा या विरोध नहीं है।

वेदान्त दर्शन एक सिद्धान्त—जो विश्व के सभी धर्मों में पाया जाता है—प्रतिपादित करता है और यह दावा करता है कि मनुष्य (वस्तुतः) दिव्य है तथा जो कुछ भी हम लोग अपने चारों ओर देखते हैं, वह उसी दिव्यता के बोध से उद्भूत हुआ है। हर एक वस्तु जो सुन्दर, बलयुक्त तथा कल्याणकारी है और मानव प्रकृति में जो कुछ भी शक्तिशाली है, वह सब उसी दिव्यता से उद्भूत है। यह दिव्यता यद्यपि बहुतों में अव्यक्त रहती है, मूलतः मनुष्य मनुष्य में कोई भेद नहीं है, सभी समानरूपेण दिव्य हैं। यह ऐसा ही है, जैसे पीछे एक अनन्त समुद्र है और उस अनन्त समुद्र में हम और तुम लोग इतनी सारी लहरें हैं और हममें से हर एक उस अनन्त को बाहर व्यक्त करने के निमित्त प्रयत्नशील है। अतः हममें से हर एक को वह सत्, चित् तथा आनन्द रूपी अनन्त समुद्र अव्यक्त रूप से, जन्मसिद्ध अधिकार रूप में तथा स्वरूपतः प्राप्त है। उस दिव्यता की अभिव्यक्ति की न्यूनाधिक शक्ति से ही हम लोगों में विभिन्नता उत्पन्न होती है। अतएव वेदान्त का कहना है कि उसके आधार पर उससे व्यवहार नहीं करना चाहिए, जिसे वह प्रकट करता है, बल्कि उसके अनुसार जिसका वह प्रतिनिधि है। चूँकि प्रत्येक मनुष्य दिव्यत्व का प्रतिनिधि है, और इसलिए हर एक धर्मशिक्षक को मनुष्य की भर्त्सना करके नहीं, बल्कि मनुष्य में अन्तर्निहित दिव्यता के जागरण के लिए सहायता करनी चाहिए।

वेदान्त यह भी बतलाता है कि समाज या कर्म के किसी क्षेत्र में शक्ति की जो विशाल राशि प्रदर्शित होती है, वह वस्तुतः भीतर से बाहर आती है, इसलिए जिसे अन्य सम्प्रदाय अन्तःस्फुरण (inspiration) कहते हैं, उसे वेदान्त मनुष्य का बहिःस्फुरण कहने की स्वतन्त्रता लेता है। फिर भी वह किसी सम्प्रदाय से झगड़ता नहीं। वेदान्त का उन लोगों से भी झगड़ा नहीं है, जो मनुष्य की इस दिव्यता को नहीं समझते हैं। ज्ञात या अज्ञात रूप से हर मनुष्य इस दिव्यता को व्यक्त करने का प्रयत्न कर रहा है।

मनुष्य एक छोटे बक्से में कुण्डलित अनंत स्प्रिंग (infinite spring) जैसा है, जो कि अपने को खोलने का प्रयत्न कर रहा है। हम लोग जो भी सामाजिक व्यवस्था देखते हैं, वह इस अभिव्यक्ति का प्रयत्न मात्र है। जितने भी संघर्ष,

बुराइयाँ या प्रतिद्वन्द्विताएँ, जिन्हें हम लोग अपने चारों तरफ़ देखते हैं, इस अभिव्यक्ति के न कारण हैं और न कार्य ही। जैसा कि हमारे एक महान् तत्त्ववेत्ता ने कहा है, मान लो कि खेत की सिंचाई के लिए जलाशय कहीं ऊपर ऊँची सतह पर है और उसका जल उस खेत में तेज़ी से प्रवेश करने का प्रयत्न करता है; परन्तु फाटक लगाकर उसकी गति अवरुद्ध कर दी गयी है। परन्तु जैसे ही फाटक खोल दिया जाता है, वह जल अपनी प्रकृति के अनुसार वेग से, रास्ते में धूल या गंदगी जो भी हो, उस पर प्रवाहित होने लगता है। परन्तु यह धूल या गंदगी मनुष्य के दिव्य स्वरूप की अभिव्यक्ति के न तो कार्य हैं और न कारण। वे तो सह-अस्तित्वमान (co-existent) दशाएँ हैं; अतः उनका प्रतिकार किया जा सकता है।

वेदान्त का यह दावा है कि यह विचार भारत के अन्दर या बाहर सभी धर्मों में पाया जाता है, केवल कतिपय धर्मों में यह विचार पुराणों में तथा अन्य में प्रतीकवाद के रूप में प्रकट किया गया है। वेदान्त का दावा है कि धार्मिक अन्तःस्फुरण केवल एक ही नहीं हुआ, और न केवल दिव्य मानव की एक अभिव्यक्ति ही हुई, भले ही वह कितना ही महान् क्यों न हो; अपितु, उस अनन्त एकत्व का मानव स्वभाव में प्रकाशन हुआ है, तथा हम लोग जिसे नैतिकता, सदाचार और परोपकार कहते हैं, वह भी इसी एकत्व की अभिव्यक्ति मात्र है। ऐसा क्षण भी आता है, जब हर मनुष्य यह अनुभव करता है कि वह विश्व के साथ एक है, और इसको वह समझे या न समझे, उसको प्रकट करने के लिए विकल हो जाता है। जिसे हम प्रेम तथा सहानुभूति कहते हैं, वह एकत्व की अभिव्यक्ति ही है और यही हमारी नैतिकता और सदाचार का आधार है। यही वेदान्त के विख्यात सूत्र तत्त्वमसि—'तू वही है'—में संक्षेप में कहा गया है।

हर मनुष्य को यह शिक्षा दी जाती है कि तुम उस विश्वात्मा से एक हो, अतः, हर जीवात्मा तुम्हारी ही आत्मा है। हर शरीर तुम्हारा ही शरीर है, इसलिए दूसरों को चोट पहुँचाना अपने ही को चोट पहुँचाना है और दूसरों को प्रेम करना अपने आप से प्रेम करना है। जैसे बाहर फेंकी जानेवाली घृणा की लहर, बाहर जिस किसीको भी वह चोट पहुँचाये, तुमको भी चोट पहुँचाती ही है और यदि तुमसे प्रेम का उद्भव होता है, तो वह प्रेम तुम्हारे पास वापस लौटने को बाध्य है। यह इस कारण कि मैं यह जगत् हूँ और यह जगत् मेरा शरीर है। मैं अनन्त हूँ, केवल इसका ज्ञान इस समय मुझको नहीं है, परन्तु इस अनन्त की चेतना प्राप्त करने के लिए मैं संघर्षशील हूँ। पूर्णता इस अनन्त की पूर्ण चेतना प्राप्त हो जाने पर ही उपलब्ध होगी।

वेदान्त का एक दूसरा विशिष्ट सिद्धान्त यह है कि हम लोगों को धार्मिक

विचारों की अनंत विविधता को स्वीकार करना चाहिए और हर एक को एक ही विचारधारा के अन्तर्गत लाने का प्रयत्न नहीं करमा चाहिए, क्योंकि लक्ष्य तो एक ही है। जैसा कि एक वेदान्ती अपनी काव्यमयी भाषा में कहता है—'जिस प्रकार बहुत सी नदियाँ, जिनका उद्गम विभिन्न पर्वतों से होता है, टेढ़ी या सीधी बहकर अन्त में समुद्र ही में गिरती हैं, उसी प्रकार ये सभी विभिन्न सम्प्रदाय तथा धर्म, जो विभिन्न दृष्टि-विन्दुओं से प्रकट होते हैं, सीधे या टेढ़े मार्गों से चलते हुए भी अन्ततः तुम्हींको प्राप्त होते हैं।'

इस विचार की अभिव्यक्ति के रूप में, हम देखते हैं कि इस प्राचीनतम दर्शन ने अपने प्रभाव के द्वारा बौद्ध मत को, जो विश्व का प्रथम प्रचारक धर्म है, प्रत्यक्षतः प्रेरित किया है। अप्रत्यक्ष रूप से इसने अलेक्ज़ेन्ड्रियनों, नास्तिकों तथा मध्ययुगीन यूरोपीय विचारकों द्वारा, ईसाई धर्म को भी प्रभावित किया है। बाद में जर्मन विचारधारा को प्रभावित करते हुए, इसने दर्शन तथा मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रायः क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। इस पर भी यह विशाल प्रभाव जो संसार पर पड़ा, वह अलक्ष्य ही रहा। जिस प्रकार रात्रि में ओस हलके से गिरकर वनस्पतियों के जीवन का पोषण करती है, उसी प्रकार धीरे धीरे तथा अलक्ष्य रूप से यह दिव्य वेदान्त दर्शन समूचे विश्व में मानव कल्याणार्थ फैल गया है। इस धर्म के प्रचार के लिए सेनाओं के अभियान का उपयोग नहीं हुआ। बौद्ध मत में, जो विश्व का एक बहुत बड़ा प्रचारक धर्म है, सम्राट् अशोक के अवशेष शिलालेख हमें प्राप्त हैं; जिनसे यह पता चलता है कि किस तरह धर्मप्रचारक अलेक्ज़ेन्ड्रिया, एन्टिओक, ईरान, चीन तथा तत्कालीन सभ्य जगत् के अन्य बहुत से देशों में भेजे गये थे। ईसा के तीन सौ वर्ष पहले ही उन लोगों को यह शिक्षा दी गयी थी कि किसी धर्म की निन्दा नहीं करें—'सभी धर्मों का आधार एक है, जहाँ कहीं भी वे हों; जितना तुमसे हो सके, उतना उनकी सहायता करो तथा उन सबको शिक्षा दो, परन्तु उनको हानि नहीं पहुँचाओ।'

अतएव भारत में हिन्दुओं द्वारा कभी धार्मिक उत्पीड़न नहीं हुआ, बल्कि उन्होंने विश्व के सभी धर्मों के प्रति अद्भुत आदर का भाव ही रखा। हिब्रू जाति के कुछ लोग जब स्वदेश से भगाये गये थे, तब हिन्दुओं ने उनको शरण दी, जिसके फलस्वरूप मलाबार के यहूदी अभी तक हैं। एक अन्य समय में उन्होंने नष्टप्राय ईरानियों के अवशिष्ट अंश का स्वागत अपने देश में किया; और वे लोग आज भी हमारे मध्य हमारे एक अग और प्रीति-भाजन, बम्बई के आधुनिक पारसियों के रूप में विद्यमान हैं। ईसा मसीह के शिष्य सेन्ट थामस के साथ आने का दावा करनेवाले ईसाई लोगों को भी भारत में रहने तथा अपनी विचारधारा

सुरक्षित रखने की अनुमति दी गयी। उन लोगों की एक बस्ती अब तक भारत में है। यह सहिष्णुता का भाव वहाँ न मरा है, न मरेगा, न मर सकता है।

यह वेदांत की महती शिक्षाओं में से एक है। यह जानकर कि ज्ञात या अज्ञात रूप से हम सब उसी ध्येय को पहुँचने के लिए संघर्षशील हैं, हम अधैर्यवान क्यों हों? यदि एक मनुष्य दूसरे से मंद है, तो हमें अधीर नहीं होना चाहिए; न उसे अपशब्द कहना चाहिए और न उसकी भर्त्सना करनी चाहिए। जब हमारे चक्षु उन्मीलित हो जाते हैं और हृदय पवित्र हो जाता है, उस दिव्य प्रभाव का कार्य, हर मानव हृदय में प्रस्फुटित होता हुआ वह ईश्वरीय उद्‌बोधन, अभिव्यक्त हो जायगा और तभी हम लोग मनुष्य मात्र के भ्रातृत्व का दावा करने में समर्थ होंगे।

जब मनुष्य उच्चतम को प्राप्त कर लेता है, और वह न पुरुष देखता है, न स्त्री, न लिंग, न धर्म, न वर्ण, न जन्म, न ऐसे अन्य प्रकार के विभेदों को देखता है, वरन् वह आगे बढ़ता जाता है और उस दिव्यता का अनुभव करता है, जो मानव का सत्य स्वरूप है, वह मनुष्यों में अन्तर्हित है—केवल तभी वह विश्वबन्धुत्व को प्राप्त कर लेता है और केवल ऐसा ही व्यक्ति वेदान्ती है।

यह वेदान्त के कतिपय व्यावहारिक और ऐतिहासिक परिणाम हैं।

खुला रहस्य

(लॉस एंजिलिस, कैलिफ़ोर्निया में दिया हुआ भाषण)

वस्तुओं को यथार्थ रूप में समझने के प्रयत्न में हम चाहे किसी दिशा में झुकें, गंभीर चिन्ता करने पर हमें दिखायी यही देगा कि अन्त में हम वस्तुओं की एक ऐसी अजीब अवस्था पर आ पहुँचते हैं, जो विरोधात्मक सी प्रतीत होती है; हम एक ऐसी वस्तु पर आ पहुँचते हैं, जो बुद्धि से ग्रहण तो नहीं की जा सकती, परन्तु फिर भी सत्य है। हम एक वस्तु लेते हैं—हम जानते हैं कि वह सान्त है। लेकिन ज्यों ही हम उसका विश्लेषण करने लगते हैं, वह हमें एक ऐसे क्षेत्र में ले जाती है, जो बुद्धि के अतीत है। उसके गुण-धर्मों का, उसकी सम्भावनाओं का, उसकी शक्तियों और उसके सम्बन्धों का हम अन्त नहीं पा सकते। वह अनन्त बन जाती है। उदाहरणार्थ, प्रतिदिन के व्यवहार का एक फूल ही ले लो। वह तो सान्त ही है। लेकिन ऐसा कौन है, जो कह सकता है कि मैं फूल के बारे में सब कुछ जानता हूँ? उस फूल से संबंधित ज्ञान के अंत तक पहुँच जाना किसीके लिए भी सम्भव नहीं है। आरम्भ में फूल सान्त प्रतीत होता था, अब वह अनन्त बन बैठा है। रेती का एक कण लो। उसका विश्लेषण करो। हम यह मानकर आरम्भ करते हैं कि वह सान्त है; पर बाद में हम देखते हैं कि वह सान्त नहीं है, अनन्त है। फिर भी हम उसे सान्त वस्तु की दृष्टि से ही देखते आये हैं। इसी तरह फूल को भी हम एक सान्त वस्तु की दृष्टि से देखते हैं।

यही विचारों और अनुभवों के विषय में सत्य है, चाहे वह भौतिक हो अथवा मानसिक। आरम्भ में हम वस्तुओं को छोटी समझकर ग्रहण करते हैं, लेकिन शीघ्र ही वे हमारे ज्ञान को धोखा दे देती हैं और अनन्त के गर्त में विलीन हो जाती हैं। महत्तम और प्रथम वस्तु जिसका बोध हमें होता है, वह हैं हम स्वयं। हमारे स्वयं के 'अस्तित्व' के बारे में भी ठीक ऐसी ही द्विधा है। इसमें सन्देह नहीं कि हमारा अस्तित्व है। हम देखते हैं कि हम सान्त जीव हैं। हम जन्म लेते हैं और हमारी मृत्यु होती है। हमारे जीवन का क्षितिज परिमित है। हम इस विश्व में मर्यादित अवस्था में विद्यमान हैं। निसर्ग एक क्षण में हमारा अस्तित्व मिटा सकता है। हमारे छोटे छोटे शरीर जैसे-तैसे संकलित हैं, और किसी भी क्षण टुकड़े टुकड़े

होने के लिए तैयार से हैं। यह हमें निश्चित मालूम है। कर्म के क्षेत्र में हम कितने असहाय हैं! हर घड़ी हमारी इच्छा कुंठित होती है। हम कितना करना चाहते हैं, और कितना कम कर पाते हैं! हमारी वासना का कोई अन्त नहीं। हम किसी भी वस्तु की वासना कर सकते हैं, कोई भी वस्तु चाह सकते हैं, हम व्याघ-नक्षत्र तक पहुँचने की भी इच्छा कर सकते हैं। परन्तु हमारी कितनी कम इच्छाएँ पूर्ण होती हैं! शरीर ही हमारी इच्छाएँ पूर्ण न होने देगा। स्वयं प्रकृति ही हमारी इच्छा-पूर्ति के विरुद्ध है। हम असहाय हैं, दुर्बल हैं। भौतिक जगत् के फूल या रेती के कण तथा मानस-जगत् के विचारों के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त लागू है, वही सिद्धान्त हज़ार गुना हमारे अस्तित्व के सम्बन्ध में लागू हैं। एक ही साथ सान्त और अनन्त होने के कारण हम भी अस्तित्व सम्बन्धी इसी दुविधा में हैं। हम समुद्र पर उठनेवाली लहरों के समान हैं। लहर समुद्र से नितान्त पृथक् नहीं है, फिर भी वह स्वयं समुद्र नहीं है। लहर का ऐसा कोई हिस्सा नहीं है, जिसे हम ऐसा कह सकें कि 'यह समुद्र नहीं है।' 'समुद्र' यह अभिधान उस पर तथा समुद्र के प्रत्येक अंग पर समान रूप से लागू है, और फिर भी वह समुद्र से स्वतंत्र है। इसी तरह इस सत्तारूपी अनन्त सागर में हम छोटी छोटी ऊर्मियों के समान हैं। परन्तु जब हम स्वयं को सचमुच पकड़ना चाहते हैं, तो हम वैसा नहीं कर पाते, क्योंकि तब हम अनन्त बन जाते हैं।

हम लोग मानो स्वप्न-जगत् में चल रहे हैं। स्वप्नावस्था में स्वप्न सत्य ही होते हैं, लेकिन हम जैसे ही उनमें से किसी एक को पकड़ना चाहते हैं, वह ग़ायब हो जाता है। ऐसा क्यों? इसलिए नहीं कि वह झूठा था, बल्कि इसलिए कि वह तर्क और बुद्धि की ग्रहण-शक्ति से परे है। इस दुनिया की प्रत्येक वस्तु इतनी विशाल है कि उसकी तुलना में हमारी बुद्धि कुछ भी नहीं है, वह बुद्धि के नियमों से बँधने से इन्कार करती है। बुद्धि उसके आसपास जब अपने पाश फैलाना चाहती है, तो वह हंसती है। मानवात्मा के विषय में तो यह तत्त्व और भी हज़ार गुना सत्य है। 'स्वयं हम' ही दुनिया में सबसे बड़ा रहस्य है।

ओह! यह सब कितना आश्चर्यमय है! मनुष्य की आँख ही देखो, उसका कितनी आसानी से नाश हो सकता है। फिर भी, विशाल सूर्यों का अस्तित्व केवल इसलिए है कि तुम्हारी आँखें उन्हें देख रही हैं। दुनिया इसलिए विद्यमान है कि तुम्हारी आँखें प्रमाण देती हैं कि वह विद्यमान है। ज़रा इस रहस्य पर विचार करो। ये बेचारी छोटी आँखें! तेज़ उजाला या एक आलपीन इन्हें नष्ट कर दे सकती है। लेकिन नाश के बृहत्तम यंत्र, प्रलय काल के बलिष्ठतम साधन, आश्चर्य-पूर्ण घटनाएँ, कोटि कोटि तारे, सूर्य, चन्द्र, भूमण्डल—इन सबका अस्तित्व इन दो

छोटी आँखों पर अवलम्बित है और इन्हें इन दो छोटी आँखों के प्रमाणपत्र की आवश्यकता होती है। आँखें कहती हैं कि 'हे प्रकृति, तुम विद्यमान हो' और हम विश्वास करते हैं कि प्रकृति विद्यमान है। हमारी सभी इन्द्रियों के संबंध में ऐसा ही है।

यह क्या है? फिर कमजोरी है कहाँ? कौन बलिष्ठ है? कौन बड़ा है और कौन छोटा? इस जगत् में सब वस्तुएँ अद्भुत भाव से परस्परावलम्बी हैं। यहाँ छोटे से छोटा परमाणु भी सम्पूर्ण विश्व के अस्तित्व के लिए आवश्यक है, फिर किसे हम ऊँचा कह सकते हैं और किसे नीचा? यह अन्वेषण के परे है। भला क्यों? इसलिए कि न कोई बड़ा है और न छोटा। प्रत्येक वस्तु में वह अनन्त सत्तारूपी समुद्र ओतप्रोत है। वही अनन्त उनका सत्य स्वरूप है। और जो कुछ धरातल पर विद्यमान है, वह भी अनन्त ही है। वृक्ष अनन्त और इसी तरह प्रत्येक वस्तु, जो तुम देखते या छूते हो, अनन्त है। रेत का प्रत्येक कण, प्रत्येक विचार, प्रत्येक जीव, प्रत्येक विद्यमान वस्तु अनन्त है। जो सान्त है, वही अनन्त है और जो अनन्त है, वही सान्त है। यही है हमारी सत्ता का स्वरूप।

अब, यह सब सच हो सकता है, लेकिन अनन्त की यह प्रतीति वर्तमान अवस्था में हमें केवल अचेतन ही होती है। यह बात नहीं कि हम अपना अनन्त स्वरूप भूल गये हैं। हम अपना अनन्तत्व यथार्थतः कभी भूल नहीं सकते। ऐसा कौन सोच सकता है कि उसका सम्पूर्ण रूप से नाश हो जायगा? कौन सोच सकता है कि वह मर जायगा? ऐसा कोई नहीं सोच सकता। अनन्त से हमारा सम्बन्ध हममें अचेतन रूप से काम करता है। इसलिए एक प्रकार से हम अपने सच्चे स्वरूप को भूल बैठे हैं। और इसीलिए है यह सारा दुःख।

प्रतिदिन के व्यवहार में छोटी छोटी बातें हमें चोट पहुँचाती हैं, छोटे छोटे जीव हमें दास बनाये हुए हैं। हम दुःखी इसलिए होते हैं कि हम समझते हैं हम सान्त हैं, हम क्षुद्र जीव हैं। परन्तु तो भी यह विश्वास होना कि हम अनन्त हैं, कितना कठिन है! इस सब दुःख और शोक के बीच जब एक छोटी सी वस्तु मेरे मन को क्षुब्ध कर देती है, तो मेरा यह कर्तव्य है कि मैं विश्वास करूँ कि मैं अनन्त हूँ; और सत्य तो यही है कि हम अनन्त हैं। चाहे जानते हुए, चाहे अनजान में, हम उसी अज्ञेय के अन्वेषण में लगे हैं, जो अनन्त है। हम सदा उसीकी खोज में हैं, जो स्वतंत्र है—जो मुक्त है।

आज तक ऐसी कोई मानव जाति नहीं हुई, जिसने किसी प्रकार के धर्म को अंगीकार न किया हो, या ईश्वर अथवा देवताओं की पूजा न की हो। ईश्वर या देवता विद्यमान हैं या नहीं, प्रश्न यह नहीं है। प्रश्न है इस मानसिक घटना के

विश्लेषण का। सारी दुनिया ईश्वर की खोज में—ईश्वर को ढूंढ़ निकालने में क्यों लगी है ? कारण यह है कि यद्यपि हम इन पाशों से बंधे हैं, यद्यपि यह प्रकृति और उसके नियमों की भयंकर शक्ति हमें पीसे सी डाल रही है और हमें करवट तक लेने नहीं देती, यद्यपि—हम जहाँ भी जायँ और जो कुछ भी करने की इच्छा करें—यह नियामक शक्ति, जो सर्वत्र विद्यमान है, हमारे मार्ग में अड़चन ही डालती रहती है, तो भी हम अपने स्वतंत्र स्वरूप को कभी नहीं भूलते और सर्वदा उसकी खोज में लगे रहते हैं। दुनिया के सब धर्मों की खोज एक ही है और वह है मुक्ति की खोज; चाहे वे इसे जानते हों, चाहे नहीं; चाहे इसे अच्छी तरह समझा सकते हों, चाहे नहीं; पर सत्य तो यही है। क्षुद्रतम मनुष्य, मूर्ख से मूर्ख जीव भी इसी चेष्टा में लगा हुआ है कि वह ऐसी शक्ति पाये, जो निसर्ग-नियमों पर शासन कर सके। राक्षस, भूत, देवता अथवा अन्य किसी ऐसी वस्तु का वह दर्शन करना चाहता है, जो निसर्ग को अपने अधीन कर ले, जिसके लिए निसर्ग सर्वशक्तिमान न हो, और जिसका कोई दूसरा नियामक न हो। 'किसी ऐसे की चाह है, जो नियम तोड़ सकता हो !'—मनुष्य के हृदय से यही आवाज़ निकल रही है। हम सदा इसी खोज में हैं कि ऐसा कोई मिल जाय, जो नियम को तोड़ सके। लौहमार्ग पर दौड़ते हुए तेज इंजन को देख, राह में रेंगनेवाला कीड़ा दूर हट जाता है। हम एकदम कह उठते हैं, "इंजन तो निर्जीव वस्तु है, एक यंत्र है, लेकिन कीड़ा सजीव है"—इसलिए कि कीड़े ने नियम तोड़ने का प्रयत्न किया। इतनी शक्ति और सामर्थ्य विद्यमान होने पर भी इंजन नियम नहीं तोड़ सकता। जैसा मनुष्य चाहता है, उसी दिशा में इंजन को जाना पड़ता है। अन्यत्र वह नहीं जा सकता। कीड़ा यद्यपि छोटा है, तो भी उसने नियम तोड़ने और आपत्ति से बचने का प्रयत्न किया। नियामक शक्ति पर अपना अधिकार चलाने की उसने चेष्टा की। उसने अपना स्वातंत्र्य जतलाने का प्रयत्न किया, और यही है उसमें भविष्य में परमेश्वर से एकरूप होने का लक्षण।

अपनी मुक्ति जताने की यह चेष्टा, आत्मा का यह मुक्त स्वभाव हर जगह विद्यमान है। यह प्रत्येक धर्म में ईश्वर या देवताओं के रूप में पाया जाता है। परन्तु देवताओं को जो अपने बाहर ही देखते हैं, उनके लिए यह मुक्ति केवल बहिरस्थ वस्तु है। मनुष्य ने स्वयं ही निश्चय कर लिया कि वह बिल्कुल नगण्य है। उसे यह डर था कि वह कभी मुक्त नहीं हो सकता। इसलिए वह किसी ऐसे की खोज में घूमने लगा, जो स्वाधीन तथा प्रकृति के अतीत है। फिर उसने सोचा कि ऐसे स्वतंत्र देवता तो अनेक हैं, और धीरे धीरे उसने उन सबको एक देवाधिदेव में, एक परमेश्वर में लीन कर दिया। इससे भी उसे संतोष नहीं हुआ। कालान्तर

से वह सत्य के कुछ थोड़ा और निकट आया; और फिर क्रमशः उसे ज्ञात हुआ कि वह चाहे जो कुछ हो, किसी न किसी तरह उसका उस देवाधिदेव से, उस परमेश्वर से कुछ सम्बन्ध है। वह, जो अपने को सीमित, नीच तथा दुर्बल समझता था, उस परमेश्वर से किसी न किसी तरह सम्बद्ध है। उसे दिव्य दर्शन होने लगे, विचार उठने लगे और ज्ञान की वृद्धि होने लगी। वह उस परमेश्वर के निकटतर आने लगा, और अन्त में उसे पता चला कि ईश्वर तथा अन्य सब देवता, सर्वशक्तिमान मुक्त पुरुष की प्राप्ति की साधना में अनुभूत होनेवाली मन की विभिन्न अवस्थाएँ —ये सब अपने ही स्वरूप के सम्बन्ध में क्रमशः विकसित कल्पनाओं का प्रतिबिम्ब मात्र है। तत्पश्चात् उसने केवल यह सत्य ही नहीं जाना कि 'मनुष्य ईश्वर-निर्मित एवं उसीकी प्रतिमूर्ति है,' वरन् उसने यह सत्य भी जाना कि 'ईश्वर मनुष्य-निर्मित एवं उसीकी प्रतिमूर्ति है।' दिव्य मुक्ति की कल्पना इस प्रकार प्रकट हुई। परमेश्वर सर्वदा अपने भीतर ही था—निकट से भी निकट था। और फिर भी हम उसकी खोज बाहर ही किये जा रहे थे। अन्त में उसे अपने हृदय की गुहा में ही विराजमान पाया। तुमने उस मनुष्य की कथा सुनी होगी, जिसने अपने हृदय की धड़कन को भूल से ऐसा समझा था कि कोई बाहर से दरवाज़ा खटखटा रहा है, इसलिए वह उठा और दरवाज़ा खोलकर देखा कि कोई न था। वह वापस लौट आया। फिर से वही दरवाज़ा खटखटाने की आवाज़ आती हुई मालूम हुई, किन्तु दरवाज़े पर कोई न था। तब उसने समझा कि यह दरवाज़े की खटखटाहट न थी, यह थी उसके निजी हृदय की धड़कन। इसी तरह, अपनी खोज के बाद मनुष्य देखता है कि वह असीम मुक्ति, जिसे अपनी कल्पनाशक्ति द्वारा वह अपने से बाहर प्रकृति में प्रस्थापित कर रहा था, वास्तव में अन्तःस्थ विषय है, नित्यस्वरूप परमात्मा ही है—और यह, वह स्वयं ही है।

इस प्रकार, अन्त में इस अद्भुत द्वैत का रहस्य उसकी समझ में आ जाता है। वह जान जाता है कि यह एक ही द्रष्टा अनन्त है और सान्त भी। वही अनन्त पुरुष यह सान्त जीव भी है। वही बुद्धि के जाल में जकड़ा हुआ सा प्रतीत होता है और सीमित जीवों के रूप में प्रकट सा होता है। परन्तु उसका वास्तविक स्वरूप अविकृत ही रहता है।

इसलिए प्रकृत ज्ञान यही है कि सब जीवात्माओं की आत्मा यह अन्तर्यामी भगवान् ही वह सत्य है, जो अविकार्य है, शाश्वत आनन्दस्वरूप तथा नित्य मुक्त है। यही एक अचल पद है, जिसके आधार पर हम खड़े रह सकते हैं।

अतएव, यही मृत्यु का अवसान, अमरत्व की प्राप्ति तथा दुःख की निवृत्ति है। और जो इस अनेकता में उस एक को देखता है, इस परिणामी जगत् में उस

एक अपरिणामी का दर्शन करता है और उसका अपनी आत्मा की भी आत्मा के रूप में अनुभव करता है, उसे ही शाश्वत शान्ति प्राप्त होती है—दूसरे को नहीं।

दुःख और अधःपतन के बीच मानो आत्मा अपनी एक किरण भेज देती है और मनुष्य जाग उठता है और जान लेता है कि जो कुछ वास्तव में उसका है, उसे वह कभी खो नहीं सकता। हाँ, जो कुछ हमारा है, उसे हम कभी नहीं खो सकते। कौन अपना अस्तित्व खो सकता है? अपनी प्रत्यक्ष सत्ता कौन खो सकता है? मैं तो वास्तव में केवल सत्स्वरूप ही हूँ और बाद में जब उस पर सद्‌गुण का रंग चढ़ जाता है, तब मैं 'अच्छा' कहलाता हूँ। ऐसा ही बुराई के सम्बन्ध में भी है। आदि, मध्य और अन्त में केवल सत् ही विद्यमान है; वह कभी खोता नहीं, वह तो चिर विद्यमान है।

इसीलिए मुक्ति की सबको आशा है। कोई मर नहीं सकता। सदा के लिए कोई पतित नहीं रह सकता। जीवन तो एक खेल का मैदान है, खेल चाहे जितना ही जंगली क्यों न हो। हम पर चाहे जितनी चोटें पड़ें, चाहे जितने धक्के लगें, किन्तु नित्य विद्यमान आत्मा को कभी कोई चोट नहीं पहुँच सकती। हम वही अनन्त आत्मा हैं।

एक वेदान्ती इस तरह गाता था, "मुझे कभी न संशय था, न डर। मृत्यु मुझे कभी न छू पायी। मेरे माता-पिता कहाँ? मैं तो अजन्मा हूँ। मैं ही सब कुछ हूँ; फिर मेरा शत्रु कौन? मैं सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ। सोऽहम्, सोऽहम्। काम, क्रोध, ईर्ष्या, कुविचार आदि ने मुझे कभी स्पर्श नहीं किया, क्योंकि मैं तो सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ। सोऽहम्, सोऽहम्।"

सब दुःखों का यही एक अमोघ उपाय है। यही वह अमृत है, जो मृत्यु को जीत लेता है। हम यहाँ दुनिया में विद्यमान हैं और हमारा स्वभाव इस सत्य के विरुद्ध विद्रोह कर बैठता है। किन्तु चलो हम गायें, सोऽहम्, सोऽहम्। मुझे न भय है, न संशय, न मृत्यु; मैं जाति-लिंग-वर्ण सबके अतीत हूँ। कौन सा सम्प्रदाय मुझे बाँध सकता है? कौन सा पंथ मुझे अपना सकता है? सब पंथों में मैं ही अनुस्यूत हूँ!'

शरीर चाहे जितना ही विद्रोह करे, मन लड़ने के लिए चाहे जितना ही उठ खड़ा हो, इस घन अंधकार में, इस तड़पानेवाली यंत्रणा में, इस घोरतम नैराश्य में एक बार, दो बार, तीन बार, सर्वदा यही गाओ। प्रकाश मृदुता से आता है, धीरे धीरे आता है—पर आता है अवश्य।

अनेक बार मैं मृत्यु-मुख में पड़ा हूँ, क्षुधातुर रहा हूँ, पैर फटे हैं और थकावट आयी है; लगातार कई दिनों तक मुझे अन्न नहीं मिला और अकसर मैं एक पग भी

नहीं चल सकता था; मैं पेड़ के नीचे बैठ जाता और ऐसा मालूम होता था कि अब प्राण निकले। बोलना मुझे कठिन हो जाता था और मैं विचार तक नहीं कर सकता था। अन्त में मेरा मन इस विचार पर लौट आया, "मुझे डर कहाँ? मैं कैसे मर सकता हूँ! मुझे न कभी भूख लगती है, न प्यास। मैं तो वही हूँ--सोऽहम्। यह सम्पूर्ण विश्व मुझे कुचल नहीं सकता, वह तो मेरा दास है। ऐ परमेश्वर! ऐ देवाधिदेव! तू अपनी हुकूमत चला और हाथ से गया हुआ साम्राज्य फिर से प्राप्त कर! उठ खड़ा हो, चल और बीच में ठहर मत!" ऐसा विचार आने पर मैं नव चेतना पा उठ खड़ा होता, और यह देखो, तुम लोगों के सामने आज जीता-जागता खड़ा हूँ। इस तरह जब जब अंधकार का आक्रमण हो, तो अपनी आत्मा का प्रतिष्ठापन करो, और जो कुछ प्रतिकूल है, नष्ट हो जायगा, क्योंकि आखिर यह सब स्वप्न ही है। आपत्तियाँ पर्वत जैसी भले ही हों, सब कुछ भयावह और अंधकारपूर्ण भले ही दिखे, पर जान लो, यह सब माया है। डरो मत, यह भाग जायगी। इसे कुचलो, और यह लुप्त हो जाती है। इसे ठुकराओ, और यह मर जाती है। डरो मत: कितनी बार असफलता मिलेगी, यह न सोचो। चिन्ता न करो। काल अनन्त है। आगे बढ़ो, वारंवार अपनी आत्मा का प्रतिष्ठापन करो। प्रकाश अवश्य ही आयेगा। तुम चाहे किसीकी भी प्रार्थना करो, पर कौन तुम्हें आकर सहायता देगा? जिसने स्वयं मृत्यु से छुटकारा नहीं पाया, उससे तुम किस प्रकार सहायता की आशा कर सकते हो? स्वयं ही अपना उद्धार करो। भाई, दूसरा कोई तुम्हें मदद न पहुँचायेगा; क्योंकि तुम स्वयं ही अपने सबसे बड़े शत्रु हो और तुम स्वयं ही अपने सबसे बड़े मित्र। तो फिर आत्मा का आश्रय लो। उठ खड़े हो, डरो मत। दु:ख और दुर्बलता के अंधकार के बीच आत्मा को प्रकाशित होने दो, भले ही वह प्रकाश आरम्भ में अस्पष्ट और फीका हो। तुम्हें साहस मिलेगा और अन्त में तुम सिंह के समान गरज उठोगे, 'मैं वह हूँ, मैं वह हूँ—सोऽहम्, सोऽहम्।' हमारे एक कवि ने इस तरह गाया है, "मैं न नर हूँ, न नारी, न देव, न दानव। मैं पशु, वृक्ष, पौधा आदि कुछ भी नहीं हूँ। न मैं धनिक हूँ, न दरिद्र, न विद्वान्, न मूर्ख। मेरे वास्तविक स्वरूप की तुलना में ये सब बिल्कुल क्षुद्र हैं, क्योंकि मैं ही वह परमात्मा हूँ। सोऽहम् सोऽहम्। सूर्य, चन्द्र तथा तारों की ओर देखो, मैं ही उनमें प्रकाशित हो रहा हूँ। अग्नि की प्रभा तथा विश्व में खेलनेवाली शक्ति भी मैं ही हूँ, क्योंकि मैं ही वह परमात्मा हूँ।

"जो कोई यह सोचता है कि मैं क्षुद्र हूँ, भूल कर रहा है, क्योंकि सत्ता केवल एक आत्मा की ही है। सूर्य का अस्तित्व इसलिए है कि मैं कहता हूँ सूर्य है, और जब मैं उद्घोषित करता हूँ कि दुनिया विद्यमान है, तभी उसे अस्तित्व प्राप्त होता

है। मेरे विना वे नहीं रह सकते, क्योंकि मैं सत्, चित् और आनन्दस्वरूप हूँ। मैं सदा सुखी हूँ, मैं सदा शुचि हूँ, मैं सदा सुहावना हूँ। देखो, सूर्य के कारण ही प्राणिमात्र देख सकते हैं, किन्तु किसीकी भी आँख के दोष का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता। मैं भी इसी तरह हूँ। शरीर की सब इन्द्रियों द्वारा मैं काम करता हूँ, प्रत्येक वस्तु द्वारा मैं काम कर रहा हूँ, किन्तु काम के भले-बुरे गुण का परिणाम मुझ पर नहीं होता। मेरा कोई नियामक नहीं है और न कोई कर्म। मैं ही कर्मों का नियामक हूँ। मैं तो सदा वर्तमान था और अभी भी हूँ।

"मेरा सच्चा सुख भौतिक वस्तुओं में कभी न था, न तो वह पति में था, न पत्नी में, न पुत्रों में और न अन्य किसी वस्तु में। मैं तो अनन्त नील आकाश के समान हूँ। अनेक वर्ण के मेघ उस पर होकर गुजरते हैं, कुछ क्षण क्रीड़ा करते हैं और चले जाते हैं, और वह विकारहीन नील आकाश वहाँ वैसा ही रह जाता है। सुख और दुःख, अच्छा और बुरा मेरी आत्मा को एक क्षण के लिए भले ही ढक लें, पर फिर भी वहाँ मेरा अस्तित्व है ही। वे इसलिए निकल जाते हैं कि वे बदलने-वाले ही हैं। मैं इसलिए रह जाता हूँ कि मैं स्वभावतः विकारहीन हूँ। अगर दुःख आता है, तो मैं जानता हूँ कि वह सीमित है। अतः उसका अन्त अवश्य होगा। अगर बुराई आती है, तो मैं जानता हूँ कि वह सीमित है। अतः वह अवश्य चली जायगी। मुझे कोई वस्तु स्पर्श नहीं कर सकती, क्योंकि मैं अनन्त हूँ, शाश्वत और अपरिणामी आत्मा हूँ।"

आओ, हम इस प्याले को पियें—यह प्याला, जो प्रत्येक अमर एवं विकार-हीन वस्तु की ओर हमें ले जाता है। डरो मत। ऐसा मत सोचो कि हममें बुराई है, हम सान्त हैं या हम कभी मर सकते हैं। यह सच नहीं है।

'इस आत्मा के सम्वन्ध में पहले श्रवण करना चाहिए, फिर मनन और उसके उपरान्त उसका निदिध्यासन।' जब हाथ काम करते रहें, मन को कहना चाहिए, सोऽहम्, सोऽहम्। सोचो तो यही सोचो, स्वप्न देखो तो इसीका, यहाँ तक कि यह तुम्हारी हड्डियों की हड्डी और मांस का मांस बन जायँ, यहाँ तक कि क्षुद्रता के, दुर्बलता के, दुःखों के और बुराइयों के सब भयानक स्वप्न बिल्कुल ग़ायब हो जायँ। और तब एक क्षण के लिए भी सत्य तुमसे छिपा न रह सकेगा।

वेदों और उपनिषदों के विषय में विचार

वैदिक यज्ञ-वेदी से ज्यामिति का उद्भव हुआ।

देवों अथवा द्युतिमानों की स्तुति उपासना की नींव बनी। धारणा यह है कि जिसका आवाहन किया जाता है, उसका श्रेय होता है और वह श्रेय[1] करता भी है।

ऋचाएँ केवल प्रशस्तियाँ नहीं हैं, वरन् शक्तिसम्पन्न मन्त्र हैं, जिनका उच्चारण मन की अनुकूल भावना के साथ किया जाता है।

स्वर्ग केवल सत्ता की अन्य अवस्थाएँ हैं, जिनमें इन्द्रियभोगों और उच्चतर सिद्धियों की वृद्धि हो जाती है।

स्थूल शरीर की भाँति सभी उच्चतर इतर शरीर भी नश्वर हैं। इस जीवन तथा अन्य जीवनों में सभी शरीर मरणधर्मा हैं। देव भी मर्त्य हैं और वे केवल भोग दे सकते हैं।

इन सभी देवों के पीछे एक सत्ताधारी इकाई है—ईश्वर, ठीक वैसे ही जैसे इस शरीर के पीछे कोई उच्चतर वस्तु है, जो अनुभव करती है और जो देखती है।

जगत् के सर्जन, पालन और संहार की जिसमें शक्तियाँ हैं और सर्वव्यापक, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान होने जैसी जिसकी उपाधियाँ हैं, वह देवों का भी देव परमेश्वर है।

'हे अमृतपुत्रो! सुनो, हे द्युलोकवासी देवताओ! सुनो, मैंने एक ऐसी किरण देख ली है, जो सभी अंधकारों और सभी संशयों के उस पार है। वह पुरातन (ब्रह्म) मुझे मिल गया।'[2] इसका मार्ग उपनिषदों में सन्निहित है।

पृथ्वी पर हम मरते हैं, स्वर्गलोक में मरते हैं, ब्रह्मलोक में भी मरते हैं। ईश्वर के पास पहुँचने पर ही हम जीवन-लाभ करते हैं और अमर हो जाते हैं।

उपनिषद् केवल इसीकी विवेचना करते हैं। उपनिषदों का पथ पावन पथ है। बहुत से व्यवहार, रीति-रिवाज और लोकाचार आज समझ में नहीं आ

---

१. देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥गीता॥ ३।११॥

२. श्वेताश्वतरोपनिषद्॥२।५; ३।८॥

सकते। किन्तु उनके द्वारा सत्य स्पष्ट झलकने लगता है। प्रकाश में आने के लिए स्वर्ग तथा पृथ्वी सबको तिलांजलि दे दी जाती है।

उपनिषद् कहते हैं:

'प्रभु ने ब्रह्माण्ड का भेदन किया है। यह सब उसीका है।'

'जो सर्वव्यापी, अप्रमेय, निर्गुण, निर्विकार और जगत् का महाकवि है, सूर्य, चन्द्र तथा नक्षत्र जिसके छन्द हैं, वह प्रत्येक को उसका उचित भाग देता है।'

'जो कर्मकाण्ड द्वारा प्रकाश को प्राप्त करना चाहते हैं, वे घोर अन्धकार में टटोल रहे हैं। जो यह सोचते हैं कि प्रकृति ही सब कुछ है, वे सब भी अन्धकार में हैं। जो इस विचार द्वारा प्रकृति के बाहर आना चाहते हैं, वे उससे भी गहन अन्धकार में टटोल रहे हैं।'

तब क्या कर्मकाण्ड बुरे हैं? नहीं, वे उनके लिए श्रेयस्कर हैं, जो पिछड़े हैं।

एक उपनिषद् में युवक नचिकेता से यह प्रश्न पूछा गया है, "मरे हुए मनुष्य के विषय में कोई तो कहते हैं, 'रहता है' और कोई कहते हैं, 'नहीं रहता है'। 'आप यम, मृत्यु हैं, आप सत्य जानते हैं। आप इसका उत्तर दें।"[1]

यम ने उत्तर दिया, "बहुत से देवगण भी इसे नहीं जानते, मनुष्यों की तो बात ही क्या है। पुत्र! यह प्रश्न मुझसे मत पूछो।"[2] लेकिन नचिकेता दृढ़ रहा। फिर यम ने उत्तर दिया, "स्वर्गलोक के भोग भी मैं तुम्हें दे रहा हूं। इस प्रश्न के उत्तर के लिए हठ मत करो।"[3] परन्तु नचिकेता चट्टान की भाँति अटल रहा। तब मृत्युदेव ने कहा, "मेरे पुत्र! तुमने तीसरी बार भी धन, प्रभुता, दीर्घ जीवन, ख्याति और कुटुम्ब के सुखों को ठुकरा दिया। तुम चरम सत्य के विषय में जिज्ञासा करने के पराक्रमी अधिकारी हो। मैं तुमको ज्ञान दूंगा। दो मार्ग हैं, एक श्रेय मार्ग है और दूसरा प्रेम मार्ग है। तुमने प्रथम का वरण किया है।"[4]

अब इस बात पर ध्यान दो कि सत्य सिखाने को कैसी शर्तें रखी गयी हैं। पहली शर्त है निर्मलता—एक बालक, पवित्र, निर्भ्रान्त आत्मा जगत् के रहस्य के विषय में प्रश्न पूछ रहा है। दूसरी, सत्य ही के लिए उसे सत्य को ग्रहण करना चाहिए।

जब तक सत्य किसी ऐसे व्यक्ति से प्राप्त नहीं होता, जिसने सत्य का साक्षात्कार स्वयं किया है, उसे स्वयं हृदयंगम किया है, तब तक वह फलदायक नहीं हो सकता। ग्रंथ उसे नहीं दे सकते, तर्क उसे सिद्ध नहीं कर सकते। सत्य उसको मिलता है, जिसने उसके रहस्य को समझ लिया।

---

१. कठोपनिषद् ॥१।१।२०॥
२. वही, २१
३. वही, २५
४. वही ॥१।२।१॥

जब मिल जाय, तो मौन रहें। कुतर्कों से विचलित न हों। आत्मज्ञान स्वयं प्राप्त करो। इसे तुम स्वयं ही कर सकते हो।

यह न तो सुख है, न दुःख है, न पाप है, न पुण्य है और न ज्ञान है, न अज्ञान है। इसका साक्षात्कार अवश्य करना चाहिए। इसका वर्णन मैं तुमसे कैसे कर सकता हूँ?

जो सच्चे हृदय से पुकारता है, "हे प्रभो! मैं बस तुझे चाहता हूँ"—उसको प्रभु स्वयं दर्शन देता है। निर्मल रहो, शान्त रहो। अशान्त मन प्रभु को प्रतिबिम्बित नहीं कर सकता।

'जिसका गुणगान वेद करते हैं, जिसके पास पहुँचने के लिए स्तुति और यज्ञ से हम सेवा करते हैं, उस वर्णनातीत का वाचक पवित्र ॐ है।'[1] सभी शब्दों में यह सर्वाधिक पवित्र है। जो इस शब्द का रहस्य जान गया, उसको वे सभी वस्तुएँ प्राप्त होती हैं जिनके लिए वह मनोरथ करता है। इस शब्द की शरण में जाओ। जो कोई इस शब्द की शरण में जाता है, उसके लिए मार्ग खुल जाता है।

---

१. वही, १५

मानव का भाग्य

(१७ जनवरी, १८९४ ई० को मेमफ़िस में दिया गया व्याख्यान : 'अपील एवलांश' पत्र में प्रस्तुत विवरण)

श्रोताओं की संख्या सामान्यतः अधिक थी। उनमें नगर के सर्वोत्कृष्ट साहित्यकार तथा संगीतज्ञ थे। क़ानूनी पेशे और वित्तीय प्रतिष्ठानों के भी कुछ विशिष्टतम व्यक्ति उपस्थित थे।

कुछ अमेरिकी वक्ताओं से यह वक्ता विशेष रूप से एक विषय में भिन्न हैं। जिस प्रकार गणित का प्राध्यापक अपने छात्रों को बीजगणित का कोई उदाहरण समझाता है, उसी प्रकार के विवेचनात्मक ढंग से वे अपने विचारों को प्रस्तुत करते हैं। सभी तर्कों के विरुद्ध अपने विषय का सफलतापूर्वक अडिग प्रतिपादन करने में अपनी शक्ति और योग्यता पर पूरा विश्वास रखते हुए कानन्द[1] भाषण करते हैं। जिसकी तार्किक ढंग से पुष्टि न की जा सके, ऐसा कोई विचार न तो वह पेश करते हैं और न उस पर बल देते हैं। उनकी वक्तृता का अधिकांश कुछ इंगरसोल के दर्शन के ढर्रे पर है। भविष्य में दण्ड मिलने अथवा ईश्वर के प्रति जिस प्रकार का विश्वास ईसाइयों का है; उस प्रकार का विश्वास उनका नहीं है। उन्हें यह विश्वास नहीं है कि मन अविनाशी है, क्योंकि वह पराश्रित है और जब तक किसी वस्तु की बिल्कुल स्वतन्त्र सत्ता न हो, तब तक वह अविनाशी नहीं हो सकता। वे कहते हैं, "ईश्वर कोई राजा नहीं है, जो जगत् के किसी कोने में बैठकर पृथ्वी के मनुष्यों को उनकी करनी के अनुसार दण्ड अथवा पुरस्कार देता है; और वह समय आयेगा, जब मानव को इस सत्य का बोध होगा, तब वह उठेगा और कहेगा मैं ब्रह्म हूँ' (अहं ब्रह्मास्मि) और मैं उसके जीवन का जीवन हूँ। जब हमारा वास्तविक रूप, हमारा अमर सिद्धान्त ईश्वर है, तब यह शिक्षा क्यों दी जाय कि ईश्वर बहुत दूर है?

"आदि पाप की अपने धर्म की शिक्षा से तुम भ्रम में न पड़ो, क्योंकि वही धर्म आदि पवित्रता की भी शिक्षा देता है। जब आदम का पतन हुआ, तब वह

---

१. उन दिनों पत्रों के संवाददाता स्वामी जी को आम तौर से विवेकानन्द लिखते थे।

पुण्य से च्युत हुआ (हर्षध्वनि)। पवित्रता हम लोगों का वास्तविक स्वभाव है और उसकी पुनः उपलब्धि सभी धर्मों का लक्ष्य है। सभी आदमी पवित्र हैं, सभी अच्छे हैं। उन पर कुछ आपत्तियाँ उठायी जा सकती हैं और तुम पूछते हो कि कुछ लोग पशु जैसे क्यों हैं? जिस आदमी को तुम पशु कहते हो, वह मैल और धूल में पड़ा हुआ हीरा है—धूल झाड़ दो और वह हीरा हो जायगा। वह इतना निर्मल हो जायगा कि मानो उस पर धूल कभी पड़ी ही न थी और हमें स्वीकार करना चाहिए कि प्रत्येक आत्मा एक बड़ा हीरा है।

"अपने भाई को पापी कहने से बढ़कर निम्नतर बात और कुछ नहीं है। एक बार एक शेरनी भेड़ों के झुण्ड पर टूट पड़ी और उसने एक भेड़ के बच्चे को मार डाला। एक भेड़ को शेर का नन्हा सा बच्चा मिला, जो उसके पीछे पीछे चल रहा था। भेड़ ने उसे अपना दूध पिलाया। भेड़ों के बीच वह बढ़ने लगा और उसने भेड़ की भाँति घास खाना सीख लिया। एक दिन एक बूढ़े सिंह ने इस मेष-सिंह को देखा और उसे भेड़ों से अलग ले जाना चाहा, परन्तु उसके निकट पहुँचते ही मेष-सिंह भाग गया। बड़ा सिंह प्रतीक्षा करता रहा और उसने मेष-सिंह को अकेले में पकड़ लिया। उसे निर्मल जल के सरोवर के किनारे ले जाकर उसने कहा, 'तुम भेड़ नहीं हो, बल्कि सिंह हो। जल में अपना प्रतिबिम्ब तो देखो।' जल में प्रतिबिम्बित अपनी छाया को निहारकर मेष-सिंह ने कहा 'मैं सिंह हूँ, मेष नहीं।' हम भी अपने को भेड़ न समझें, वरन् सिंह बनें। भेड़ की तरह मिमियाना और घास खाना बंद करो।

"चार महीने से मैं अमेरिका में हूँ। मासाचुसेट्स में मैंने एक सुधारक कारावास देखा। उस कारागार के जेलर को कभी यह मालूम नहीं होता कि क़ैदी किन अपराधों में जेल में रखे गये हैं। उनके चतुर्दिक् दया का चोंगा डाल दिया गया है। एक अन्य नगर में तीन ऐसे समाचार-पत्र थे, जिनका सम्पादन बड़े विद्वान् व्यक्ति करते थे और जो यह सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे थे कि कठोर दण्ड देना आवश्यक है जब कि एक अन्य समाचार-पत्र यह मत प्रकट कर सन्तुष्ट था कि दण्ड से दया उत्तम है। एक अखबार के सम्पादक ने आँकड़ों से सिद्ध किया कि जिन अपराधियों को कठोर दंड दिये गये थे, उनमें से पचास प्रतिशत जेल से लौटने पर भले आदमी का जीवन व्यतीत करने लगे, जब कि हलके दण्ड पानेवालों में से नब्बे प्रतिशत लोग जेल से लौटने पर अच्छा जीवन बिताने लगे।

"धर्म मानव स्वभाव की दुर्बलता का परिणाम नहीं; यहाँ धर्म का अस्तित्व इसलिए नहीं है कि हम किसी अत्याचारी से डरते हैं; धर्म प्रेम है, जो खिल रहा है, वर्द्धमान है और विकासमान है। घड़ी का दृष्टांत लो—छोटी सी डिबिया में

कल-पुरजे हैं और एक स्प्रिंग है। स्प्रिंग में जब चाभी भर दी जाती है, तो वह अपनी प्रकृत अवस्था को पुनः प्राप्त करने का यत्न करती है। तुम घड़ी के स्प्रिंग की भाँति हो और आवश्यक नहीं है कि सभी घड़ियों के स्प्रिंग एक प्रकार के हों और यह भी आवश्यक नहीं है कि हम सबका धर्म एक ही हो। और हम लड़ें क्यों? यदि हम सभी लोगों के विचार एक हों तो दुनिया मृत हो जाय। बाह्य गति को हम क्रिया कहते हैं और आन्तरिक गति है मानव-विचार। पत्थर पृथ्वी पर गिरता है। तुम कहते हो कि यह गुरुत्वाकर्षण के नियम का परिणाम है। घोड़ा गाड़ी को खींचता है और ईश्वर घोड़े को। वह गति का नियम है। भँवरें धारा की शक्ति प्रकट करती हैं, धारा रोक दो और जल बँधकर सड़ने लगेगा। गति ही जीवन है। हमारे लिए एकता और विविधता अवश्य होनी चाहिए। गुलाब को कोई दूसरा नाम दे दो, तब भी वह उतनी ही मधुर सुगंधि देगा, और अपने धर्म को कोई नाम दे दो उससे अन्तर नहीं पड़ेगा।

"एक गाँव में छः अंधे रहते थे। वे हाथी देख नहीं सकते थे, लेकिन बाहर निकले और उन्होंने उसका स्पर्श किया। एक ने अपना हाथ हाथी की पूँछ पर, एक ने पार्श्व भाग पर, एक ने जीभ (सूंड़) पर, एक ने उसके कान पर रखा। वे हाथी का रूप वर्णन करने लगे। एक ने कहा कि वह रस्सी जैसा है, एक ने कहा, वह भारी दीवार जैसा है, एक ने उसे अजगर जैसा बताया और एक ने कहा, वह पंखे जैसा है। अन्त में वे भिड़ गये और एक दूसरे पर घूंसे बरसाने लगे। एक दृष्टिवान आदमी आया और उसने परेशानी का कारण पूछा। अंधों ने कहा कि हम लोगों ने हाथी देखा है, लेकिन एक दूसरे पर झूठ बोलने का आरोप लगाने के कारण हममें आपस में मतभेद है। उस आदमी ने कहा, "भाई तुम सब झूठ बोले हो, तुम लोग अंधे हो और तुममें से किसीने उसे नहीं देखा है।" हम लोगों के धर्म के मामले में भी यही बात है। हम अंधों को हाथी देखने देते हैं। (हर्षध्वनि)

"भारत के एक संन्यासी ने कहा है, 'अगर आप कहें कि मैं मरुस्थलों के बालू को पेर कर उसमें से तेल प्राप्त कर लूंगा, या यह कि मैं मगर के मुख से उसके दाँत उखाड़ लूंगा और वह काट न सकेगा, तो मैं विश्वास कर लूंगा, लेकिन मैं तब आपका विश्वास नहीं करूँगा, जब आप कहेंगे कि धर्मान्ध को बदला जा सकता है।'[1] तुम

---

१. प्रसह्यमणिमुद्धरेन्मकरवक्त्रदंष्ट्रान्तरात् ।
समुद्रमपि संतरेत्प्रचलदूर्मिमालाकुलम् ॥
भुजंगमपि कोपितं शिरसि पुष्पवद्धारयेत् ।
न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥

पूछ सकते हो कि धर्मों में इतना भेद क्यों है? जवाब यह है—छोटी छोटी नदियाँ हज़ारों पहाड़ी कगारों से टकराती हुई अन्ततः महासागर में आती हैं। यही बात विभिन्न धर्मों पर लागू होती है। वे सब हम लोगों को भगवान् के हृद्देश में ले जाने को हैं। १९०० वर्षों तक तुम लोग यहूदियों के दमन की कोशिश करते रहे। क्यों तुम उनका दमन न कर सके? प्रतिध्वनि उत्तर देती है; 'अज्ञानता और धर्मान्धता कभी सत्य का दमन नहीं कर सकतीं।"

वक्ता ने लगभग दो घंटे तक इसी प्रकार की तार्किक शैली में भाषण जारी रखा और इस कथन के साथ उसका उपसंहार किया, 'हम सहायता करें, विनाश नहीं।'

लभते सिकतासु तैलमपि यत्नतः परिपीडयन्।
पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः॥
कदाचिदपि पर्यटन्शशविषाणमासादयेत्।
न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्॥ भर्तृहरिनीतिशतकम्॥३।४॥

लक्ष्य–१

(२७ मार्च, १९०० ई० को सैन फ़्रांसिस्को में दिया गया व्याख्यान[1])

हम देखते हैं कि मनुष्य सदैव किसी ऐसी वस्तु से आवृत प्रतीत होता है, जो उससे महत्तर है और वह उसका अभिप्राय समझने का प्रयत्न कर रहा है। मनुष्य सदा उच्चतम आदर्श की (खोज) करेगा। वह जानता है कि उसका अस्तित्व है और धर्म उस उच्चतम आदर्श की खोज है। पहले उसकी सभी खोजें वाह्य धरातल पर थीं—स्वर्ग में, भिन्न भिन्न स्थानों में आरोपित थीं—मनुष्य की सम्पूर्ण प्रकृति के (अपनी ग्रहण-शक्ति के) ठीक अनुरूप थीं।

(बाद में), मनुष्य कुछ और वारीक़ी से आत्म-निरीक्षण करने लगा और उसे पता लगने लगा कि उसका वास्तविक 'मैं' वह 'मैं' नहीं है, जिसे वह साधारणतः अपने को मान बैठा है। इन्द्रियों को उसका जो स्वरूप भासित होता है, वह वस्तुतः है नहीं। उसने अपने अन्तर में पैठकर (खोज) शुरू की और उसे पता लगा कि... उसने अपने वाहर जो आदर्श (स्थापित कर) रखा है, वह सतत भीतर ही विद्यमान है; वह वाहर जिसकी उपासना कर रहा था, वह उसीका वास्तविक आन्तरिक स्वरूप है। द्वैतवाद और अद्वैतवाद में अन्तर यह है कि जब उपास्य को (अपने से) बाहर मान लिया जाता है, तो उसे द्वैतवाद कहते हैं। जव ईश्वर (को पाने की खोज) भीतर की जाती है, तो उसे अद्वैतवाद कहते हैं।

पहले वह पुराना सवाल कि क्यों और किसलिए।...मनुष्य ससीम कैसे हो गया? वह पूर्ण अपूर्ण कैसे हो गया, नित्य शुद्ध मायालिप्त कैसे हुआ? प्रथम तो तुमको यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि इस प्रश्न का उत्तर द्वैत सिद्धान्त (द्वारा) नहीं दिया जा सकता। ईश्वर ने दोषमय विश्व की सृष्टि क्यों की? जव अशेष

---

१. 'वेदान्त एण्ड दी वेस्ट' के सन् १९५८ के मई-जून के अंक से लेकर इसे पुनः मुद्रित किया गया। पत्रिका के सम्पादकों ने इसे उसी रूप में प्रकाशित किया, जिस रूप में उसे लिखकर उतारा गया था। विचार तथा काल का तारतम्य बनाये रखने के लिए कुछ शब्द जोड़ दिये गये हैं, जिन्हें कोष्ठों में रखा गया है। व्याख्यान उतारने में जो शब्द छूट गये होंगे, उन्हें ये इंगित करते हैं।—सं०

पूर्ण, दयानिधान परम पिता परमेश्वर ने मनुष्य की रचना की, तो वह इतना दुःखी क्यों है? यह स्वर्ग और धरती, जिनका अवलोकन कर हम नियम सम्बन्धी कल्पना करते हैं, क्यों हैं? कोई व्यक्ति किसी ऐसी वस्तु की कल्पना नहीं कर सकता, जिसे उसने देखा न हो।

इस जीवन में हमें जो यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं, उनका समुच्चय हमने अन्यत्र आरोपित कर दिया और वह हम लोगों का नरक है।...

उस अनादि, अनन्त परब्रह्म ने इस विश्व की सृष्टि क्यों की? (द्वैतवादी कहता है कि) जैसे कुम्हार बरतन बनाता है। परब्रह्म कुम्हार है, हम बरतन हैं...। अधिक दार्शनिक भाषा में प्रश्न यों समझना चाहिए इसे ध्रुव सत्य कैसे मान लिया जाय कि मनुष्य का वास्तविक स्वरूप नित्य शुद्ध, अशेष और पूर्ण है? किसी भी अद्वैती व्यवस्था में यह एक कठिनाई है। अन्य प्रत्येक बात स्वच्छ और स्पष्ट है। इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जा सकता। अद्वैतवादी कहता है कि यह प्रश्न स्वतः अन्तर्विरोधी है।

द्वैत मत लो, सवाल है कि परब्रह्म ने विश्व की सृष्टि क्यों की? यह अन्तर्विरोध है। क्यों? क्योंकि ब्रह्म से आशय क्या है? वह ऐसी सत्ता है, जो किसी विजातीय वस्तु द्वारा क्रियमाण नहीं हो सकता।

मैं और तुम स्वतंत्र नहीं हैं। मैं प्यासा हूँ। प्यास नाम की एक चीज है, जिस पर मेरा नियन्त्रण नहीं है, (वह) मुझे पानी पीने को बाध्य करती है। मेरे शरीर की प्रत्येक क्रिया यहाँ तक कि मन में उठनेवाला प्रत्येक विचार, कहीं बाहर से मुझ पर लादा जाता है। मुझे वह करना ही पड़ता है। इसीलिए मैं बंधन में हूँ...मैं इसे करने, इसे पाने आदि के लिए बाध्य किया जाता हूँ। और क्यों तथा किसलिए का अभिप्राय क्या है? (बाह्य शक्तियों के प्रभाव में रहकर।) तुम पानी क्यों पीते हो? क्योंकि प्यास तुमको विवश करती है। तुम दास हो। तुम अपनी इच्छा से कभी कुछ नहीं करते, क्योंकि प्रत्येक काम को तुमसे जबरदस्ती कराया जाता है। कर्म करने का एकमात्र हेतु कोई बल है।...

पृथ्वी स्वतः कभी नहीं हिलती-डुलती, यदि उसे कोई चीज चलने के लिए विवश नहीं करती। बत्ती जलती क्यों है? वह तब तक नहीं जलती, जब तक कोई दियासलाई घिसकर नहीं जलाता। समस्त प्रकृति की प्रत्येक वस्तु बंधन में जकड़ी है। गुलामी! गुलामी! प्रकृति से सामंजस्य का अर्थ है (गुलामी)। प्रकृति का दास बनकर सोने के पिंजरे में रहने में क्या सार है? (मनुष्य को इसका ज्ञान हो जाना ही कि वह तत्त्वतः मुक्त और दिव्य है) सर्वोच्च नियम तथा व्यवस्था है। अब हम समझ गये कि क्यों तथा किसलिए जैसे प्रश्न (अज्ञानवश) पूछे जाते हैं।

किसी विजातीय तत्त्व द्वारा ही मुझे कुछ करने के लिए बाध्य किया जा सकता है।

(तुम कहते हो) ईश्वर मुक्त है। फिर तुम पूछते हो कि वह सृष्टि क्यों करता है। तुम स्वयं अपनी बातों का खंडन करते हो। ईश्वर शब्द से अभिप्राय है, पूर्ण स्वतंत्र इच्छा। तार्किक भाषा में प्रश्न का यह रूप होगा—जिसे कभी कोई बाध्य नहीं कर सकता, उसे विश्व की सृष्टि करने को किसने विवश किया? इसी प्रश्न में तुम कहते हो, किसने विवश किया? प्रश्न मूर्खतापूर्ण है। वह तो स्वतः पूर्ण ह। वह मुक्त है। जब तुम इन प्रश्नों को तर्क की भाषा में पूछोगे, तब हम उनका जवाब देंगे। मुक्ति तुमको बतायेगी कि सत् केवल एक है और कुछ नहीं। जहाँ भी द्वैत मत उदय हुआ, वहीं अद्वैत मत ने आगे बढ़कर उसको मार भगाया।

उसे समझने में केवल एक कठिनाई है। धर्म सामान्य बुद्धि और नित्य प्रति की वस्तु है। यदि उसकी भाषा में पूछा जाय और दार्शनिक की भाषा में न (पूछा जाय), तो राह चलता भी यह जानता है। मानव की प्रकृति का यह सामान्य गुण है कि वह (अपना विस्तार चाहती है)। बच्चे के साथ अपने भाव को मिलाओ। (तुम उसके साथ तादात्म्य स्थापित करते हो, तब) तुम्हारे दो शरीर होते हैं। (इसी प्रकार) तुम अपने पति के मन द्वारा भावानुभूति कर सकती हो। तुमको रुकावट कहाँ है? असंख्य पिंडों में तुमको अनुभूति हो सकती है।

मानव प्रकृति पर नित्य विजय प्राप्त करता है। एक जाति के रूप में वह अपनी शक्ति व्यक्त कर रहा है। मनुष्य की इस शक्ति को सीमा में बाँधने की कल्पना करो। तुम इसे मानोगे कि एक जाति के रूप में मानव के पास असीम शक्ति और असीम शरीर है। प्रश्न बस एक है कि तुम कौन हो? तुम जाति हो या एक (व्यक्ति)? जिस क्षण तुम अपने को पृथक् कर लेते हो, प्रत्येक वस्तु तुमको कष्ट देती है। जिस क्षण तुम अपना विस्तार करते हो और दूसरों से आत्म-भाव स्थापित करते हो, तुमको सहायता मिलती है। स्वार्थी व्यक्ति दुनिया में सबसे दुःखी प्राणी है। सबसे सुखी वह आदमी है, जो लेशमात्र स्वार्थी नहीं है। वह समस्त सृष्टिमय और समस्त जातिमय है और उसमें ईश्वर का निवास है।... इस प्रकार द्वैतवाद, ईसाई, हिन्दू और सभी धर्मों की नीति-संहिता है, स्वार्थी मत बनो...निःस्वार्थ बनो। परोपकार करो! विस्तार करो!

जो अज्ञानी हैं, उन्हें (यह) बड़ी आसानी से बोध कराया जा सकता है और जो विद्वान् हैं, उन्हें तो और अधिक आसानी से समझाया जा सकता है। परन्तु जिन्हें छिछली विद्या मिली है, उन्हें ब्रह्मा भी नहीं समझा सकते। (सत्य यह है

कि) तुम (इस जगत् से) पृथक् नहीं हो, (ठीक वैसे ही जैसे तुम्हारी आत्मा) तुम्हारे शेष भाग से अलग नहीं है। यदि ऐसा (न) होता, तो तुम न तो कुछ देख सकते और न अनुभूति प्राप्त कर सकते। जड़तत्त्व के महासागर में हमारे शरीर छोटी छोटी भँवरें मात्र हैं। जीवन मोड़ ले रहा है, चला जा रहा है, दूसरे रूप में...। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तुम, मैं, सब मात्र भँवरें हैं। मैंने (एक विशेष प्रकार के मन को) क्यों अपनाया? (यह) मन के महासमुद्र में एक मामूली मानस भँवर (है)।

अन्यथा मेरे कम्पन का तत्काल तुम्हारे पास पहुँच जाना कैसे संभव हो पाता? अगर तुम झील में एक पत्थर फेंकते हो, तो उससे एक कम्पन उठता है और (वह) पानी को कम्पन में (चलायमान करता है)। मैं अपने मन को आनंद की अवस्था में लाता हूँ, तुम्हारे मन में भी वैसा ही आनंद पैदा करने की प्रवृत्ति होती है। कितनी बार अपने मन या हृदय में (तुम कुछ सोचते हो) और विना (वाणी के) संचार के (अन्य लोगों के पास तुम्हारे विचार पहुँच जाते हैं)? हर जगह हम सब एक हैं।...यह ऐसी वस्तु है, जिसे हम कभी समझ नहीं पाते। समस्त (जगत्) देश, काल और निमित्त से निर्मित है। और परमेश्वर (ब्रह्माण्डवत् प्रतीत होता है)।...प्रकृति का आदि कब से है? जब तुम (सच्चे स्वरूप को भूल गये और देश, काल तथा निमित्त के बंधन में पड़ गये)।

यह तुम्हारे शरीरों का (घूर्णित) चक्र है और फिर भी यही तुम्हारी अनादि प्रकृति है।...यह निश्चय ही प्रकृति है—देश, काल और निमित्त। प्रकृति का अर्थ बस इतना ही है। जब से तुमने विचार करना आरंभ किया, तभी से काल का उद्‌भव हुआ। जब तुमको शरीर मिला, तब देश (आकाश) का प्रादुर्भाव हुआ, अन्यथा देश हो नहीं सकता। जब तुम सीमाबद्ध हुए, तब निमित्त आरम्भ हुआ। हमें किसी न किसी प्रकार का उत्तर रखना पड़ेगा। यह है उत्तर। (हमारी ससीमता) खेल है। केवल विनोदार्थ। कोई वस्तु तुमको बाँधती नहीं, कोई (तुमको) बाध्य नहीं करता। (तुम) कभी बँधे नहीं (थे)। हम लोग स्वयं अपने ही द्वारा रचित (नाटक) में अपना अपना अभिनय कर रहे हैं।

अब हम जीवों के व्यक्तित्व के प्रश्न पर विचार करें। कुछ लोग अपने व्यक्तित्व के लोप के भय से इतने त्रस्त रहते हैं। यदि शूकर को अपना शूकरत्व खोकर ब्रह्मत्व प्राप्त हो जाय, तो क्या यह श्रेयस्कर नहीं? हाँ, है। परन्तु बेचारा शूकर उस समय यह नहीं सोचता। कौन सा व्यक्तित्व मेरा अपना है? जब मैं शिशु था और फ़र्श पर हाथ-पैर पसारे अपना अँगूठा निगल जाने की चेष्टा करता था? क्या अपने उस व्यक्तित्व को खोकर मुझे शोक करना चाहिए? पचास वर्ष बाद मैं अपनी इस वर्तमान अवस्था पर दृष्टिपात कर इस पर ठीक

उसी प्रकार हँसूँगा, जिस प्रकार (आज) शैशवावस्था पर हँसता हूँ। इनमें से अपने किस व्यक्तित्व को मैं रखूँगा? . . .

हमें इस व्यक्तित्व का अर्थ समझना होगा। . . . (दो विरोधी प्रवृत्तियाँ हैं,) एक व्यक्तित्व की रक्षा की और दूसरा व्यक्तित्व के उत्सर्ग की उत्कट इच्छा की। आवश्यकताग्रस्त बच्चे के निमित्त माता अपनी सभी अभिलाषाओं का बलिदान कर देती है। . . . जब वह बच्चे को गोद में लेती है, तब उसकी अपने व्यक्तित्व की रक्षा, अस्तित्व-रक्षा की प्रेरणाएँ नहीं रह जातीं। वह निकृष्टतम भोजन कर लेगी, लेकिन बच्चों को अच्छा से अच्छा भोजन देगी। इस प्रकार जिन्हें हम प्यार करते हैं, उनके लिए मर मिटने को तैयार रहते हैं।

(एक ओर तो) हम लोग यह व्यक्तित्व बनाये रखने के लिए कठिन संघर्ष कर रहे हैं, दूसरी ओर, उसके विनाश का प्रयत्न भी कर रहे हैं। परिणाम क्या होता है? टाम ब्राउन कठिन संघर्ष कर सकता है। वह अपने व्यक्तित्व के लिए (लड़ रहा) है। टाम मर जाता है और धरती पर उसका कहीं चिह्न तक नहीं रहता। उन्नीस सौ वर्ष पूर्व एक यहूदी का जन्म हुआ और उसने व्यक्तित्व बनाये रखने के लिए अँगुली तक नहीं हिलायी। . . . ज़रा उस पर भी विचार करो! उस यहूदी ने व्यक्तित्व की रक्षा के लिए कभी संघर्ष नहीं किया। इसीसे वह दुनिया में सबसे महान् बना। यही दुनिया को ज्ञात नहीं है।

काल के अन्तर्गत हमें व्यक्तित्वधारी बनना पड़ता है। पर किस अर्थ में? मानव का व्यक्तित्व क्या है? टाम ब्राउन नहीं, वरन् नर रूप में नारायण। वही (सच्चा) व्यक्तित्व है। मनुष्य जितना उसके समीप पहुँचता है, उतना ही वह अपने मिथ्या व्यक्तित्व को त्याग देता है। जितना ही वह अपने लिए संग्रह और लाभ के लिए प्रयत्न करता है, उतना ही उसका व्यक्तित्व होता है। जितनी ही कम वह (अपनी) चिन्ता करता है, उतना ही अधिक वह जीवन-काल में अपने व्यक्तित्व का उत्सर्ग कर देता है। . . . उतना ही अधिक वह व्यक्तित्वधारी होता है। यह एक ऐसा रहस्य है, जिसे दुनिया नहीं समझती। . . .

हमें पहले व्यक्तित्व का अर्थ समझना चाहिए। इसका अर्थ है ध्येय तक पहुँचना। इस समय तुम पुरुष (या) स्त्री हो। तुम सदैव परिवर्तित होते रहोगे। क्या तुम रुक सकते हो? क्या तुम अपने मन को वैसे ही रखना चाहते हो, जैसा वह इस समय है—क्रोध, घृणा, द्वेष, विवाद तथा अन्य हज़ारों दिमाग़ी बातें? क्या तुम्हारा अभिप्राय यह है कि तुम उन्हें पाल रखोगे? . . . जब तक तुम पूर्ण जय प्राप्त नहीं कर लोगे, जब तक तुम पवित्र तथा पूर्ण नहीं हो जाओगे . . . तब तक तुम कहीं रुक नहीं सकते।

जब तुम अखंड प्रेम, आनन्द और पूर्ण सत् हो जाओगे, तब तुममें क्रोध न रहेगा।...तुम अपने किस शरीर को बनाये रखोगे? जब तक तुम अनन्त जीवन तक नहीं पहुँचोगे, तब तक तुम कहीं नहीं रुक सकते। पूर्ण जीवन! तुम वहाँ रुकते हो। इस समय तुमको अल्प ज्ञान है और तुम उसे बढ़ाने के लिए सतत प्रयत्नशील हो। तुम कहाँ रुकोगे? कहीं नहीं, जब तक जीवन से तुम्हारा एकीकरण नहीं हो जाता।...

बहुत से लोग सुख (को) लक्ष्य बनाना चाहते हैं। उस सुख के लिए वे इन्द्रिय-भोगों को ही ढूँढ़ते हैं। उच्चतर धरातलों पर बहुत सुख-लाभ करना है। फिर आध्यात्मिक धरातलों पर। फिर आत्माराम बनकर—अपने ही भीतर भगवान् में। जिस मनुष्य का सुख (उसके) बाहर है, वह बाह्य वस्तु के चले जाने पर दुःखी होता है। इस जगत् की किसी वस्तु पर तुम सुख के लिए आश्रित नहीं रह सकते। यदि मेरे सारे सुख मेरी आत्मा में हैं, तो वे सुख मुझे निरन्तर मिलते रहेंगे, क्योंकि आत्मा से वियोग कभी नहीं हो सकता।...माता, पिता, बच्चे, पत्नी, शरीर, धन—आत्मा के अतिरिक्त हर वस्तु मुझसे बिछुड़ सकती है... आत्मा में आनंद। आत्मा में ही सारी इच्छाएँ विद्यमान हैं। यह वह व्यक्तित्व है, जो कभी परिवर्तित नहीं होता और पूर्ण है।

...और उसकी उपलब्धि कैसे हो? इस विश्व के सभी महात्माओं ने—सभी महान् पुरुषों और स्त्रियों ने—जिसे (दीर्घकालीन विवेक से) प्राप्त किया, वही उन्हें मिलता है। बीस देव और तीस देव होने के ये द्वैतवादी सिद्धान्त क्या हैं? कोई बात नहीं। उन सबमें एक सत्य है कि मिथ्या व्यक्तित्व समाप्त हो... उसी प्रकार यह अहंकार भी—जितना ही यह कम होगा, उतना ही मैं अपने वास्तविक स्वरूप, उस विश्व-शरीर के अधिक समीप रहूँगा। मैं अपने निजी मन का जितना ही कम खयाल करूँगा, उतना ही उस विश्व-मन से मेरा सामीप्य होगा। मैं अपनी आत्मा के विषय में जितना ही कम सोचूंगा, उतना ही अधिक सान्निध्य विश्वात्मा से होगा।

हम एक शरीर में निवास करते हैं। हमें कुछ दुःख मिलता है, कुछ सुख। बस इसी स्वल्प सुख के लिए, जो हमें इस काया में रहने के कारण मिलता है, हम अपने को बनाये रखने के निमित्त संसार में प्रत्येक का संहार करने को उद्यत हैं। यदि हमारे दो शरीर होते, तो क्या इससे अधिक उत्तम न होता? इस प्रकार परमानन्द पर्यन्त हम बढ़ते जा रहे हैं। मैं प्रत्येक शरीर में हूँ। सभी हाथों से मैं कर्म करता हूँ, सभी पैरों से मैं चलता हूँ। प्रत्येक मुख से मैं बोलता हूँ, प्रत्येक शरीर में मैं निवास करता हूँ। अनन्त मेरे शरीर, अनन्त मेरे मन। नाज़रथ के

ईसा मसीह, बुद्ध, मुहम्मद—भूतकाल के सभी महान् तथा उत्तम पुरुषों में मेरा निवास था और वर्तमान काल के पुरुषों में भी है। भविष्य में जो (होनेवाले) हैं, उनमें भी मेरा निवास होगा। क्या यह कोरा सिद्धान्त है ? (नहीं, यह सत्य है।)

यदि इसे तुम सिद्ध कर सको, तो यह कितना आनंददायक होगा। कितना अपार हर्ष ! वह कौन सा शरीर इतना महान् है, जिसकी हमें यहाँ कोई आवश्यकता हो ? . . . अन्य सभी लोगों के शरीरों में रहने, इस दुनिया में विद्यमान सभी शरीरों का भोग कर लेने के वाद, हमारा क्या होता है ? (हम अनादि अनन्त में समा जाते हैं। और) वही हमारा लक्ष्य है। बस वही एक मार्ग है। एक (व्यक्ति) कहता है, "यदि मैं सत्य को जान लूँ, तो मैं मक्खन की भाँति पिघल जाऊँगा।" मेरी अभिलाषा है कि लोग ऐसे ही हों, पर वे इतने सख्त हैं कि इतनी जल्दी पिघलनेवाले नहीं !

मुक्त होने के लिए हमें क्या करना होगा ? मुक्त तो (तुम) हो ही। . . . जो मुक्त है, वह कभी बंधन में कैसे पड़ सकता है ? यह मिथ्या है। (तुम) कभी बंधन में नहीं (थे)। जो पूर्ण है, वह किसीके द्वारा कभी अपूर्ण कैसे हो सकता है ? 'पूर्ण (असंख्य) में पूर्ण का भाग दो, पूर्ण जोड़ो, पूर्ण से गुणा करो, [पूर्ण ही (रहेगा)।'[१] तुम पूर्ण हो। ईश्वर पूर्ण है। तुम सब पूर्ण हो। सत्ता एक ही हो सकती है, दो नहीं। पूर्ण को कभी अपूर्ण नहीं बनाया जा सकता। तुम कभी बंधन में नहीं जकड़े जा सकते। बस। . . . तुम मुक्त ही हो। तुम लक्ष्य तक पहुँच चुके हो—जो भी गन्तव्य है। मन को कदापि न सोचने दो कि तुम लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाये हो। . . .

हम जो कुछ (सोचते) हैं, वही बन जाते हैं। यदि तुम अपने को हीन पापी सोचते हो, तो तुम अपने को सम्मोहित करते हो; 'मैं दुःखी, रेंगनेवाला कीट हूँ।' जो नरक में विश्वास रखते हैं, वे मृत्यु के उपरान्त उसी नरक में पड़ते हैं, जो स्वर्ग जाने को कहते हैं, वे (स्वर्ग जाते हैं)।

यह सब कौतुक है . . . (तुम कह सकते हो।) हमें कुछ करना है, इसलिए पुण्य कर्म करें। (किन्तु) पाप-पुण्य की परवाह कौन करता है ? लीला ! सर्वशक्तिमान ईश्वर लीला करता है। बस . . . तुम सर्वशक्तिमान ईश्वर लीला कर रहे हो। यदि तुम पार्श्व अभिनय करना चाहते हो और किसी भिक्षुक की भूमिका अदा करना चाहते हो, तो (अपनी उस चाह के लिए किसी अन्य को दोष)

---

१. ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

नहीं दे सकते। भिक्षुक बनने में तुमको रस मिल रहा है। तुम अपने वास्तविक स्वभाव को जानते हो (दिव्य बनना)। तुम हो तो राजा और स्वाँग रचते हो भिखमंगे का।...यह सब खिलवाड़ है। इसे जानो और लीला करो। इसका बस यही मर्म है। तब इसे करो। सारा जगत् विराट् लीला है। सब कुछ अच्छा है, क्योंकि सब खिलवाड़ है। यह नक्षत्र टूटता है और हमारी पृथ्वी से टकराता है, और हम सब मर जाते हैं। (यह भी खिलवाड़ ही है।) जिन क्षुद्र वस्तुओं से तुम्हारी इन्द्रियों को सुख मिलता है, उन्हींको तुम खिलवाड़ मानते हो!...

(हम लोगों से कहा जाता है कि) यहाँ एक अच्छा देवता और वहाँ एक खराब देवता है, जो बराबर इस ताक में रहता है कि मुझसे ज्यों ही कोई भूल हो त्यों ही मुझे दबोच ले...। जब मैं बालक था, तो मुझसे किसीने कहा कि भगवान् सब कुछ देखता है। मैं बिस्तरे पर सोया तो ऊपर निहारने लगा और इस आशा में था कि कमरे की छत खुलेगी। (हुआ कुछ नहीं।) हमारे अलावा दूसरा कोई हमें नहीं देख रहा है। अपनी (आत्मा के) अतिरिक्त और कोई प्रभु नहीं; हमारी अनुभूति के अतिरिक्त और कोई प्रकृति नहीं। आदत हमारी दूसरी प्रकृति है; वही पहली प्रकृति भी है। बस प्रकृति का अर्थ यही है। मैं (किसी चीज़ को) दो या तीन बार दुहराता हूँ, वह मेरी प्रकृति बन जाती है। दुःखी न हो! पश्चात्ताप न करो! जो हो गया, सो हो गया। यदि तुम अपने को जलाओगे (तो उसका फल भोगोगे)।

...समझदार बनो। हम भूल करते हैं, इससे क्या? यह सब तो खिलवाड़ में है। अपने पूर्वकृत पापों पर वे पागल से होकर कराहते हैं, रोते हैं और क्या क्या करते हैं। पश्चात्ताप मत करो! काम कर लेने के बाद उसे ध्यान में मत लाओ। बढ़े चलो! रुको मत। पीछे मुड़कर मत देखो! पीछे देखने से लाभ क्या होगा? तुमको न तो कुछ हानि होती है और न लाभ। तुम मक्खन की भाँति गलने नहीं जा रहे हो। स्वर्ग और नरक और शरीर-धारण—सब मूर्खतापूर्ण!

कौन पैदा होता है और कौन मरता है? तुम खिलवाड़ कर रहे हो। लोकों के साथ लीला कर रहे हो, आदि। तुम जब तक चाहते हो, तब तक इस शरीर को धारण करते हो। यदि इसे नहीं चाहते, तो इसे धारण भी नहीं करते। जो पूर्ण है, वह सत् है; जो अपूर्ण है, वह लीला है। पूर्ण शरीर और अपूर्ण शरीर दोनों की एक में प्रतिष्ठा तुम्हारे रूप में हुई है। इसे जानो! किन्तु जानने से कोई अन्तर न पड़ेगा, लीला होती रहेगी।... दो शब्दों—आत्मा और शरीर—का संगम हुआ है। (अधूरा) ज्ञान इसका कारण है। समझो कि तुम नित्य

मुक्त हो। ज्ञानाग्नि सभी (मलों और सीमाओं) को भस्म कर देती है। मैं वही पूर्ण हूँ।...

आरम्भ में तुम जितने मुक्त थे, उतने ही अब भी हो और सदा रहोगे। जो अपने को मुक्त जानता है, वह मुक्त है; जो अपने को बंधन में समझता है, वह बंधन में है।

ईश्वर और उपासना आदि का क्या होगा? उनका अपना स्थान है। मैंने अपने को ईश्वर और अहं में विभक्त कर रखा है; मैं उपास्य बन जाता हूँ और मैं अपनी ही उपासना करता हूँ। क्यों न हो? अहं ब्रह्मास्मि। अपनी ही आत्मा की उपासना क्यों न की जाय? परमेश्वर—वह भी मेरी आत्मा है। यह सब खिलवाड़ है। और कोई अभिप्राय नहीं है।

जीवन का अन्त और उद्देश्य क्या है? कुछ नहीं, क्योंकि मैं (जानता हूँ कि मैं पूर्ण हूँ)। यदि तुम भिक्षुक हो, तो तुम्हारे उद्देश्य हो सकते हैं। मेरा कोई उद्देश्य नहीं, कोई चाह नहीं, कोई अभिप्राय नहीं। मैं तुम्हारे देश में आता हूँ, व्याख्यान देता हूँ—केवल कौतुकवश। अन्य कोई अभिप्राय नहीं। क्या अभिप्राय हो सकता है? केवल दास दूसरों के लिए काम करते हैं। तुम किसी अन्य के लिए कर्म नहीं करते। जब तुम्हारे अनुकूल होता है, तो तुम पूजा करते हो। तुम ईसाइयों, मुसलमानों, चीनियों और जापानियों के साथ शरीक़ हो सकते हो। तुम प्राचीन काल के सभी देवताओं की और भविष्य के भी किसी देवता की उपासना कर सकते हो।...

मैं सूर्य, चन्द्र और तारों में हूँ। मैं परमात्मा के साथ हूँ और सभी देवों में हूँ। मैं अपनी आत्मा की पूजा करता हूँ।

इसका दूसरा पक्ष भी है। मैंने इसे रोक रखा है। मैं वह आदमी हूँ जो फाँसी पर चढ़ने जा रहा है। मैं महादुष्ट हूँ। मैं नरकों में दंड भोग रहा हूँ। वह (भी) लीला है। दर्शन का यही लक्ष्य है (यह जानना कि मैं पूर्ण हूँ)। उद्देश्य, नीयत, अभिप्राय और कर्तव्य सब पृष्ठभूमि में रहते हैं।...

यह सत्य पहले श्रवणीय है, फिर मननीय है। बुद्धि से विचार करो और तर्क की कसौटी पर उसे अच्छी तरह कसो। जो सम्बुद्ध हैं, वे उससे अधिक नहीं जानते। इसे तुम निश्चित मानो कि तुम सर्वव्यापी हो। इसी कारण तुम किसीको कष्ट मत दो, क्योंकि दूसरों को कष्ट देने में तुम स्वयं अपने को कष्ट देते हो।... अन्ततः यह मननीय है। इस पर मनन करो। क्या तुमको यह बोध हो सकता है कि एक समय ऐसा आयेगा, जब प्रत्येक वस्तु चकनाचूर होकर धूल में मिल जायगी और केवल तुम्हारी सत्ता रह जायगी? उस समय का निरतिशय आनंद तुमसे

कभी दूर न होगा। तब सचमुच तुमको प्रतीत होगा कि तुम विदेह हो। शरीर तुम्हारे कभी न थे।

अनन्त काल में मैं एक और अकेला हूँ। मैं किससे डरूँ? सब कुछ तो मैं ही हूँ। इसका निरन्तर चिन्तन करना चाहिए। उसके द्वारा साक्षात्कार होता है। ईश्वर-साक्षात्कार द्वारा तुम दूसरों के लिए (आशीर्वाद) बन जाते हो।...

'तेरा मुखमंडल उस व्यक्ति के (मुखमंडल की) तरह चमक रहा है, (जो) ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेता है।'[1] यही लक्ष्य है। मेरी तरह यह उपदेश देने की वस्तु नहीं है। 'एक वृक्ष के नीचे मैंने षोडश वर्षीय बालक गुरु को देखा, शिष्य अस्सी वर्ष का वृद्ध था। गुरु मौन भाव से शिक्षा दे रहा था और शिष्य के संशय मिट गये।'[2] तब कौन बोलता है? सूर्य को देखने के लिए कौन दीप जलाता है? जब तत्त्व (ज्ञान) होता है, तब साक्षी की आवश्यकता नहीं पड़ती। तुम जानते हो।...वही तो तुम करने जा रहे हो....तत्त्वज्ञान। पहले उसका चिन्तन करो। तर्क करो। अपनी जिज्ञासा सन्तुष्ट करो। तब किसी भी अन्य वस्तु का चिन्तन न करो। मैं तो चाहता हूँ, हम कुछ न पढ़ें। प्रभो! हम सबकी सहायता करो! जरा देखो कि (विद्वान्) पुरुष क्या बन जाता है।

'यह कहा जाता है, वह कहा जाता है।'

'तुम क्या कहते हो, मेरे मित्र?'

'मैं कुछ नहीं कहता।' वह तमाम दूसरों के विचारों को उद्धृत करता है, पर स्वयं कुछ नहीं सोचता। यदि यही शिक्षा है, तो पागलपन क्या है? सभी लेखकों पर ध्यान दो!...ये आधुनिक लेखक, अपने दो वाक्य भी नहीं! सब उद्धरण।...

पुस्तकों की सामग्री का अधिक मूल्य नहीं, और (उच्छिष्ट) धर्म में तो कुछ भी मूल्य नहीं है। वह तो भोजन करना जैसा है। तुम्हारे धर्म से मुझे सन्तोष न होगा। ईसा और बुद्ध ने भगवान् का दर्शन किया। यदि तुमने भगवान् को नहीं देखा, तो तुम नास्तिक से अच्छे नहीं। अन्तर यह है कि वह तो चुप रहता है और तुम बकवास कर उससे दुनिया में झमेला मचाते हो। ग्रंथों, बाइबिलों और धर्म-शास्त्रों से कोई लाभ नहीं। जब बालक था, मैं एक वृद्ध से मिला, (उन्होंने कोई शास्त्र नहीं पढ़ा था, लेकिन स्पर्श मात्र से मुझमें ईश्वर-सत्य का संचार कर दिया)।

---

१. छान्दोग्योपनिषद् ॥४।९।२॥
२. दक्षिणामूर्तिस्तोत्रम् ॥१२॥

विश्व के उपदेशको, तुम मौन हो जाओ। ग्रंथो, तुम चुप हो जाओ। प्रभु, तू ही बोल और तेरा सेवक सुनता है। यदि सत्य न होता, तो जीवन का क्या प्रयोजन? हम सभी सोचते हैं कि पा जायँगे, पर पाते नही। हममें से अधिकांश के हाथ धूल लगती है। ईश्वर नहीं मिलता। यदि ईश्वर ही न मिला, तो जीवन किस काम का? क्या जगत् में कोई विश्रामस्थल है? (उसका पता लगाना हमारा काम है), कभी यह है कि हम (उसकी गहरी खोज) नहीं करते। (हम) मझधार में पड़े बहते हुए तिनके के समान (हैं)।

यदि यहाँ यह सत्य है, यदि यहाँ ईश्वर है, तो उसे निश्चय ही हमारे हृदेश में होना चाहिए। (यह कहने में मुझे. निश्चय समर्थ होना चाहिए,) "मैंने उसे अपनी आँखों से देखा है।" अन्यथा मेरा कोई धर्म नहीं है। विश्वास, धार्मिक व्यवस्थाएँ, धर्मादेश धर्म की रचना नहीं करते। तत्त्वज्ञान, ईश्वर का साक्षात्कार (यही धर्म है)। जिन्हें दुनिया पूजती है, उन सब पुरुषों का गौरव क्या है? (उनके लिए) ईश्वर कोई धार्मिक व्यवस्था नहीं था। (क्या उनका विश्वास इसलिए था) कि उनके पितामह विश्वास करते थे? नहीं। शरीर, मन, तथा अन्य सबसे परे जो परमेश्वर है, उसका उन्हें बोध हुआ। जिस किंचित् अंश तक यह ससार उस परमेश्वर से प्रतिबिम्बित है, उस अश तक वह सत् है। हम साधु पुरुष से प्रेम करते हैं, क्योंकि उसके मुखमण्डल में वह प्रतिबिम्ब कुछ अधिक चमकता है। हमें उसको स्वयं ग्रहण करना चाहिए। दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

यही लक्ष्य है। इसके लिए पुरुषार्थ करो! .तुम अपने पास अपनी निजी बाइबिल रखो। अपना निजी ईसा रखो। अन्यथा तुम धार्मिक नहीं हो। धर्म की बातें मत करो। लोग गप्पें हाँकते रहते हैं। 'उनमें से कुछ, अंधकार में पड़े रहकर, अपने गर्वीले हृदय में सोचते हैं कि उन्हें प्रकाश मिल गया। (इतना) ही नहीं, वे दूसरों का बोझ अपने कंधों पर ले लेते हैं और दोनों गड्ढे में गिरते हैं।'[१]

कोई धर्म संघ स्वयं अकेले कभी उद्धार नहीं कर पाया। किसी मन्दिर में पैदा होना अच्छा है, लेकिन धिक्कार है मन्दिर या गिरजाघर में मरनेवाले को। उससे बाहर आ जाओ।...श्रीगणेश शुभ था, पर उसे छोड़ो। वह बाल्य काल का स्थान था...लेकिन उसे रहने दो!...परमेश्वर के पास सीधे पहुँचो। कोई सिद्धान्त नहीं, कोई मतवाद नहीं। 'तभी सब संशय छिन्न होंगे। तभी सारी कुटिलता सीधी हो जायगी।'[२]

---

१. कठोपनिषद् ॥१।२।५॥
२. मुण्डकोपनिषद् ॥२।२।८॥

'नानात्व में जो उस एक का दर्शन करता है, अनंत मृत्यु में जो उस एक जीवन को देखता है, बहुलता के बीच जो अपनी अन्तरात्मा में उस अव्यय को देखता है—उसीको शाश्वत शांति मिलती है।"[1]

लक्ष्य – २

द्वैतवाद ब्रह्म और प्रकृति को नित्य पृथक् मानता है; जगत् और प्रकृति ब्रह्म के नित्य आश्रित हैं।

चरम अद्वैतवादी इस प्रकार का भेद नहीं करते। उनका दावा है कि अन्तिम विश्लेषण में सब ब्रह्म हैं; जगत् ब्रह्म में अध्यस्त हो जाता है; ब्रह्म जगत् का नित्य जीवन है।

उनके लिए अनन्त तथा सान्त केवल शब्द मात्र हैं। जगत्, प्रकृति आदि का अस्तित्व भेद-वृत्ति के कारण है। प्रकृति स्वयं भेद-वृत्ति है।

इस प्रकार के प्रश्न कि, 'ब्रह्म ने इस जगत् की सृष्टि क्यों की?' 'पूर्ण ने अपूर्ण की सृष्टि क्यों की?' आदि का कभी उत्तर नहीं दिया जा सकता, क्योंकि इस प्रकार के प्रश्न तार्किक दृष्टि से असंगत हैं। युक्ति का अस्तित्व प्रकृति में है। उसके परे उसका अस्तित्व नहीं। ईश्वर सर्वशक्तिमान है, इसलिए यह पूछना कि उसने ऐसा ऐसा क्यों किया, उसको सीमित बनाना हुआ; क्योंकि यह अन्तर्निहित है कि जगत् की सृष्टि करने में उसका कोई अभिप्राय है। यदि उसका कोई अभिप्राय है, तो वह किसी साध्य का साधन होगा और इसका अर्थ यह होगा कि साधन के बिना उसके पास साध्य नहीं हो सकता। किसी ऐसी ही वस्तु के लिए क्यों तथा किसलिए का प्रश्न पूछा जा सकता है, जो किसी अन्य वस्तु पर आश्रित हो।

---

१. कठोपनिषद्॥२।२।१३॥

वेदान्त पर टिप्पणियाँ

हिन्दू धर्म के आधारभूत सिद्धान्त विविध वेदों में अंतर्निहित मननप्रवण और कल्पनाशील दर्शन एवं नैतिकता की शिक्षा पर प्रतिष्ठित हैं। वेद इस बात पर बल देते हैं कि जगत् विस्तार में अनंत है और उसकी सत्ता शाश्वत है। उसका न तो कभी आरंभ हुआ और न कभी अन्त होगा। जड़-जगत् में आत्मा की शक्ति की और ससीम के क्षेत्र में असीम की शक्ति की असंख्य अभिव्यक्तियाँ हुई हैं, परन्तु स्वयं असीम स्वयंभू, शाश्वत और अपरिवर्तनशील है। कालक्रम शाश्वत की काया पर कोई चिह्न नहीं छोड़ता। ज्ञान की अति संवेद्य भूमिका में, जो मानव बुद्धि के नितांत परे है, न भूत है, न भविष्यत्।

वेद हमें बताते हैं कि मनुष्य की आत्मा अमर है। जन्म-मरण शरीर के धर्म हैं—जिसका जन्म होता है, उसकी मृत्यु निश्चित है (जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः)। लेकिन प्रत्यगात्मा असीम और शाश्वत जीवन से सम्बन्धित है, न तो उसका आदि है और न अन्त। वैदिक तथा ईसाई धर्म में एक प्रमुख अन्तर यह है कि ईसाई धर्म के अनुसार इस दुनिया में पैदा होने पर प्रत्येक जीवात्मा का आरम्भ होता है; जब कि वैदिक धर्म दावे के साथ कहता है कि जीवात्मा उस सनातन परमात्मा से ही निःसृत हुआ है और उसीकी भाँति जन्म-मरण से परे है। देहान्तर-प्राप्ति द्वारा इस आत्मा की असंख्य अभिव्यक्तियाँ हो चुकी हैं और असंख्य अभिव्यक्तियाँ होंगी। यह क्रम तब तक आध्यात्मिक विकास के उस महान् नियम के अनुसार चलता रहेगा, जब तक वह पूर्णत्व तक नहीं पहुँच जाती। तब फिर कोई परिवर्तन न होगा।

आधुनिक संसार पर वेदान्त का दावा

(रविवार, २५ फ़रवरी, १९०० को ओकलैंड में दिये गये व्याख्यान की 'दी ओकलैंड एनक्वायरर' की संपादकीय टिप्पणी सहित रिपोर्ट)

इस घोषणा से कि पूर्व के मनीषी स्वामी विवेकानन्द गत सायंकाल 'यूनिटैरियन चर्च' में 'पार्लमिन्ट ऑफ़ रिलिजन्स' में वेदान्त दर्शन की व्याख्या करेंगे, भारी भीड़ आकृष्ट हुई। मुख्य श्रोता-भवन और वहाँ तक पहुँचने के बीच के कमरे भरे थे, वेंड्ट हॉल का संलग्न श्रोता-भवन खोल दिया गया और वह भी ठसाठस भर गया और ऐसा अनुमान है कि पूरे ५०० व्यक्तियों को, जिन्हें बैठने की या खड़े रहने की भी ऐसी जगह न मिल सकी, जहाँ से वे सुविधापूर्वक सुन सकते, हटा दिया गया।

स्वामी जी ने उल्लेखनीय प्रभाव डाला। व्याख्यान के समय बार बार हर्षध्वनि हुई और उसकी समाप्ति के बाद उन्होंने उत्साह भरे प्रशंसकों को मिलने का अवसर दिया। 'आधुनिक संसार पर वेदान्त का दावा' विषय पर उन्होंने अंशतः निम्नलिखित भाषण किया :

आधुनिक संसार से वेदान्त अपेक्षा करता है कि वह उस पर विचार करे। मानव जाति की महत्तम संख्या इसके प्रभाव की परिधि में है। भारत में इसके अनुयायियों पर वारंबार कोटि कोटि लोगों ने धावा किया है और अपनी प्रचंड शक्ति से उन्हें कुचला है, फिर भी यह धर्म जीवित है।

संसार के सभी राष्ट्रों में क्या इस प्रकार का दर्शन मिल सकता है? इसकी छत्र-छाया में आने के लिए अन्य दर्शन उत्पन्न हुए हैं। कुकुरमुत्तों की भाँति उनकी उत्पत्ति हुई है, आज वे जीवित हैं तथा लहलहा रहे हैं और कल वे विलुप्त हो गये हैं। क्या यह योग्यतम के ही जीवित बच रहने की बात नहीं है?

यह ऐसा दर्शन है, जो अभी पूर्ण नहीं है। हज़ारों वर्षों से वह विकसित हो रहा है और आज भी वर्द्धमान है। इसलिए एक घण्टे के थोड़े समय में मैं जो कुछ कहूँगा, उससे तुम्हारे समक्ष एक आभास मात्र ही प्रस्तुत कर सकता हूँ।

पहले मैं तुमको वेदान्त के उदय का इतिहास बताऊँगा। इसके उद्भव के पूर्व ही भारत ने एक धर्म को पूर्ण विकसित कर लिया था। उसके स्थिर होने की

प्रक्रिया बहुत वर्षों से चल रही थी। विधि-विधानपूर्ण संस्कार पहले से ही मनाये जाने लगे थे। आश्रम-धर्म की आचार-पद्धति परिपक्व हो चुकी थी। लेकिन कालान्तर में अनेक धर्मों में आडम्बरपूर्ण कर्मकाण्ड और हास्यास्पद कुरीतियाँ घुस ही जाती हैं। इनके विरुद्ध विद्रोह हुआ और महान् पुरुष वेदों के माध्यम से सत्य धर्म का उद्घोष करने के लिए आगे आये। हिन्दुओं ने इन्हीं वेदों के प्रकटीकरण से अपना धर्म पाया। उन्हें बताया गया कि वेद अनादि और अनन्त हैं। इस श्रोता-मण्डली को यह हास्यास्पद प्रतीत हो सकता है—एक ग्रंथ अनादि-अनन्त कैसे हो सकता है; किन्तु वेदों से आशय किन्हीं ग्रंथों का नहीं है। उनका अर्थ है आध्यात्मिक नियमों का संचित कोष, जिनकी खोज विभिन्न व्यक्तियों ने विभिन्न कालों में की।

जब तक इन पुरुषों का आविर्भाव नहीं हुआ था, तब तक लोगों में यह आम धारणा थी कि ईश्वर जगत् का शास्ता है और मनुष्य अमर है। लेकिन वहीं वे रुक गये। ऐसा समझा जाने लगा कि उससे और अधिक कुछ नहीं जाना जा सकता। तभी वेदान्त के साहसी व्याख्याकारों का आविर्भाव हुआ। वे जानते थे कि बच्चों के लिए जो धर्म अभिप्रेत है, वह विचारकों के लिए उपयोगी नहीं हो सकता और मनुष्य तथा ईश्वर के विषय में कुछ और भी सत्य हैं।

नैतिक अज्ञेयवादी केवल बाह्य निर्जीव प्रकृति को ही जानता है। उसीसे वह जगत् के नियम का निरूपण करने की चेष्टा करता है। उनकी चले तो वे मेरी नाक काट लें और कहें कि तुम्हारा पूरा शरीर बस यही है और उसीके समर्थन में बहस करें।

उसे अपने भीतर देखना चाहिए। आकाश में जो नक्षत्र विचरण करते हैं, यहाँ तक कि ब्रह्माण्ड भी, बाल्टी में एक बूंद के समान हैं। तुम्हारा अज्ञेयवादी उस महत्तम को तो देखता नहीं और जगत् को देखकर भयभीत हो जाता है।

यह अध्यात्म जगत् सबसे बढ़कर है। विश्वेश्वर जो शासन करता है—हमारा पिता, हमारी माता। संसार कहा जानेवाला यह अबोधों का कर्मकाण्ड है क्या ? सर्वत्र दुःख ही दुःख है। ओठोंपर क्रन्दन लेकर शिशु जन्म लेता है; वही उसका प्रथमोच्चार है। यही शिशु प्रौढ़ व्यक्ति बन जाता है और दुःखों का ऐसा अभ्यस्त हो जाता है कि हृदय की वेदना ओठों पर मुसकान से छिपी रहती है।

इस संसार का हल कहाँ है ? जिनकी दृष्टि बहिर्मुख है, वे उसे कभी नहीं पा सकते; उन्हें दृष्टि को अन्तर्मुख कर सत्य का पता लगाना चाहिए। धर्म का निवास अभ्यंतर में है।

एक व्यक्ति उपदेश देता है कि यदि तुम अपना सिर काट डालो, तो तुम्हारा उद्धार हो जायगा। पर क्या उसे कोई अनुयायी मिलता है ? स्वयं तुम्हारे ईसा

का कथन है, 'ग़रीबों को सब कुछ दे दो और मेरा अनुसरण करो।' तुम लोगों में से कितनों ने ऐसा किया है? तुमने इस आदेश का पालन नहीं किया है, फिर भी ईसा तुम्हारे धर्म के महान् गुरु हैं। तुममें से प्रत्येक अपने जीवन में व्यावहारिक हो, लेकिन यह तुमको अव्यावहारिक लगता है।

परन्तु वेदान्त तुम्हारे समक्ष कोई ऐसी वस्तु नहीं रखता, जो अव्यावहारिक हो। प्रयोग-कार्य के लिए प्रत्येक विज्ञान के पास अपनी सामग्री होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को कुछ विशेष परिस्थितियों और प्रचुर प्रशिक्षण तथा ज्ञानार्जन की आवश्यकता पड़ती है; किन्तु सड़क पर फिरनेवाला कोई जैक भी तुमको धर्म के बारे में सब कुछ बता सकता है। तुम धर्म का अनुसरण करना चाह सकते हो और किसी विशेषज्ञ का अनुसरण कर सकते हो, लेकिन जैक से केवल उस पर बातें ही कर सकते हो, क्योंकि वह इस पर सिर्फ़ बातें ही कर सकता है।

तुम जैसा विज्ञान के प्रति करते हो, वैसा ही तुमको धर्म के प्रति करना चाहिए। तथ्यों के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आओ, और उस नींव पर आश्चर्यजनक भवन का निर्माण कर डालो।

सच्चा धर्म पाने के लिए तुम्हारे पास साधन अवश्य होने चाहिए। विश्वास का प्रश्न नहीं उठता; श्रद्धा से तुम कुछ बना नहीं सकते, क्योंकि विश्वास तो तुम कुछ भी कर सकते हो।

विज्ञान में हम यह जानते हैं कि जब हम वेग बढ़ाते हैं, तब पदार्थ-पिंड घट जाता है, और ज्यों ज्यों पदार्थ-पिंड बढ़ाते हैं, त्यों त्यों वेग घटता जाता है। इस प्रकार हमारे पास दो वस्तुएँ हैं, पदार्थ और शक्ति। हमें मालूम नहीं कि पदार्थ कैसे शक्ति में विलीन हो जाता है और शक्ति पदार्थ में विलीन हो जाती है। इसलिए कोई एक ऐसी वस्तु है, जो न शक्ति है और न पदार्थ, क्योंकि ये दोनों एक दूसरे में विलीन हो नहीं सकते। यह वही है जिसे हम मन कहते हैं—विश्व-मन।

तुम कहते हो कि तुम्हारा शरीर और मेरा शरीर भिन्न भिन्न हैं। सार्वभौम मानव जातिरूपी महासागर में मैं एक लघु भँवर मात्र हूँ। सच है कि यह एक भँवर मात्र है, पर है उस बृहत् महासागर का ही एक भाग।

तुम ऐसे बहते जल के किनारे खड़े होते हो, जिसका प्रत्येक सीकर परिवर्तित हो रहा है और फिर भी उसे सरिता कहते हैं। जल बदल रहा है, यह सत्य है, लेकिन तट वे ही रहते हैं। मन नहीं बदल रहा है, परन्तु शरीर—कितने शीघ्र उसकी आकारवृद्धि! मैं शिशु था, किशोर था, तरुण हूँ और शीघ्र ही वृद्ध हो जाऊँगा, शरीर झुक जायगा और जराग्रस्त हो जाऊँगा। शरीर परिवर्तित हो रहा है और तुम पूछते हो कि क्या मन भी नहीं परिवर्तित हो रहा है? जब

मैं बालक था, तो सोचता था, मैं बृहत्तर हो गया हूँ, क्योंकि मेरा मन संस्कारों का समुद्र है।

प्रकृति के पीछे एक विश्व-मन है। जीवात्मा एक इकाई मात्र है और वह जड़ वस्तु नहीं है। क्योंकि मनुष्य जीवात्मा है। 'मृत्यु के उपरान्त आत्मा कहाँ जाती है?' इस प्रश्न का उत्तर वैसे ही देना चाहिए, जैसे जब कोई लड़का पूछता है, 'पृथ्वी नीचे क्यों नहीं गिर जाती?' प्रश्न एक जैसे हैं और उनके हल भी एक से, हैं; क्योंकि आत्मा जा कहाँ सकती है?

तुम जो अमरता की बात करते हो, तो मैं तुमसे कहूँगा कि जब घर जाओ तो यह कल्पना करने का प्रयत्न करो कि तुम मृत हो। द्रष्टा बनकर मृत शरीर का स्पर्श करो। तुम कर नहीं सकते, क्योंकि तुम अपने से बाहर नहीं निकल सकते। प्रश्न अमरत्व के विषय में नहीं है, बल्कि यह है कि मृत्यु के उपरान्त जैक अपनी जेनी से मिल सकता है या नहीं।

धर्म का एक भारी रहस्य यह स्वयं जानना है कि तुम आत्मा हो। यह प्रलाप मत करो, 'मैं कीट हूँ, अकिंचन हूँ!' कवि यों कहता है, 'मैं सत्ता हूँ, ज्ञान हूँ और सत्य हूँ।' कोई आदमी दुनिया में यह कहकर कुछ भला नहीं कर सकता, 'मैं उसके पापियों में से एक हूँ।' जितने ही अधिक तुम पूर्ण होगे, उतनी ही कम अपूर्णता देखोगे।

मनुष्य अपना भाग्य-विधाता

दक्षिण भारत में एक बहुत शक्तिशाली राजवंश था। समय समय पर जो प्रमुख व्यक्ति होते थे, उनकी जन्मकुंडलियों को, जिनकी गणना उनके जन्मकाल से की गयी होती थी, ले लेने का उन्होंने नियम बना दिया था। इस प्रकार भविष्य-वाणी की मुख्य मुख्य बातों का एक लेखा वे प्राप्त कर लेते थे और बाद में जो घट-नाएँ घटित होती थीं, उनसे उनका मिलान करते थे। सहस्र वर्ष पर्यन्त यह उस समय तक किया गया, जब उन्हें कतिपय सर्वसम्मत तथ्य मिल गये। फिर उन्हें नियमबद्ध किया गया और लिख लिया गया और एक बृहत् ग्रंथ रच डाला गया। राजवंश नष्ट हो गया, लेकिन ज्योतिषियों का कुल बना रहा और ग्रंथ उनके पास रहा। यह सम्भव प्रतीत होता है कि इस प्रकार से फलित ज्योतिष का आवि-र्भाव हुआ। फलित ज्योतिष की सूक्ष्म बातों में भी अत्यधिक ध्यान देना, उन अंध-विश्वासों में से एक है, जिससे हिन्दुओं को अत्यधिक क्षति पहुँची है।

मेरा ख़याल है कि सर्वप्रथम यूनानी भारत में फलित ज्योतिष लाये और उन्होंने हिन्दुओं से ज्योतिर्विज्ञान (गणित ज्योतिष) सीखा तथा उसे अपने साथ यूरोप ले गये। चूँकि भारत में तुमको प्राचीन यज्ञवेदियाँ ज्यामिति की कुछ विशेष आकृ-तियों के अनुसार मिलेंगी और कुछ कार्य नक्षत्रों की विशेष स्थिति में ही किये जाते थे, इसलिए मेरा ख़याल है कि यूनानियों ने हिन्दुओं को फलित ज्योतिष और हिन्दुओं ने यूनानियों को ज्योतिर्विज्ञान दिया।

मैंने कुछ ऐसे ज्योतिषियों को देखा है, जो आश्चर्यजनक भविष्यवाणियाँ करते हैं, लेकिन यह विश्वास करने के लिए मेरे पास कोई कारण नहीं है कि वे केवल ग्रहों के या वैसी किसी वस्तु के आधार पर भविष्यवाणी करते हैं। कुछ दृष्टांतों में तो भविष्यवाणी केवल दूसरे के मन के भावों को पढ़ लेना मात्र रहता है। कभी कभी आश्चर्यजनक भविष्यवाणियाँ की जाती हैं, परन्तु अनेक दृष्टांतों में ये बिल्कुल बेकार होती हैं।

लंदन में एक युवक मेरे पास आकर पूछा करता था, "अगले साल मेरी दशा कैसी होगी?" मैंने प्रश्न किया कि तुम मुझसे ऐसा क्यों पूछते हो। "मेरे सब पैसे नष्ट हो गये और मैं निर्धन हो गया हूँ।" पैसा ही बहुतेरे लोगों का एकमात्र ईश्वर होता है। निर्बल व्यक्ति, जब सब गँवाकर अपने को कमज़ोर महसूस करते हैं,

तब पैसे बनाने की बेसिर-पैर की तरक़ीबें अपनाते हैं और ज्योतिष एवं इन सब चीज़ों का सहारा लेते हैं। संस्कृत में कहावत है: 'जो कापुरुष और मूर्ख है, वह कहता है यह भाग्य है।' लेकिन वह बलवान पुरुष है, जो खड़ा हो जाता है और कहता है, 'मैं अपने भाग्य का निर्माण करूँगा।' जो लोग बूढ़े होने लगते हैं, वे भाग्य की बातें करते हैं। साधारणतः जवान आदमी ज्योतिष का सहारा नहीं लेते। हम लोग ग्रहों के प्रभाव में हो सकते हैं, लेकिन इसका हमारे लिए अधिक महत्त्व नहीं है। बुद्ध का कहना है, 'जो लोग नक्षत्रों की गणना या उस प्रकार की कला और अन्य मिथ्या-प्रपंचों से जीविकोपार्जन करते हैं, उन्हें दूर रखना चाहिए।' और उनको इसका यथार्थ ज्ञान होना ही चाहिए, क्योंकि आज तक जितने हिन्दू जन्मे हैं, उनमें वह सबसे महान् थे। नक्षत्रों को आने दो, हानि क्या है? यदि कोई नक्षत्र मेरे जीवन में उथल-पुथल करता है, तो उसका मूल्य एक कौड़ी भी नहीं है। तुम अनुभव करोगे कि ज्योतिष और ये सब रहस्यमयी वस्तुएँ बहुधा दुर्बल मन की द्योतक हैं; इसलिए जब हमारे मन में इनका उभार हो, तब हमें किसी डॉक्टर के यहाँ जाना चाहिए, उत्तम भोजन ग्रहण करना चाहिए और विश्राम करना चाहिए।

यदि किसी गोचर घटना की व्याख्या उसकी प्रकृति के ही घटकों से हो जाती है, तो बाहर से कोई व्याख्या ढूंढ़ना मूर्खता है। अगर संसार स्वयं ही अपनी व्याख्या कर दे, तो व्याख्या के लिए बाहर जाना मूर्खता है। क्या तुमने किसी मनुष्य के जीवन में कोई भी ऐसी घटना घटती देखी है, जिसकी व्याख्या स्वयं मनुष्य के सामर्थ्य के भीतर न हो? इसलिए ग्रह-नक्षत्रों या दुनिया की अन्य किसी वस्तु को टटोलने से क्या लाभ? मेरी वर्तमान अवस्था के स्पष्टीकरण के लिए मेरा निज का कर्म पर्याप्त है। साक्षात् ईसा पर भी यही लागू होता है। हम जानते हैं कि उनके पिता एक बढ़ई मात्र थे। उनकी शक्ति की व्याख्या कराने के लिए हमें दूसरे किसीके पास जाने की आवश्यकता नहीं है। वह अपने ही अतीत के परिणाम थे, और वह समग्र अतीत उस ईसा के लिए तैयारी था। बुद्ध एक एक कर पशु-योनियों के अपने पूर्व शरीरों का हाल बताते हैं और कहते हैं कि अन्त में वह कैसे बुद्ध बने। इसलिए व्याख्या के लिए ग्रह-नक्षत्रों के पास जाने की क्या आवश्यकता है? उनका कुछ प्रभाव हो सकता है, किन्तु उनकी उपेक्षा कर देना हमारा कर्तव्य है, न कि उनकी सुनना और अपने को उद्विग्न करना। मैं जो भी शिक्षा देता हूँ, उसके लिए यह मेरी पहली अनिवार्य शर्त है—जिस किसी वस्तु से आध्यात्मिक, मानसिक या शारीरिक दुर्बलता उत्पन्न हो, उसे पैर की अँगुलियों से भी मत छुओ। मनुष्य में जो स्वाभाविक बल है, उसकी अभिव्यक्ति धर्म है। असीम शक्ति का स्प्रिंग इस छोटी

सी काया में कुंडली मारे विद्यमान है और वह स्प्रिंग अपने को फैला रहा है। और ज्यों ज्यों यह फैलता है, त्यों त्यों एक के बाद दूसरा शरीर अपर्याप्त होता जाता है; वह उनका परित्याग कर उच्चतर शरीर धारण करता है। यही है मनुष्य का धर्म, सभ्यता या प्रगति का इतिहास। वह भीमकाय बद्धपाश प्रोमीथियस[1] अपने को बंधन-मुक्त कर रहा है। यह सदैव बल की अभिव्यक्ति है और फलित ज्योतिष जैसी समस्त कल्पनाओं को, यद्यपि उनमें सत्य का एक कण हो सकता है, दूर ही रखना चाहिए।

किसी ज्योतिषी के बारे में एक प्राचीन कथा है कि एक राजा के यहाँ जाकर उसने कहा, "छः महीने में आपकी मृत्यु हो जायगी।" राजा डरकर हतबुद्धि हो गया और भयवश वहीं तत्काल प्रायः मरणासन्न हो गया। किन्तु उसका मन्त्री चतुर व्यक्ति था। उसने राजा से कहा कि ये ज्योतिषी मूर्ख होते हैं। उस पर राजा का विश्वास नहीं जमा। इससे मंत्री को इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय न सूझा कि वह ज्योतिषी को राजप्रासाद में पुनः बुलाये और राजा को समझाये कि ये ज्योतिषी मूर्ख होते हैं। तब उसने उससे पूछा कि क्या तुम्हारी गणना सही है। ज्योतिषी ने कहा कि कोई ग़लती नहीं हो सकती। परन्तु मंत्री को संतुष्ट करने के लिए उसने पूरी गणना फिर से की और तब कहा कि वह बिल्कुल ठीक है। राजा का चेहरा फीका पड़ गया। मंत्री ने ज्योतिषी से पूछा, "और आपकी मृत्यु कब होगी, इसके बारे में आप क्या सोचते हैं?" "बारह वर्ष में", जवाब मिला। मंत्री ने तलवार खींच ली और ज्योतिषी का सिर धड़ से अलग कर दिया और राजा से कहा, "इस मिथ्यावादी को तो आप देख रहे हैं? यह इसी क्षण मर गया।"

यदि तुम अपने राष्ट्र को जीवित रखना चाहते हो, तो इन सब चीज़ों से दूर रहो। शुभ वस्तुओं की एक ही परख यह है कि वे हमें सबल बनाती हैं। शुभ जीवन है, अशुभ मृत्यु है। तुम्हारे देश में ये अंधविश्वास कुकुरमुत्तों की भाँति उग रहे हैं और जिन स्त्रियों में तार्किक विश्लेषण की योग्यता नहीं है, वे उन पर विश्वास करने के लिए उद्यत हैं। इसका कारण यह है कि स्त्रियाँ मुक्ति के लिए यत्नशील हैं और स्त्रियाँ अभी तक बौद्धिक स्तर पर अपने को प्रतिष्ठित नहीं कर पायी हैं। एक महिला किसी उपन्यास के सिरे पर अंकित किसी कविता की कुछ पंक्तियों को कंठस्थ कर लेती है और कहती है कि ब्राउनिंग के पूरे कृतित्व का उसे

---

१. प्रोमीथियस—यूनानियों का पौराणिक पुरुष विशेष, जिसने मृत्तिका से मनुष्य की रचना की, ओलिम्पस से चुरायी हुई अग्नि उन्हें दी, उन्हें कला आदि सिखायी और दण्ड रूप में जंजीर द्वारा एक चट्टान से बाँधा गया।

ज्ञान है। दूसरी महिला तीन व्याख्यानों को सुनती है और सोचती है कि दुनिया की सारी जानकारी उसको है। कठिनाई यह है कि महिलाओं में जो स्वाभाविक अंधविश्वास होते हैं, उनका परित्याग करने में वे असमर्थ हैं। उनके पास प्रचुर द्रव्य है और थोड़ी बौद्धिक विद्वत्ता भी, लेकिन जब वे इस संक्रमणकालीन अवस्था के पार हो जायँगी और दृढ़ भूमि पर पाँव जमा लेंगी, तब वे बिल्कुल ठीक हो जायँगी। किन्तु अभी वे धूर्तों द्वारा ठगी जा रही हैं। दुःखी न हो; किसीका जी दुःखाना मेरा अभिप्राय नहीं है, लेकिन सत्य मुझे कहना है। क्या तुम देखते नहीं, इन सब वस्तुओं के लिए तुम कितने खुले हो? क्या तुम देखते नहीं कि ये महिलाएँ कितनी निश्छल हैं, और वह दिव्यता, जो सबमें गुप्त रूप से विद्यमान है, कभी नष्ट नहीं होती? केवल यही जानना है कि उस दिव्यता के प्रति आवेदन किस प्रकार किया जाय।

मेरे जीवन की अवधि जितनी अधिक होती जाती है, दिनानुदिन उतना ही मेरा यह विश्वास दृढ़तर होता जा रहा है कि प्रत्येक मानव दिव्य है। किसी भी स्त्री या पुरुष में, चाहे वह कितना भी जघन्य क्यों न हो, वह दिव्यता विनष्ट नहीं होती। उस स्त्री या पुरुष को केवल इतना ही नहीं मालूम है कि वहाँ तक कैसे पहुँचा जाय और वह सत्य की प्रतीक्षा में है। और दुष्ट जन सब प्रकार की बेवकूफ़ियों से उस स्त्री या पुरुष को ठगने की कोशिश कर रहे हैं। यदि पैसे के लिए एक आदमी दूसरे को ठगता है तो तुम कहते हो कि वह बेवकूफ़ और बदमाश है। तो वह जो दूसरों को आध्यात्मिक मूर्ख बनाना चाहता है, उसकी यह कितनी और अधिक बड़ी दुष्टता है! यह बहुत बुरा है। केवल एक ही कसौटी है, सत्य तुमको अवश्य बलवान बनायेगा और कुसंस्कार से ऊपर उठायेगा। दार्शनिक का कर्तव्य है कि वह तुमको अंधविश्वास से ऊपर उठाये। यहाँ तक कि यह संसार, यह शरीर और मन अंधविश्वास हैं। तुम हो कितनी असीम आत्मा! और टिमटिमाते हुए तारों से छले जाना! यह लज्जास्पद दशा है। तुम दिव्य हो; टिमटिमाते हुए तारों का अस्तित्व तो तुम्हारे कारण है।

एक बार मैं हिमालय के अंचल में यात्रा कर रहा था और सामने लम्बी सड़क का विस्तार था। हम ग़रीब साधुओं को कोई ढोनेवाला नहीं मिल सकता था, इसलिए पूरा मार्ग पैदल चलकर पार करना था। हम लोगों के साथ एक वृद्ध था। रास्ता सैकड़ों मील का है, जिसमें चढ़ाव और उतार है और जब उस वृद्ध साधु ने देखा कि उसके सामने क्या है, तब उसने कहा, "ओह, महाशय, इसे कैसे पार किया जाय, मैं अब ज़रा भी नहीं चल सकता, मेरी छाती फट जायगी।" मैंने उससे कहा, "नीचे अपने पाँवों को देखिए।" उसने ऐसा ही किया, और मैंने कहा,

"आपके पाँवों के नीचे जो सड़क है, उसे आप पार कर चुके हैं और आपके सामने जो सड़क दिखायी पड़ रही है वह भी वही है; और वह भी शीघ्र आपके पावों के नीचे आ जायगी।" उच्चतम वस्तुएँ तुम्हारे पाँवों के तले हैं, क्योंकि तुम दिव्य नक्षत्र हो। यदि तुम चाहो तो मुट्ठियों नक्षत्र चबा सकते हो। ऐसा है तुम्हारा वास्तविक स्वरूप। बलवान बनो, सब अंधविश्वासों से ऊपर उठो और मुक्त हो जाओ।

वेदान्त दर्शन और ईसाई मत

(२८ फ़रवरी, १९०० को यूनिटैरियन चर्च, ओकलैंड, कैलिफ़ोर्निया में दिये गये व्याख्यान का लिखित विवरण)

विश्व के सभी महान् धर्मों में कई बातों में समानता होती है और कहीं कहीं तो समानता इतनी विस्मयकारी होती है कि मन में भाव उठता है कि बहुत सी बातों में एक धर्म ने दूसरे की नक़ल की है।

विभिन्न धर्मों पर यह आरोप लगाया गया है कि उन्होंने दूसरों का अनुकरण किया है, किन्तु निम्नलिखित तथ्यों से इस आरोप की निस्सारता स्पष्ट हो जाती है—

धर्म मानवता की आत्मा में ही आधारभूत रूप में है और चूंकि जो भीतर है, समस्त जीवन उसीका विकास है, इसलिए विभिन्न जातियों और राष्ट्रों के माध्यम से धर्म अपने को अनिवार्यतः प्रकट करता है।

आत्मा की भाषा एक है, राष्ट्रों की भाषाएँ अनेक हैं, उनके रीति-रिवाज़ और जीवन-प्रणाली एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। धर्म आत्मा की वस्तु है और वह विभिन्न राष्ट्रों, भाषाओं तथा रीति-रिवाज़ों के माध्यम से अपने को प्रकट करता है। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि विश्व के धर्मों में अंतर अभिव्यंजना का है, तत्त्व का नहीं, और उनमें जो समानता तथा एकरूपता है, वह आत्मा की है और उसमें अंतर्निहित है, क्योंकि आत्मा की भाषा, चाहे जिन राष्ट्रों तथा चाहे जिन परिस्थितियों में अपने को अभिव्यक्त करे, एक है। अनेक तथा विभिन्न प्रकार के वाद्ययन्त्रों से जो एक ही मधुर झंकार सुनायी पड़ती है, वही वहाँ भी झंकृत होती है।

विश्व के सभी महान् धर्मों की प्रथम समानता यह है कि सबका एक एक प्रामाणिक ग्रंथ है। जिन धर्मों के पास ऐसा कोई ग्रंथ नहीं रहा, वे लुप्त हो गये। मिस्र के धर्मों की यही गति हुई। इसे हम यों कह सकते हैं कि प्रत्येक महान् धर्म का प्रामाणिक ग्रंथ अग्निकुंड का वह पत्थर है, जिसके चतुर्दिक् उस धर्म के अनुयायी एकत्र होते हैं और उससे उक्त धर्म की शक्ति एवं संजीवनी विकीर्ण होती है।

फिर, प्रत्येक धर्म का दावा है कि उसका अपना ग्रन्थ ही प्रामाणिक ब्रह्मवाक्य है; अन्य सब धर्मग्रंथ झूठे हैं और दीन-हीन मानव के विश्वास पर जबरदस्ती थोपे गये हैं, तथा अन्य धर्म को मानना अज्ञानता एवं आध्यात्मिक अंधता है।

सभी धर्मों के कट्टरपंथियों में इस प्रकार की धर्मान्धिता पायी जाती है। उदाहरणार्थ, कट्टर वैदिकमार्गियों का दावा है कि वेद ही ईश्वर का प्रामाणिक वचन है; ईश्वर ने वेदों के द्वारा ही विश्व को उपदेश दिया है; इतना ही नहीं, वरन् वेदों के ही प्रताप से यह लोक टिका है। विश्व की सृष्टि के पूर्व वेद थे। विश्व में सबका अस्तित्व इसलिए है कि वेदों में उनकी विद्यमानता है। गाय का अस्तित्व इसलिए है कि वेदों में गाय का नाम आया है, अर्थात् जिस पशु को हम गाय नाम से जानते हैं, उसका उल्लेख वेदों में है। वैदिक भाषा ईश्वर की आदि भाषा है; अन्य सभी भाषाएँ केवल बोलियाँ हैं और वे ईश्वरीय नहीं हैं। वेदों के प्रत्येक शब्द और मात्रा का उच्चारण सही सही करना चाहिए, प्रत्येक ध्वनि का स्वर ठीक होना चाहिए तथा इस कठोर शुद्धता का किंचित् भी स्खलन भयानक पाप है और अक्षम्य है।

इस प्रकार, ऐसी धर्मान्धिता सभी धर्मों के कठमुल्लों में प्रबल रूप से व्याप्त है। लेकिन जो अनभिज्ञ हैं, जो आध्यात्मिक अंधे हैं, वे ही शब्दों के पीछे लड़ते हैं। जो लोग वास्तव में धार्मिक प्रवृत्ति के हो गये हैं, वे विभिन्न धर्मों के बाह्य शाब्दिक स्वरूप पर झगड़ा नहीं करते। वे जानते हैं कि सब धर्मों का प्राण एक ही है। परिणामस्वरूप, वे किसीसे इस कारण झगड़ा नहीं करते कि वह उनकी भाषा नहीं बोलता।

वस्तुतः वेद विश्व के सबसे प्राचीन धर्मग्रंथ हैं। कोई नहीं जानता कि वे कब लिखे गये और किसके द्वारा लिखे गये। वे कई खंडों में हैं और मुझे संदेह है कि कभी किसी एक व्यक्ति ने सभी वेदों को पढ़ा हो।

वैदिक धर्म हिन्दुओं का धर्म है और समस्त प्राच्य धर्मों का वह आधार है, अर्थात् सभी प्राच्य धर्म वेदों की शाखाएँ हैं; पूर्व के सभी धार्मिक वेदों को प्रमाण मानते हैं।

ईसा मसीह की वाणी में आस्था रखना और साथ ही यह मानना कि उनकी वाणी का अधिकांश आज के युग में व्यवहार में नहीं लाया जा सकता, युक्तिसंगत नहीं है। यदि तुम यह कहो कि जो उनके वचनों में आस्था रखते हैं, उनको सिद्धियाँ न मिल पाने का (जब कि ईसा ने कहा था कि वे मिलेंगी) कारण यह है कि उनमें पर्याप्त निष्ठा नहीं है और वे पर्याप्त पवित्र नहीं हैं—तो यह ठीक होगा। लेकिन यह कथन हास्यास्पद है कि वर्तमान काल में वे अव्यवहार्य हैं।

मैंने ऐसा आदमी कभी नहीं देखा है, जो कम से कम मेरी बराबरी का न रहा हो। मैंने दुनिया भर की यात्रा की है; बुरे से बुरे लोगों के बीच गया हूँ—नर-भक्षियों के बीच भी—लेकिन मुझे कोई ऐसा आदमी नहीं दिखायी पड़ा, जो कम से कम मेरी बराबरी का न रहा हो। वे जो आज कर रहे हैं, वह मैं कर चुका हूँ—जब मैं मूर्ख था। उस समय मुझे उसकी अपेक्षा अधिक अच्छे का ज्ञान नहीं था, परन्तु अब है। इस समय उन्हें उससे अधिक अच्छे का ज्ञान नहीं है, कुछ समय बाद उन्हें हो जायगा। प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वभाव के अनुसार कार्य करता है। हम सभी विकास की प्रक्रिया के मध्य हैं। इस दृष्टि से एक आदमी दूसरे की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ नहीं है।

प्रकृति और मानव

आजकल के लोगों की धारणा है कि प्रकृति के अन्तर्गत जगत् का केवल वही भाग आता है, जो भौतिक स्तर पर अभिव्यक्त है। साधारणतः जिसे मन समझा जाता है, उसे प्रकृति के अन्तर्गत नहीं मानते।

इच्छा की स्वतन्त्रता सिद्ध करने के प्रयास में दार्शनिकों ने मन को प्रकृति से बाहर माना है। क्योंकि जब प्रकृति कठोर और दृढ़ नियम से बंधी और शासित है, तब मन को यदि प्रकृति के अन्तर्गत माना जाय, तो वह भी नियमों में बंधा होना चाहिए। इस प्रकार के दावे से इच्छा की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त ध्वस्त हो जाता है, क्योंकि जो नियम में बंधा है, वह स्वतन्त्र कैसे हो सकता है ?

भारतीय दार्शनिकों का मत इसके विपरीत है। उनका मत है कि सभी भौतिक जीवन, चाहे वह व्यक्त हो अथवा अव्यक्त, नियम से आबद्ध है। उनका दावा है कि मन तथा बाह्य प्रकृति दोनों नियम से, एक तथा समान नियम से आबद्ध हैं। यदि मन नियम के बंधन में नहीं है, हम जो विचार करते हैं, वे यदि पूर्व विचारों के परिणाम नहीं हैं, यदि एक मानसिक अवस्था दूसरी पूर्वावस्था के परिणामस्वरूप उसके बाद ही नहीं आती, तब मन तर्कशून्य होगा, और तब कौन कह सकेगा कि इच्छा स्वतन्त्र है और साथ ही तर्क या बुद्धिसंगतता के व्यापार को अस्वीकार करेगा ? और दूसरी ओर, कौन मान सकता है कि मन कारणता के नियम से शासित होता है और साथ ही दावा कर सकता है कि इच्छा स्वतन्त्र है ?

नियम स्वयं कार्य-कारण का व्यापार है। कुछ पूर्व घटित कार्यों के अनुसार कुछ परवर्ती कार्य होते हैं। प्रत्येक पूर्ववर्ती का अपना अनुवर्ती होता है। प्रकृति में ऐसा ही होता है। यदि नियम की यह क्रिया मन में होती है, तो मन आबद्ध है और इसलिए वह स्वतन्त्र नहीं है। नहीं, इच्छा स्वतन्त्र नहीं है। हो भी कैसे सकती है ? किंतु हम सभी जानते हैं, हम सभी अनुभव करते हैं कि हम स्वतन्त्र हैं। यदि हम मुक्त न हों, तो जीवन का कोई अर्थ ही नहीं रह जायगा और न वह जीने लायक़ ही होगा।

प्राच्य दार्शनिकों ने इस मत को स्वीकार किया, अथवा यों कहो कि इसका प्रतिपादन किया कि मन तथा इच्छा देश, काल एवं निमित्त के अन्तर्गत ठीक उसी प्रकार हैं, जैसे तथाकथित जड़ पदार्थ हैं। अतएव, वे कारणता के नियम में आबद्ध

हैं। हम काल में सोचते हैं, हमारे विचार काल में आबद्ध हैं; जो कुछ है, उन सबका अस्तित्व देश और काल में है। सब कुछ कारणता के नियम से आबद्ध है।

इस तरह जिन्हें हम जड़ पदार्थ और मन कहते हैं, वे दोनों एक ही वस्तु हैं। अन्तर केवल स्पंदन की मात्रा में है। अत्यल्प गति से स्पंदनशील मन को जड़ पदार्थ के रूप में जाना जाता है। जड़ पदार्थ में जब स्पंदन की मात्रा का क्रम अधिक होता है, तो उसे मन के रूप में जाना जाता है। दोनों एक ही वस्तु हैं, और इसलिए जब जड़ पदार्थ देश, काल तथा निमित्त के बंधन में है, तब मन भी जो उच्च स्पंदनशील जड़ वस्तु है, उसी नियम में आबद्ध है।

प्रकृति एकरस है। विविधता अभिव्यक्ति में है। 'नेचर' के लिए संस्कृत शब्द है प्रकृति, जिसका व्युत्पत्त्यात्मक अर्थ है विभेद। सब कुछ एक ही तत्त्व है, लेकिन वह विविध रूपों में अभिव्यक्त हुआ है।

मन जड़ पदार्थ बन जाता है और फिर क्रमानुसार जड़ पदार्थ मन बन जाता है। यह केवल स्पंदन की बात है।

इसपात का एक छड़ लो और उसे इतनी पर्याप्त शक्ति से आघात करो, जिससे उसमें कम्पन आरम्भ हो जाय। तब क्या घटित होगा? यदि ऐसा किसी अंधेरे कमरे में किया जाय तो जिस पहली चीज़ का तुमको अनुभव होगा, वह होगी ध्वनि, भनभनाहट की ध्वनि। शक्ति की मात्रा बढ़ा दो, तो इसपात का छड़ प्रकाशमान हो उठेगा तथा उसे और अधिक बढ़ाओ, तो इसपात बिल्कुल लुप्त हो जायगा। वह मन बन जायगा।

एक अन्य दृष्टान्त लो—यदि मैं दस दिनों तक निराहार रहूँ, तो मैं सोच न सकूँगा। मन में भूले-भटके, इने-गिने विचार आ जायँगे। मैं बहुत अशक्त हो जाऊँगा और शायद अपना नाम भी न जान सकूँगा। तब मैं थोड़ी रोटी खा लूँ, तो कुछ ही क्षणों में सोचने लगूँगा। मेरी मन की शक्ति लौट आयेगी। रोटी मन बन गयी। इसी प्रकार मन अपने स्पंदन की मात्रा कम कर देता है और शरीर में अपने को अभिव्यक्त करता है, तो जड़ पदार्थ बन जाता है।

इनमें पहले कौन हुआ—जड़ वस्तु या मन, इसे मैं सोदाहरण बताता हूँ। एक मुरग़ी अंडा देती है। अंडे से एक और मुरग़ी पैदा होती है और फिर इस क्रम की अनन्त शृंखला बन जाती है। अब प्रश्न उठता है कि पहले कौन हुआ, अंडा या मुरग़ी? तुम किसी ऐसे अंडे की कल्पना नहीं कर सकते, जिसे किसी मुरग़ी ने न दिया हो और न किसी मुरग़ी की कल्पना कर सकते हो, जो अंडे से न पैदा हुई हो। कौन पहले हुआ, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। क़रीब क़रीब हमारे सभी विचार मुरग़ी और अंडे के गोरखधंधे जैसे हैं।

अत्यन्त सरल होने के कारण महान् से महान् सत्य विस्मृत हो गये। महान् सत्य इसलिए सरल होते हैं कि उनकी सार्वभौमिक उपयोगिता होती है। सत्य स्वयं सदैव सरल होता है। जटिलता मनुष्य के अज्ञान से उत्पन्न होती है।

मनुष्य में स्वतन्त्र कर्ता मन नहीं है, क्योंकि वह तो आबद्ध है। वहाँ स्वतन्त्रता नहीं है। मनुष्य मन नहीं है, वह आत्मा है। आत्मा नित्य मुक्त, असीम और शाश्वत है। मनुष्य की मुक्ति इसी आत्मा में है। आत्मा नित्य मुक्त है, किन्तु मन अपनी ही क्षणिक तरंगों से तद्रूपता स्थापित कर आत्मा को अपने से ओझल कर देता है और देश, काल तथा निमित्त की भूलभुलैया—माया में खो जाता है।

हमारे बंधन का कारण यही है। हम लोग सदा मन से तथा मन के क्रियात्मक परिवर्तनों से अपना तादात्म्य कर लेते हैं।

मनुष्य का स्वतन्त्र कर्तृत्व आत्मा में प्रतिष्ठित है और मन के बंधन के बावजूद आत्मा अपनी मुक्ति को समझते हुए बराबर इस तथ्य पर बल देती रहती है, 'मैं मुक्त हूँ! मैं हूँ, जो मैं हूँ! मैं हूँ, जो मैं हूँ!' यह हमारी मुक्ति है। आत्मा—नित्य मुक्त, असीम और शाश्वत—युग युग से अपने उपकरण मन के माध्यम से अपने को अधिकाधिक अभिव्यक्त करती आयी है।

तब प्रकृति से मानव का क्या सम्बन्ध है? निकृष्टतम प्राणियों से लेकर मनुष्यपर्यन्त आत्मा प्रकृति के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करती है। व्यक्त जीवन के निकृष्टतम रूप में भी आत्मा की उच्चतम अभिव्यक्ति अंतर्भूत है और विकास कही जानेवाली प्रक्रिया के माध्यम से वह बाहर प्रकट होने का उद्योग कर रही है।

विकास की सभी प्रक्रिया अपने को अभिव्यक्त करने के निमित्त आत्मा का संघर्ष है। प्रकृति के विरुद्ध यह निरंतर चलते रहनेवाला संघर्ष है। मनुष्य आज जैसा है, वह प्रकृति से अपनी तद्रूपता का नहीं, वरन् उससे अपने संघर्ष का परिणाम है। हम यह बहुत सुनते हैं कि हमें प्रकृति के साथ सामंजस्य करके और उससे समस्वरित होकर रहना चाहिए। यह भूल है। यह मेज़, यह घड़ा, खनिज पदार्थ, वृक्ष सभी का प्रकृति से सामंजस्य है। पूरा सामजस्य है, कोई वैषम्य नहीं। प्रकृति से सामंजस्य का अर्थ है गतिरोध, मृत्यु। आदमी ने यह घर कैसे बनाया? प्रकृति से समन्वित होकर? नहीं। प्रकृति से लड़कर बनाया। मानवीय प्रगति प्रकृति के साथ सतत संघर्ष से निर्मित हुई है, उसके अनुसरण द्वारा नहीं।

नियम और मुक्ति

मुक्त पुरुष के लिए संघर्ष का कोई अर्थ नहीं। किन्तु हमारे लिए उसका अर्थ है, क्योंकि नाम-रूप ही जगत् की सृष्टि करता है।

वेदान्त में संघर्ष के लिए स्थान है, पर भय के लिए नहीं। जब तुम अपने वास्तविक स्वरूप को जान लोगे, तब सब भय दूर हो जायगा। यदि तुम अपने को बद्ध सोचो तो बद्ध ही बने रहोगे; और यदि तुम अपने को मुक्त सोचो, तो मुक्त हो जाओगे।

प्रपंचमय जगत् में हम जिस स्वतंत्रता का अनुभव कर सकते हैं, वह सच्ची स्वतंत्रता की झलक मात्र है, सच्ची स्वतंत्रता नहीं।

मैं इससे सहमत नहीं कि 'प्रकृति के नियमों का आज्ञापालन स्वतंत्रता है।' मैं नहीं जानता कि इस कथन का तात्पर्य क्या है। यदि हम मानव जाति की उन्नति के इतिहास का अध्ययन करें, तो मालूम हो जायगा कि वह प्रकृति के नियमों का उल्लंघन ही है, जो उस उन्नति का कारण है। यह कहा जा सकता है कि निम्नतर नियमों पर उच्चतर नियमों द्वारा विजय प्राप्त की गयी। पर वहाँ भी, विजयेच्छु मन केवल मुक्त होने का ही प्रयत्न कर रहा था; और ज्यों ही उसे ज्ञात हुआ कि संघर्ष भी नियम ही के अन्तर्गत है, उसने उसे भी जीतने का प्रयत्न किया। अतः प्रत्येक दशा में मुक्ति ही अभीष्ट थी—आदर्श थी। वृक्ष कभी भी नियम का उल्लंघन नहीं करते। मैंने गाय को चोरी करते कभी नहीं देखा, घोंघे को झूठ बोलते कभी नहीं सुना। किन्तु तो भी वे मानव से बढ़कर नहीं हैं। यह जीवन मानो मुक्ति की—स्वतंत्रता की—एक महान् घोषणा है। यदि नियमों की आज्ञानुवर्तिता पर्याप्त मात्रा में की जाय, तो वह हमें केवल जड़ बना देगी, निर्जीव कर देगी—वह चाहे समाज के क्षेत्र में हो, राजनीति के या धर्म के। बहुत से नियमों का होना मृत्यु का निश्चित लक्षण है। किसी समाज में यदि नियमों की संख्या आवश्यकता से अधिक बढ़ जाय, तो वह उसके शीघ्र विनाश का निश्चित चिह्न है। यदि तुम भारत की विशेषताओं का अध्ययन करो, तो देखोगे कि हिन्दुओं के समान किसी भी जाति में इतने अधिक नियम नहीं हैं, और इसका परिणाम हुआ है राष्ट्रीय मृत्यु। पर हिन्दुओं में एक विशेष बात रही है—उन्होंने धर्म के क्षेत्र में लोगों को किसी विशेष मत या सिद्धान्त में जकड़ने की चेष्टा नहीं की; और इसीलिए उनके धर्म का

सबसे अधिक विकास हुआ है। शाश्वत नियम स्वतंत्रता नहीं हो सकता, क्योंकि यह कहना कि शाश्वत भी नियम के अन्तर्गत है, उसे अशाश्वत—सीमित—बना देना है।

सृष्टि-कार्य में ईश्वर का कोई हेतु नहीं है, क्योंकि यदि हो तो उसमें और मनुष्य में फिर अन्तर ही क्या रहा ? उसे किसी हेतु की आवश्यकता ही क्या ? यदि होती, तो वह उससे बद्ध हो जाता; और तब तो हमें उसके अतिरिक्त उससे भी बड़ी कोई वस्तु माननी पड़ती। उदाहरणार्थ, गलीचा बुननेवाला एक गलीचा तैयार करता है। गलीचा बुनने का जो विचार था, वह उसके बाहर और उससे अधिक ऊँचा था। पर अब यह बताओ कि ऐसा विचार कहाँ है, जिसका कि ईश्वर अनुसरण करे? जिस प्रकार एक महान् सम्राट् भी कभी कभी गुड़ियों से खेल लेता है, उसी प्रकार ईश्वर भी इस प्रकृति के साथ खेल कर रहा है। इसे ही हम नियम कहते हैं। क्यों? इसलिए कि हम इस खेल के निर्विघ्न घटित होनेवाले केवल छोटे छोटे अंशों को ही देख सकते हैं। नियम की हमारी समस्त धारणाएँ एक छोटे से अंश में ही प्रतिबद्ध हैं। यह कहना बुद्धिहीनता है कि नियम अनन्त है, या सदैव पत्थर नीचे की ही ओर गिरता रहेगा। यदि तर्क-बुद्धि का आधार अनुभव हो, तो पचास लाख वर्ष पहले यह देखने के लिए कौन था कि पत्थर गिरते हैं या नहीं ? अतएव, नियम मनुष्य में स्वभावसिद्ध नहीं है। मनुष्य के सम्बन्ध में यह एक विज्ञानसिद्ध बात है कि हम जहाँ से प्रारम्भ करते हैं, वहीं समाप्त भी होते हैं। वास्तव में, हम क्रमशः नियम के बाहर होते जाते हैं और अन्त में हम उससे पूर्णतया मुक्त हो जाते हैं, पर हमें पूरे जीवन के अनुभव भी साथ ही मिल जाते हैं। हमारा प्रारम्भ परमात्मा और मुक्ति से होता है, और लय भी इन्हीं में होगा। ये नियम बीच की स्थिति के ही लिए हैं, जहाँ से होकर हमें मार्ग तय करना है। हमारा वेदान्त सदैव मुक्ति की ही घोषणा करता है। नियम का विचार मात्र ही वेदान्ती को डरा देता है; और शाश्वत नियम तो उसके लिए एक बड़ी ही भयानक बात है, क्योंकि यदि नियम शाश्वत हो, तो उससे छुटकारे की सम्भावना ही नहीं। यदि उसे चिरकाल के लिए बन्धन में जकड़ देनेवाला कोई शाश्वत नियम हो, तो फिर उसमें और एक तृण में अन्तर ही क्या रहा? हम नियम के इस अमूर्त विचार में विश्वास नहीं करते।

हम कहते हैं कि हमें मुक्ति की ही खोज करनी है, और वह मुक्ति है परमात्मा। यह वही आनन्द है, जो हर वस्तु में निहित है; किन्तु जब मनुष्य उसे किसी ससीम वस्तु में ढूंढ़ता है, तो उसका कण मात्र पाता है। चोर को चोरी करने में वही आनन्द मिलता है, जो भक्त को भगवान् में; किन्तु चोर उस आनन्द का केवल कण मात्र पाता है और साथ ही दुःख का ढेर भी। यथार्थ आनन्द परमात्मा है। ईश्वर

आनन्दस्वरूप है, प्रेमस्वरूप है, मुक्तिस्वरूप है; और जो कुछ भी बन्धनकारक है, वह ईश्वर नहीं है।

मनुष्य तो मुक्त ही है, किन्तु उसे इस सत्य को खोजना पड़ेगा। वह प्रति क्षण इसे भूल जाता है। जाने या विना जाने अपने इस मुक्तस्वरूप को पहचान लेना—यही प्रत्येक मानव का सम्पूर्ण जीवन है। ज्ञानी और अज्ञानी में भेद यही है कि ज्ञानी इसको जान-बूझकर करता है और अज्ञानी विना जाने। अणु से लेकर नक्षत्र तक—सभी मुक्त होने का ही प्रयत्न कर रहे हैं। अज्ञानी पुरुष एक छोटी सी परिधि में स्वतंत्र होने से ही—भूख-प्यास के वन्धनों से मुक्त होने से ही—सन्तुष्ट हो जाता है। किन्तु ज्ञानी अनुभव करता है कि इनसे भी दृढ़तर बन्धन हैं, जिन्हें छिन्न करना है। वह रेड इंडियनों[1] की स्वतंत्रता को स्वतंत्रता समझेगा ही नहीं।

हमारे दार्शनिकों के मतानुसार, मुक्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है। ज्ञान लक्ष्य नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान एक मिश्रण या यौगिक पदार्थ है। वह शक्ति और स्वतंत्रता—इन दोनों का योग है, पर अभीष्ट केवल स्वतंत्रता ही है। मनुष्य इसीके लिए प्रयत्न करता है। केवल शक्ति का होना ही ज्ञान नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ, वैज्ञानिक विद्युत्-शक्ति के धक्के को कुछ मीलों तक ही भेज सकता है, परन्तु प्रकृति तो उसे अपरिमित दूरी तक भेज सकती है। तो फिर, प्रकृति की मूर्ति स्थापित कर हम उसकी पूजा क्यों नहीं करते? हम नियम नहीं चाहते, हम चाहते हैं नियम को तोड़ने का सामर्थ्य। हम नियमों से बाहर चले जाना चाहते हैं। यदि तुम नियमों से बँधे हो, तो मिट्टी के ढेले की भाँति निर्जीव हो। प्रश्न यह नहीं है कि तुम नियमातीत हो या नहीं; किन्तु यह धारणा कि हम नियमातीत हैं, समस्त मानव इतिहास की आधारशिला है। उदाहरणार्थ, कोई मनुष्य जंगल में रहता है, उसकी न कोई शिक्षा हुई है और न उसे कुछ ज्ञान है। वह एक पत्थर के गिरने की प्राकृतिक घटना को देखता है, और समझता है कि यह स्वतंत्रता है। वह समझता है कि पत्थर में जीव या आत्मा है, और इसका केन्द्रीय भाव है स्वतंत्रता। पर ज्यों ही उसे पता लगता है कि पत्थर का गिरना उसके वश की बात न होकर अवश्यम्भावी है, त्यों ही वह उसे प्राकृतिक व्यापार—निर्जीव यान्त्रिक कार्य—कहने लगता है। मैं चाहूँ तो सड़क पर जाऊँ या न जाऊँ—यह मेरे मन की बात है। मनुष्य होने के नाते मेरी यही महानता है। पर यदि यह बात हो कि मुझे वहाँ जाना ही पड़े, तो मैं अपनी स्वतंत्रता खो बैठता हूँ और एक यंत्र सा बन जाता हूँ। अनन्त

---

१. अमेरिका की एक आदिवासी जाति।

शक्ति सम्पन्न होते हुए भी प्रकृति केवल एक यंत्र ही है। एकमात्र स्वतंत्रता ही—मुक्ति ही—चेतन जीवन का सार है।

वेदान्त कहता है कि जंगल में रहनेवाले उस मनुष्य का विचार ठीक है; उसकी सूझ ठीक है, यद्यपि उसकी व्याख्या ठीक नहीं। वह प्रकृति को स्वतंत्रता के रूप में देखता है, नियमवद्ध नहीं। हम भी इन सब मानवी अनुभवों के पश्चात् वैसा ही सोचने लगेंगे, पर एक अधिक दार्शनिक अर्थ में। उदाहरणार्थ, मैं सड़क पर जाना चाहता हूँ। मुझे अपनी इच्छा-शक्ति से प्रेरणा मिलती है, और मैं रुक जाता हूँ। अब, सड़क पर जाने की इच्छा और वहाँ पहुँचने के बीच की अवधि में मैं एक समरूपता से कार्य कर रहा हूँ। व्यापार (कार्य) की समरूपता को ही नियम कहा जाता है। मैं देखता हूँ कि मेरे व्यापारों की यह एकरूपता समय के अत्यन्त छोटे छोटे टुकड़ों में बँटी हुई है, और इसलिए मैं अपने कार्यों को नियमाधीन नहीं कहता। मुझे प्रतीत होता है कि मैं स्वतंत्र रूप से कार्य करता हूँ। मैं पाँच मिनट तक चलता हूँ; किन्तु उस पाँच मिनट चलने के कार्य के पहले—जो कि एकरूप व्यापार है—इच्छा-शक्ति का व्यापार हुआ था, जिसने मुझे चलने की प्रेरणा दी। यही कारण है कि मनुष्य अपने को मुक्त समझता है, क्योंकि उसके सभी कार्य समय के छोटे छोटे टुकड़ों में विभक्त किये जा सकते हैं; और यद्यपि इन छोटे छोटे टुकड़ों में से प्रत्येक के भीतर समरूपता है, उसके बाहर वह समरूपता नहीं। इस असमरूपता के अनुभव में ही स्वतंत्रता का भाव निहित है। प्रकृति में हम एक समान रूप से घटनेवाले कार्यों के अति दीर्घ खंडों को देखते हैं; पर इन खंडों में से भी प्रत्येक के आरम्भ और अन्त में स्वतंत्र प्रेरणाएँ अवश्य होनी चाहिए। यह स्वतंत्र प्रेरणा प्रारम्भ में ही दी गयी, और तब से वह कार्य करती रही है; पर ये समय-खंड हमारे समय-खंडों से कहीं अधिक दीर्घ होते हैं। दार्शनिक रूप से विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि हम स्वतंत्र नहीं हैं। फिर भी, हमारे भीतर यह भाव बना ही रहता है कि हम स्वतंत्र हैं—मुक्त हैं। अब हमें यह समझाना है कि यह भाव आता कैसे है। हम देखते हैं कि हममें ये दो प्रेरणाएँ हैं। हमारी बुद्धि बतलाती है कि हमारे प्रत्येक कार्य का कुछ कारण होता है, और साथ ही साथ, प्रत्येक मनःस्पन्दन के साथ हम अपने स्वतंत्र स्वभाव की घोषणा भी कर रहे हैं। इस पर वेदान्त का समाधान यह है कि अन्दर तो स्वतंत्रता है—आत्मा वास्तव में मुक्त है—पर इस आत्मा के कार्य शरीर और मन के द्वारा होते हैं, जो स्वतंत्र नहीं हैं।

ज्यों ही हम प्रतिक्रिया करते हैं, हम दास बन जाते हैं। कोई व्यक्ति मुझे दोष देता है, तो मैं तुरन्त क्रोध के रूप में प्रतिक्रिया करता हूँ। यह जो थोड़ी सी उत्तेजना उसने मुझमें उत्पन्न कर दी, मुझे गुलाम बना लेती है। अतः हमें अपनी

स्वतंत्रता प्रमाणित करनी पड़ेगी। महात्मा वे ही हैं, जो श्रेष्ठ महाविद्वान् व्यक्ति, या नीच, दुष्ट मनुष्य, या क्षुद्रतम पशु में न तो महात्मा देखते हैं, न मनुष्य, न पशु, किन्तु सभी में उसी एक ईश्वर को देखते हैं। इस जीवन में ही उन्होंने संसार पर विजय प्राप्त कर ली है, और वे इस समता में दृढ़ रूप से प्रतिष्ठित हो गये हैं। ईश्वर पवित्र और सबके लिए समान है। अतः ऐसा महात्मा मनुष्य देह में प्रकट प्रत्यक्ष ईश्वर ही है। हम सब इसी लक्ष्य की ओर बढ़ रहे हैं; और प्रत्येक प्रकार की उपासना, मानव का प्रत्येक कार्य इसीकी प्राप्ति का साधन है। धनार्थी भी मुक्त होने का प्रयत्न कर रहा है—वह ग़रीबी के बन्धन से मुक्त होना चाहता है। मनुष्य का प्रत्येक कार्य उपासना है, क्योंकि निहित भाव है मुक्ति की प्राप्ति; और सभी कार्यों का उद्देश्य, अपरोक्ष या परोक्ष रूप से, वही होता है। केवल यह बात ध्यान में रखनी होगी कि उसमें बाधा पहुँचानेवाले सभी कार्य निषिद्ध हैं। समस्त विश्व ज्ञात या अज्ञात रूप से उपासना ही कर रहा है—उसे केवल इस बात का ज्ञान नहीं है कि जब वह गाली देता है, तो भी उसी भगवान् की एक प्रकार से उपासना ही कर रहा है, जिसे उसने गाली दी; क्योंकि जो लोग गाली दे रहे हैं, वे भी मुक्ति के लिए ही प्रयत्न कर रहे हैं। वे कभी यह नहीं सोचते कि किसी वस्तु की प्रतिक्रिया करने से वे अपने आप को उसका दास बना रहे हैं। किसी प्रकार की प्रतिक्रिया न होने देना एक कठिन बात है।

यदि हम अपनी ससीमता के विश्वास को दूर कर सकें, तो हमारे लिए सब कुछ करना अभी सम्भव हो जाय। यह केवल समय का प्रश्न है। शक्ति बढ़ाओ, तो समय कम लगेगा। उस प्रोफ़ेसर की बात याद रखो, जिसने संगमर्मर के बनाने का रहस्य जानकर बारह वर्ष में ही संगमर्मर तैयार कर लिया, जब कि प्रकृति उसको बनाने में शताब्दियाँ लगा देती है।

बौद्ध मत और वेदान्त

वेदान्त दर्शन बौद्ध एवं अन्य सभी भारतीय मतों का आधार है; किन्तु हम जिसे आधुनिक पण्डितों का अद्वैत दर्शन कहते हैं, उसमें बौद्धों के भी अनेक सिद्धान्त मिले हुए हैं। अवश्य ही, हिन्दू—अर्थात् सनातनी हिन्दू—इस बात को स्वीकार नहीं करेंगे, क्योंकि उनके विचार में बौद्ध नास्तिक हैं। परन्तु वेदान्त दर्शन को जान-बूझकर ऐसा व्यापक रूप देने की चेष्टा की गयी है कि उसमें नास्तिकों के लिए भी स्थान रहे।

वेदान्त का बौद्ध मत से कोई झगड़ा नहीं। वेदान्त का उद्देश्य ही है, सभी का समन्वय करना। उत्तर के बौद्धों के साथ हमारा तनिक भी झगड़ा नहीं है। किन्तु ब्रह्मदेश, स्याम तथा अन्य दक्षिण देशों के बौद्ध कहते हैं कि इन्द्रियग्राह्य परिदृश्यमान जगत् का ही अस्तित्व है, और वे हमसे पूछते हैं, 'इस परिदृश्यमान जगत् के पीछे एक शाश्वत और अपरिवर्तनशील सत्ता की—एक अतीन्द्रिय जगत् की कल्पना करने का तुम्हें क्या अधिकार है?' इसके प्रत्युत्तर में वेदान्त कहता है कि यह आरोप मिथ्या है। वेदान्त का कभी भी यह मत नहीं रहा कि इन्द्रियग्राह्य तथा अतीन्द्रिय ये दो जगत् हैं। उसका कहना है कि जगत् केवल एक है। इन्द्रियों द्वारा देखे जाने पर वही प्रपंचमय और अनित्य भासता है, किन्तु वास्तव में वह सर्वदा अपरिवर्तनशील और नित्य ही है। जैसे मान लो, किसीको रस्सी से सर्प का भ्रम हो गया। जब तक उसे सर्प का बोध है, तब तक उसे रस्सी दिखेगी ही नहीं—वह उसे सर्प ही समझता रहेगा। पर यदि उसे ज्ञात हो जाय कि वह सर्प नहीं रस्सी है, तो फिर वह रस्सी में सर्प कभी नहीं देख सकेगा—उसे केवल रस्सी ही दिखेगी। वह या तो रस्सी है, या सर्प ही; किन्तु दोनों का बोध एक साथ कभी नहीं होगा। अतएव, बौद्धों का हम लोगों पर यह जो आरोप है कि हम दो जगत् में विश्वास करते हैं, सर्वथा मिथ्या है। यदि उनकी इच्छा हो, तो वे इतना कह सकते हैं कि वह जगत् इन्द्रियग्राह्य है—परिदृश्यमान है; किन्तु वे यह नहीं कह सकते कि दूसरों को उसे अतीन्द्रिय कहने का अधिकार नहीं।

बौद्ध लोग इन्द्रियग्राह्य प्रपंचमय जगत् के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानते। इस प्रपंचमय जगत् में ही कामना है। कामना ही इन सबकी सृष्टि कर रही है।

आधुनिक वेदान्ती इसे बिल्कुल नहीं मानते। हम लोगों का मत है कि कोई ऐसी वस्तु है, जो इच्छा के रूप में परिणत हुई है। इच्छा एक परिणाम है, एक यौगिक पदार्थ है—'मौलिक' नहीं। बिना किसी बाह्य पदार्थ के इच्छा हो ही नहीं सकती। अतः यह सिद्धान्त कि जगत् की उत्पत्ति इच्छा से हुई है, असम्भव है। यह कैसे हो सकता है? क्या तुमने किसी बाह्य उत्तेजना के बिना कभी इच्छा का अनुभव किया है? बाह्य उत्तेजना के बिना—या आधुनिक दार्शनिक भाषा में कहें तो स्नायविक उत्तेजना के बिना—कभी इच्छा या कामना का उदय नहीं होता। इच्छा मस्तिष्क की एक प्रकार की प्रतिक्रिया है, जिसे सांख्य के मतानुयायी दार्शनिक 'बुद्धि' कहते हैं। इस प्रतिक्रिया के पहले किसी क्रिया का होना आवश्यक है, और क्रिया या कार्य के लिए बाह्य जगत् का होना जरूरी है। यदि बाह्य जगत् न हो, तो इच्छा भी नहीं हो सकती; किन्तु फिर भी, तुम्हारे (बौद्धों के) सिद्धान्त के अनुसार इच्छा ने जगत् की सृष्टि की! अच्छा, इच्छा को कौन उत्पन्न करता है? इच्छा तो जगत् की सहवर्तिनी है। जिस शक्ति ने जगत् की सृष्टि की, उसीने इच्छा का भी सर्जन किया है। किन्तु दर्शन को यहीं नहीं रुक जाना चाहिए। इच्छा बिल्कुल व्यक्तिगत वस्तु है; अतः हम शापेनहॉवर[1] से सहमत नहीं हो सकते। इच्छा बाह्य और आन्तरिक का योग है—एक मिश्रण है। मान लो, एक आदमी ने बिना किसी इन्द्रिय के जन्म लिया, तो उसमें कुछ भी इच्छा न होगी। इच्छा के लिए पहले कोई बाह्य वस्तु आवश्यक है, और मस्तिष्क अन्दर से कुछ शक्ति लेकर उसमें योग देता है; अतः इच्छा एक समवाय या सम्मिश्रण है, ठीक वैसे ही, जैसे दीवाल या अन्य कोई वस्तु। इन जर्मन दार्शनिकों के इच्छा के सिद्धान्त से हम बिल्कुल सहमत नहीं। इच्छा स्वयं प्रपंचमय है—सापेक्ष है, वह निरपेक्ष नहीं हो सकती। वह अनेक प्रक्षेपणों में से एक है। मैं यह समझ सकता हूँ कि कोई ऐसी वस्तु है, जो इच्छा नहीं है, परन्तु उसके रूप में अभिव्यक्त हो रही है। पर यह बात मेरी समझ में नहीं आती कि इच्छा ही अपने को अन्य सभी वस्तुओं के रूप में अभिव्यक्त कर रही है—यह देखते हुए कि जगत् से अलग इच्छा की हम कल्पना ही नहीं कर सकते। देश, काल, निमित्त के कारण ही वह 'पूर्ण स्वतंत्र' वस्तु इच्छा का रूप धारण कर लेती है। कान्ट के विश्लेषण को लो। इच्छा देश, काल और निमित्त के अन्तर्गत है। तब वह निरपेक्ष कैसे हो सकती है? यदि कोई इच्छा प्रकट करे, तो उसकी यह क्रिया समय के अन्दर ही सम्भव है—समय के बहिर्भूत नहीं।

---

१. एक प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक।

यदि हम अपने समस्त विचारों का उपशमन कर सकें—अपनी समस्त चित्तवृत्ति शान्त कर सकें, तो हम जान जायँगे कि हम विचार से परे हैं। हम 'नेति-नेति' के द्वारा इस अनुभव पर पहुँचते हैं। जब 'नेति-नेति' कहकर समस्त प्रपंच का त्याग कर दिया जाता है, तब जो कुछ बच रहता है वही 'वह' है। उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, उसे प्रकट नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रकटीकरण पुनः इच्छा हो ज़ायगी।

व्याख्यान, प्रवचन एवं कक्षालाप-८

(कर्म और उसका रहस्य)

कर्म और उसका रहस्य

(जनवरी ४, १९०० ई० को लॉस एंजिलिस, कैलिफ़ोर्निया में दिया हुआ भाषण)

अपने जीवन में मैंने जो श्रेष्ठतम पाठ पढ़े हैं, उनमें एक यह है कि किसी भी कार्य के साधनों के विषय में उतना ही सावधान रहना चाहिए, जितना कि उसके साध्य के विषय में। जिनसे मैंने यह बात सीखी, वे एक महापुरुष थे। यह महान् सत्य स्वयं उनके जीवन में प्रत्यक्ष रूप में परिणत हुआ था। इस एक सत्य से मैं सर्वदा बड़े बड़े पाठ सीखता आया हूँ। और मेरा यह मत है कि सब प्रकार की सफलताओं की कुंजी इसी तत्त्व में है—साधनों की ओर भी उतना ही ध्यान देना आवश्यक है, जितना साध्य की ओर।

हमारे जीवन में एक बड़ा दोष यह है कि हम आदर्श से ही इतना अधिक आकृष्ट रहते हैं, लक्ष्य हमारे लिए इतना अधिक आकर्षक होता है, ऐसा मोहक होता है और हमारे मानस क्षितिज पर इतना विशाल बन जाता है कि बारीकियाँ हमारी दृष्टि से ओझल हो जाती हैं।

लेकिन कभी असफलता मिलने पर हम यदि बारीकी से उसकी छानबीन करें, तो निन्यानवे प्रतिशत यही पायेंगे कि उसका कारण था हमारा साधनों की ओर ध्यान न देना। हमें आवश्यकता है अपने साधनों को पुष्ट करने की और उन्हें पूर्ण बनाने की। यदि हमारे साधन बिल्कुल ठीक हैं, तो साध्य की प्राप्ति होगी ही। हम यह भूल जाते हैं कि कारण ही कार्य का जन्मदाता है, कार्य स्वतः उत्पन्न नहीं हो सकता, और जब तक कारण अभीष्ट, समुचित और सशक्त न हों, कार्य की उत्पत्ति नहीं होगी। एक बार हमने ध्येय निश्चित कर लिया और उसके साधन पक्के कर लिये कि फिर हम ध्येय को लगभग छोड़ सकते हैं, क्योंकि हम विश्वस्त हैं कि यदि साधन पूर्ण हैं, तो साध्य तो प्राप्त ही होगा। जब कारण विद्यमान है, तो कार्य की उत्पत्ति होगी ही। उसके बारे में विशेष चिन्ता की कोई आवश्यकता नहीं। यदि कारण के विषय में हम सावधान रहें, तो कार्य स्वयं सम्पन्न हो जायगा। कार्य है ध्येय की सिद्धि; और कारण है साधन। इसलिए साधन की ओर ध्यान देते रहना जीवन का एक बड़ा रहस्य है। गीता में भी हमने यही पढ़ा और सीखा

है कि हमें लगातार भरसक काम करते ही जाना चाहिए; काम चाहे जैसा भी हो, अपना पूरा मन उस ओर लगा देना चाहिए; पर साथ ही ध्यान रहे, हम उसमें आसक्त न हो जायँ। अर्थात्, कार्य से किसी भी विषय द्वारा हमारा ध्यान न हटे; फिर भी हममें यह शक्ति हो कि हम इच्छानुसार कार्य को छोड़ सकें।

यदि हम अपने जीवन का विश्लेषण करें तो हम देखेंगे कि दुःख का सबसे बड़ा हेतु यह है : हम कोई बात हाथ में लेते हैं और अपनी पूरी ताक़त उसमें लगा देते हैं; कभी कभी असफलता होती है, पर फिर भी हम उसका त्याग नहीं कर सकते। यह आसक्ति ही हमारे दुःख का सबसे बड़ा कारण है। हम जानते हैं कि वह हमें हानि पहुँचा रही है और उसमें चिपके रहने से केवल दुःख ही हाथ आयेगा, परन्तु फिर भी हम उससे अपना छुटकारा नहीं कर सकते। मधुमक्खी तो शहद चाटने आयी थी, पर उसके पैर चिपक गये उस मधुचषक से और वह छुटकारा नहीं पा सकी। बार बार हम अपनी यही स्थिति अनुभव करते हैं। यही हमारे अस्तित्व का सम्पूर्ण रहस्य है। हम यहाँ आये थे मधु पीने, पर हम देखते हैं हमारे हाथ-पाँव उसमें फँस गये हैं। आये थे पकड़ने के लिए, पर स्वयं ही पकड़ गये! आये थे उपभोग के लिए, पर खुद ही उपभोग्य बन बैठे! आये थे हुक़ूमत करने, पर हम पर ही हुक़ूमत होने लगी! आये थे कुछ काम करने, पर देखते हैं कि हमसे ही काम लिया जा रहा है! हर घड़ी यही अनुभव होता है। हमारे जीवन की छोटी छोटी बातों का भी यही हाल है। दूसरों के मन हम पर हुक़ूमत चला रहे हैं और हम सदा यही प्रयत्न कर रहे हैं कि हमारी हुक़ूमत दूसरों के मनों पर चले। हम जीवन के आनन्द का उपभोग करना चाहते हैं, पर वे भोग हमारे प्राणों का ही भक्षण कर जाते हैं। हम प्रकृति से सब कुछ प्राप्त कर लेना चाहते हैं, पर अन्ततः हम यही देखते हैं कि प्रकृति ने हमारा सर्वस्व हरण कर लिया है, उसने हमें पूरी तौर से चूसकर अलग फेंक दिया है।

यदि ऐसा न होता, तो जीवन में सब हरा-भरा ही होता। पर चिन्ता नहीं। यद्यपि सफलताएँ मिलती हैं और असफलताएँ भी, यद्यपि यहाँ आनन्द है और दुःख भी, तो भी यह जीवन निरंतर हरा-भरा रह सकता है, यदि केवल हम बन्धन में न पड़ जायँ।

दुःख का एकमेव कारण यह है कि हम आसक्त हैं, हम बँधते जा रहे हैं। इसीलिए गीता में कहा है : निरंतर काम करते रहो, पर आसक्त मत होओ; बन्धन में मत पड़ो। प्रत्येक वस्तु से अपने आपको स्वतंत्र बना लेने की शक्ति स्वयं में संचित रखो। वह वस्तु तुम्हें बहुत प्यारी क्यों न हो, तुम्हारा प्राण उसके लिए चाहे जितना ही लालायित क्यों न हो, उसके त्यागने में तुम्हें चाहे जितना कष्ट

क्यों न उठाना पड़े, फिर भी अपनी इच्छानुसार उसके त्याग करने की अपनी शक्ति सँजोये रहो। कमज़ोर न तो इह जीवन के योग्य हैं, न किसी पर जीवन के। दुर्बलता से मनुष्य गुलाम बनता है। दुर्बलता से ही सब प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःख आते हैं। दुर्बलता ही मृत्यु है। लाखों-करोड़ों कीटाणु हमारे आसपास हैं, पर जब तक हम दुर्बल नहीं होते, जब तक शरीर उनके प्रति पूर्व-प्रवृत्त नहीं होता, तब तक वे हमें कोई हानि नहीं पहुँचा सकते। ऐसे करोड़ों दुःख रूपी कीटाणु हमारे आसपास क्यों न मँडराते रहें, पर कुछ चिन्ता न करो। जब तक हमारा मन कमज़ोर नहीं होता, तब तक उनकी हिम्मत नहीं कि वे हमारे पास फटकें, उनमें ताक़त नहीं कि वे हम पर हमला करें। यह एक बड़ा सत्य है कि बल ही जीवन है और दुर्बलता ही मरण। बल ही अनन्त सुख है, अमर और शाश्वत जीवन है, और दुर्बलता ही मृत्यु।

आसक्ति ही अभी हमारे सब सुखों की जननी है। हम अपने मित्रों और संबंधियों में आसक्त हैं; हम अपने बौद्धिक और आध्यात्मिक कार्यों में आसक्त हैं; हम बाह्य वस्तुओं में आसक्त हैं। इसलिए कि उनसे हमें सुख मिले। पर क्या इस आसक्ति के अतिरिक्त अन्य और किसी कारण से हम पर दुःख आता है? अतएव, आनन्द प्राप्त करने के लिए हमें अनासक्त होना चाहिए। यदि हममें इच्छा मात्र से अनासक्त होने की शक्ति होती है, तो हमें कभी दुःख न होता। केवल वही मनुष्य प्रकृति से पूरा पूरा लाभ उठा सकता है, जो किसी वस्तु में अपने मन को अपनी समस्त शक्ति के साथ लगा देने के साथ ही अपने को स्वेच्छा से, जब उससे अलग हो जाना चाहिए तब उससे अलग कर लेने की भी सामर्थ्य रखता है। कठिनाई यह है कि आसक्ति और अनासक्ति की क्षमता समान रूप से होनी चाहिए। संसार में ऐसे भी मनुष्य हैं, जो किसी वस्तु द्वारा कभी आकृष्ट नहीं होते। वे कभी प्यार नहीं कर सकते, वे कठोर हृदय और निर्मम होते हैं, दुनिया के अधिकांश दुःखों से वे मुक्त रहते हैं। किन्तु प्रश्न उठ सकता है, दीवाल भी तो कभी कोई दुःख अनुभव नहीं करती, दीवाल भी तो कभी प्यार नहीं करती और न उसे कोई कष्ट होता है। पर दीवाल आखिर दीवाल ही है! दीवाल बनने से तो आसक्त होना और बँध जाना निश्चय ही अच्छा है। अतएव, जो मनुष्य कभी प्यार नहीं करता, जो कठोर और पाषाण-हृदय है और इसी कारण जीवन के अनेक दुःखों से छुटकारा पा जाता है, वह जीवन के अनेक सुखों से भी हाथ धो बैठता है। हम यह नहीं चाहते। यह तो दुर्बलता है। यह तो मृत्यु है। जो कभी दुःख नहीं अनुभव करती, जो कभी दुर्बलता नहीं महसूस करती, वह आत्मा अभी अजाग्रत है। यह एक निष्ठुर दशा है। हम यह नहीं चाहते।

पर साथ ही, हम केवल इतना ही नहीं चाहते कि यह प्रेम की अथवा आसक्ति की महान् शक्ति, एक ही वस्तु पर सारी लगन लगा देने की ताक़त, या दूसरों के लिए अपना सर्वस्व खो बैठने और स्वयं का विनाश तक कर डालने का देव-सुलभ गुण हमें उपलब्ध हो जाय, वरन् हम देवताओं से भी उच्चतर होना चाहते हैं। सिद्ध पुरुष अपनी सम्पूर्ण लगन प्रेम की वस्तु पर लगा सकता है और फिर भी अनासक्त रह सकता है। यह कैसे सम्भव होता है? यह एक दूसरा रहस्य है, जो सीखना चाहिए।

भिखारी कभी सुखी नहीं होता। उसे केवल भीख ही मिलती है और वह भी दया और तिरस्कार से युक्त; उसके पीछे कम से कम यह कल्पना तो अवश्य ही होती है कि भिखारी एक निकृष्ट जीव है। जो कुछ वह पाता है, उसका सच्चा उपभोग उसे कभी नहीं मिलता।

हम सब भिखारी हैं। जो कुछ हम करते हैं, उसके बदले में हम कुछ चाह रखते हैं। हम लोग हैं व्यापारी। हम जीवन के व्यापारी हैं, शील के व्यापारी हैं, धर्म के व्यापारी हैं। अफ़सोस! हम प्यार के भी व्यपारी हैं।

यदि तुम व्यापार करने चलो, यदि वह लेन-देन का सवाल है, बेचने और मोल लेने का सवाल है, तो तुम्हें क्रय और विक्रय के नियमों का पालन करना होगा। कभी समय अच्छा होता है, कभी बुरा। भाव में चढ़ाव-उतार होता ही रहता है और कभी चोट खा जाने की आशा तुम कर सकते हो। व्यापार तो आइने में मुँह देखने के समान है। तुम्हारा प्रतिबिम्ब उसमें पड़ता है। तुम मुँह बनाओ और आइने में मुँह बन जाता है। तुम हँसो और आइना हँसने लगता है। यह है खरीद और बिक्री, लेन और देन।

हम फँस जाते हैं। कैसे? उससे नहीं जिसे हम देते हैं, वरन् उससे जिसके पाने की हम अपेक्षा करते हैं। हमारे प्यार के बदले हमें मिलता है दुःख। इसलिए नहीं कि हम प्यार करते हैं, वरन् इसलिए कि हम बदले में चाहते हैं प्यार। जहाँ चाह नहीं है, वहाँ दुःख भी नहीं है। वासना, चाह—यही दुःखों की जननी है। वासनाएँ सफलता और असफलता के नियमों से बद्ध हैं। वासनाओं का परिणाम दुःख ही होता है।

अतएव, सच्चे सुख और यथार्थ सफलता का महान् रहस्य यह है कि बदले में कुछ भी न चाहनेवाला बिल्कुल निःस्वार्थी व्यक्ति ही सबसे अधिक सफल व्यक्ति होता है। यह तो एक विरोधाभास सा है; क्योंकि क्या हम यह नहीं जानते कि जो निःस्वार्थी हैं, वे इस जीवन में ठगे जाते हैं, उन्हें चोट पहुँचती है? ऊपरी तौर से देखो, तो यह बात सच मालूम होती है। 'ईसा मसीह निःस्वार्थी थे, पर तो भी

उन्हें सूली पर चढ़ाया गया,'—यह सच है; किन्तु हम यह भी जानते हैं कि उनकी निःस्वार्थपरता एक महान् विजय का कारण है—और वह विजय है कोटि कोटि जीवनों पर सच्ची सफलता के वरदान की वर्षा।

कुछ भी न माँगो, बदले में कोई चाह न रखो। तुम्हें जो कुछ देना हो, दे दो। वह तुम्हारे पास वापस आ जायगा; लेकिन आज ही उसका विचार मत करो। वह हज़ार गुना हो वापस आयेगा, पर तुम अपनी दृष्टि उधर मत रखो। देने की ताक़त पैदा करो। दे दो और बस काम खत्म हो गया। यह बात जान लो कि सम्पूर्ण जीवन दानस्वरूप है; प्रकृति तुम्हें देने के लिए बाध्य करेगी। इसलिए स्वेच्छापूर्वक दो। एक न एक दिन तुम्हें दे देना ही पड़ेगा। इस संसार में तुम जोड़ने के लिए आते हो। मुट्ठी बाँधकर तुम चाहते हो लेना, लेकिन प्रकृति तुम्हारा गला दबाती है और तुम्हें मुट्ठी खोलने को मजबूर करती है। तुम्हारी इच्छा हो या न हो, तुम्हें देना ही पड़ेगा। जिस क्षण तुम कहते हो कि 'मैं नहीं दूँगा', एक घूँसा पड़ता है और तुम चोट खा जाते हो। दुनिया में आये हुए प्रत्येक व्यक्ति को अन्त में अपना सर्वस्व दे देना होगा। इस नियम के विरुद्ध बरतने का मनुष्य जितना अधिक प्रयत्न करता है, उतना ही अधिक वह दुःखी होता है। हममें देने की हिम्मत नहीं है, प्रकृति की यह उदात्त माँग पूरी करने के लिए हम तैयार नहीं हैं, और यही है हमारे दुःख का कारण। जंगल साफ़ हो जाते हैं, पर बदले में हमें उष्णता मिलती है। सूर्य समुद्र से पानी लेता है, इसलिए कि वह वर्षा करे। तुम भी लेन-देन के यंत्र मात्र हो। तुम इसलिए लेते हो कि तुम दो। बदले में कुछ भी मत माँगो। तुम जितना ही अधिक दोगे, उतना ही अधिक तुम्हें वापस मिलेगा। जितनी ही जल्दी इस कमरे की हवा तुम ख़ाली करोगे, उतनी ही जल्दी यह बाहरी हवा से भर जायगा। पर यदि तुम सब दरवाज़े-खिड़कियाँ और रंध्र बंद कर लो, तो अन्दर की हवा अन्दर रहेगी जरूर, किंतु बाहरी हवा कभी अन्दर नहीं आयेगी, जिससे अन्दर की हवा दूषित, गंदी और विषैली बन जायगी। नदी अपने आपको समुद्र में लगातार ख़ाली किये जा रही है और वह फिर से लगातार भरती आ रही है। समुद्र की ओर गमन बंद मत करो। जिस क्षण तुम ऐसा करते हो, मृत्यु तुम्हें आ दबाती है।

इसलिए भिखारी मत बनो। अनासक्त रहो। जीवन का यही एक अत्यन्त कठिन कार्य है। पर मार्ग की आपत्तियों के सम्बन्ध में सोचते मत रहो। कल्पना-शक्ति द्वारा आपत्तियों का चित्र खड़ा करने से भी हमें उनका सच्चा ज्ञान नहीं होता, जब तक हम उनका प्रत्यक्ष अनुभव न करें। दूर से उद्यान का विहंगम दृश्य दिख सकता है, पर इससे क्या? उसका सच्चा ज्ञान और अनुभव तो अन्दर जाने

पर हमें होता है। चाहे हमें प्रत्येक कार्य में असफलता मिले, हमारे टुकड़े टुकड़े हो जायें और खून की धार बहने लगे, फिर भी हमें अपना हृदय थामकर रखना होगा। इन आपत्तियों में ही अपने ईश्वरत्व की हमें घोषणा करनी होगी। प्रकृति चाहती है कि हम प्रतिक्रिया करें; घूँसे के लिए घूँसा, झूठ के लिए झूठ और चोट के लिए भरसक चोट लगायें। पर बदले में प्रतिघात न करने के लिए, संतुलन बनाये रखने के लिए तथा अनासक्त होने के लिए परा दैवी शक्ति की आवश्यकता होती है।

अनासक्त बनने का अपना निश्चय हम प्रतिदिन दुहराते हैं। हम अपनी दृष्टि पीछे डालते हैं और देखते हैं अपनी आसक्ति और प्रेम के पुराने विषयों की ओर, और अनुभव करते हैं कि उनमें से प्रत्येक ने हमें कैसे दुःखी बनाया, अपने 'प्यार' के कारण हम किस प्रकार निराशा के गर्त में पड़ गये, सदा दूसरों के हाथों गुलाम ही रहते आये और नीचे ही नीचे खिंचते गये! हम फिर से नया निश्चय करते हैं, 'आज से मैं स्वयं पर अपना शासन करूँगा, मैं अपना स्वामी बनूँगा।' पर समय आता है और फिर से एक बार वही पुराना क़िस्सा! हम फिर बन्धन में पड़ जाते हैं और मुक्त नहीं हो पाते। पक्षी जाल में फँस जाता है, छटपटाता है, फड़फड़ाता है। यही है हमारा जीवन।

मुझे इन कठिनाइयों का ज्ञान है; वे भयानक हैं। नब्बे प्रतिशत निराश हो धैर्य खो बैठते हैं। वे प्रायः निराशावादी बन जाते हैं और प्रेम तथा सचाई में विश्वास करना छोड़ देते हैं। जो कुछ दिव्य एवं भव्य है, उस पर से भी उनका विश्वास उठ जाता है। इसीलिए हम देखते हैं कि जो मनुष्य जीवन के आरम्भ में क्षमाशील, दयालु, सरल और निष्पाप थे, बुढ़ापे में झूठे और पाखण्डी बन जाते हैं। उनके मन जटिलताओं से भर जाते हैं। संभव है कि उसमें उनकी बाह्य नीति हो। हो सकता है कि इनमें से अधिकांश लोग ऊपर ऊपर से गरम मिज़ाज के न हों, वे कुछ बोलते न हों; पर यह उनके लिए अच्छा होता कि वे बोलते। उनके हृदय की स्फूर्ति मर चुकी है और इसीलिए वे नहीं बोलते। वे न तो शाप देते हैं और न क्रोध करते हैं; पर यह उनके लिए अधिक अच्छा होता, यदि वे क्रोध कर सकते, हज़ार गुना अच्छा होता, यदि वे शाप दे सकते। वे असमर्थ हैं। उनके हृदय में मृत्यु है, क्योंकि ठंडे हाथों ने उसको ऐसा जकड़ लिया है कि वह अब एक शाप देने या एक कड़ा शब्द कहने तक के लिए भी स्पन्दित नहीं हो सकता।

यह आवश्यक है कि हम इन सबसे बचें। इसीलिए मैं कहता हूँ कि हमें परा दैवी शक्ति की ज़रूरत है। अतिमानवी शक्ति पर्याप्त नहीं है। परा दैवी शक्ति ही छुटकारे का एकमेव मार्ग है। केवल उसीके बल पर हम इन उलझनों

और जटिलताओं में से, आपत्तियों की इन वौछारों में से बिना झुलसे पार जा सकते हैं। चाहे हम चीर डाले जायें और हमारे चिथड़े चिथड़े कर दिये जायें, पर हमारा हृदय सर्वदा अधिकाधिक उदार ही होता जाना चाहिए।

यह बहुत कठिन है, पर यह कठिनाई लगातार अभ्यास द्वारा दूर की जा सकती है। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि जब तक हम अपने आपको दुर्बल न बनायें, तब तक हम पर कुछ नहीं हो सकता। मैंने अभी ही कहा है कि जब तक शरीर रोग के प्रति पूर्वप्रवृत्त न हो, मुझे कोई रोग न होगा। रोग होना केवल कीटाणुओं पर ही अवलम्बित नहीं है, पर शरीर की पूर्वानुकूलता पर भी। हमें वही मिलता है, जिसके हम पात्र हैं। आओ, हम अपना अभिमान छोड़ दें और यह समझ लें कि हम पर आयी हुई कोई भी आपत्ति ऐसी नहीं है, जिसके हम पात्र न थे। फ़िज़ूल चोट कभी नहीं पड़ी; ऐसी कोई बुराई नहीं है, जो मैंने स्वयं अपने हाथों न बुलायी हो। इसका हमें ज्ञान होना चाहिए। तुम आत्म-निरीक्षण कर देखो, तो पाओगे कि ऐसी एक भी चोट तुम्हें नहीं लगी, जो स्वयं तुम्हारी ही की गयी न हो। आधा काम तुमने किया और आधा बाहरी दुनिया ने, और इस तरह तुम्हें चोट लगी। यह विचार हमें गम्भीर बना देगा। और साथ ही, इस विश्लेषण से आशा की आवाज़ आयेगी, 'बाह्य जगत् पर मेरा नियंत्रण भले न हो, पर जो मेरे अन्दर है, जो मेरे अधिक निकट है, वह मेरा अन्तर्जगत् मेरे अधिकार में है। यदि असफलता के लिए इन दोनों के संयोग की आवश्यकता होती हो, यदि चोट लगने के लिए इन दोनों का इकट्ठे होना ज़रूरी हो, तो मेरे अधिकार में जो दुनिया है, उसे मैं न छोड़ूँगा, फिर देखूंगा कि मुझे चोट कैसे लगती है? यदि मैं स्वयं पर सच्चा प्रभुत्व पा जाऊँ, तो चोट कभी न लग सकेगी।'

हम बचपन से ही सर्वदा अपने से बाहर किसी दूसरी वस्तु पर दोष मढ़ने का प्रयत्न किया करते हैं। हम सदा दूसरों के सुधार में तत्पर रहते हैं, पर अपने सुधार में नहीं। यदि हम दुःखी होते हैं, तो चिल्लाते हैं कि 'यह तो शैतान की दुनिया है!' हम दूसरों को दोष देते हैं और कहते हैं, 'कैसे मोहग्रस्त पागल हैं!' पर यदि हम सचमुच इतने अच्छे हैं, तो हम ऐसी दुनिया में भला रहते कैसे हैं? यदि यह शैतान की दुनिया है, तो हम भी शैतान ही हैं, नहीं तो हम यहाँ क्यों रहते? 'ओह, संसार के लोग कितने स्वार्थी हैं!'—सच है, पर यदि हम उनसे अच्छे हैं, तो फिर हमारा उनसे सम्बन्ध कैसे हुआ? ज़रा यह सोचो तो।

जिसके हम पात्र हैं, वही हम पाते हैं। जब हम कहते हैं कि दुनिया बुरी

है और हम अच्छे, तो यह सरासर झूठ है। ऐसा कभी हो नहीं सकता। यह एक भीषण असत्य है, जो हम अपने से कहते हैं।

अतएव, सीखने का पहला पाठ यह है : निश्चय कर लो कि बाहरी किसी भी वस्तु पर तुम दोष न मढ़ोगे, उसे अभिशाप न दोगे। इसके विपरीत, मनुष्य बनो, उठ खड़े हो और दोष स्वयं अपने ऊपर मढ़ो। तुम अनुभव करोगे कि यह सर्वदा सत्य है। स्वयं अपने को वश में करो।

क्या यह लज्जा का विषय नहीं है कि एक बार तो हम अपने मनुष्यत्व की, अपने देवता होने की बड़ी बड़ी बातें करें, हम कहें कि हम सर्वज्ञ हैं, सब कुछ करने में समर्थ हैं, निर्दोष हैं, पापहीन हैं और दुनिया में सबसे निःस्वार्थी हैं, और दूसरे ही क्षण एक छोटा सा पत्थर भी हमें चोट पहुँचा दे, किसी साधारण से साधारण मनुष्य का ज़रा सा क्रोध भी हमें ज़ख्मी कर दे और कोई भी चलता राहगीर 'हम देवताओं' को दुःखी बना दे! यदि हम ऐसे देवता हैं, तो क्या ऐसा होना चाहिए? क्या दुनिया को दोष देना उचित है? क्या परमेश्वर, जो पवित्रतम और सबसे उदार है, हमारी किसी भी चालबाज़ी के कारण दुःख में पड़ सकता है। यदि तुम सचमुच इतने निःस्वार्थी हो, तो तुम परमेश्वर के समान हो। फिर कौन सी दुनिया तुम्हें चोट पहुँचा सकती है? सातवें नरक में से भी तुम बिना झुलसे, बिना स्पर्श हुए निकल जाओगे। पर यह बात ही कि तुम शिक़ायत करते हो और बाहरी दुनिया पर दोष मढ़ना चाहते हो, बताती है कि तुम्हें बाहरी दुनिया का बोध हो रहा है; और इसीसे यह स्पष्ट है कि तुम वह नहीं हो, जैसा अपने को बतलाते हो। दुःख पर दुःख रचकर और यह मान लेकर कि दुनिया हमें चोट पहुँचाये जा रही है, तुम अपने अपराध को अधिक बड़ा बनाते जाते हो और चीखते जाते हो, 'अरे बाप रे, यह तो शैतान की दुनिया है! यह मनुष्य मुझे चोट पहुँचा रहा है, वह मनुष्य मुझे चोट पहुँचा रहा है'—आदि आदि। यह तो दुःख पर झूठ का रंग चढ़ाना हुआ।

अपनी चिन्ता हमें स्वयं ही करनी है। इतना तो हम कर ही सकते हैं। हमें कुछ समय तक दूसरों की ओर ध्यान देने का ख़याल छोड़ देना चाहिए। आओ, हम अपने साधनों को पूर्ण बना लें; फिर साध्य अपनी चिन्ता स्वयं कर लेगा। क्योंकि दुनिया तभी पवित्र और अच्छी हो सकती है, जब हम स्वयं पवित्र और अच्छे हों। वह है कार्य और हम हैं उसके कारण। इसलिए आओ, हम अपने आपको पवित्र बना लें! आओ, हम अपने आपको पूर्ण बना लें!

कर्मयोग

मानसिक और भौतिक सभी विषयों से आत्मा को पृथक् कर लेना ही हमारा लक्ष्य है। इस लक्ष्य के प्राप्त हो जाने पर आत्मा देखती है कि वह सर्वदा ही एकाकी रही है और उसे सुखी बनाने के लिए अन्य किसीकी आवश्यकता नहीं। जब तक अपने को सुखी बनाने के लिए हमें अन्य किसीकी आवश्यकता होती है, तब तक हम दास हैं। जब 'पुरुष' जान लेता है कि वह मुक्त है, उसे अपनी पूर्णता के लिए अन्य किसीकी आवश्यकता नहीं, एवं यह प्रकृति नितान्त अनावश्यक है, तब कैवल्य-लाभ हो जाता है।

मनुष्य चाँदी के चंद टुकड़ों के पीछे दौड़ता रहता है और उनकी प्राप्ति के लिए अपने एक सजातीय को भी धोखा देने में नहीं हिचकता; पर यदि वह स्वयं पर नियंत्रण रखे तो कुछ ही वर्षों में अपने चरित्र का ऐसा सुन्दर विकास कर सकता है कि यदि वह चाहे तो लाखों रुपये उसके पास आ जायें। तब वह अपनी इच्छा-शक्ति से जगत् का परिचालन कर सकता है। किन्तु हम कितने निर्बुद्धि हैं !

अपनी भूलों को संसार को बतलाते फिरने से क्या लाभ ? इस तरह उनका परिहार तो हो नहीं सकता। अपनी करनी का फल तो सबको भुगतना ही पड़ेगा। हम यही कर सकते हैं कि भविष्य में अधिक अच्छा काम करें। बली और शक्तिमान के साथ ही संसार की सहानुभूति रहती है।

केवल वही कर्म, जो मानवता और प्रकृति को मुक्त संकल्प द्वारा अर्पित करने के रूप में किया जाता है, बन्धन का कारण नहीं होता।

किसी भी प्रकार के कर्तव्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। जो व्यक्ति कोई छोटा या नीचा काम करता है, वह केवल इसी कारण ऊँचा काम करनेवाले की अपेक्षा छोटा या हीन नहीं हो जाता। मनुष्य की परख उसके कर्तव्य की उच्चता या हीनता की कसौटी पर नहीं होनी चाहिए, वरन् यह देखना चाहिए कि वह कर्तव्यों का पालन किस ढंग से करता है। मनुष्य की सच्ची पहचान तो अपने कर्तव्यों को करने की उसकी शक्ति और शैली में होती है। एक मोची, जो कि कम से कम समय में बढ़िया और मजबूत जूतों की जोड़ी

तैयार कर सकता है, अपने व्यवसाय में उस प्राध्यापक की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ है, जो अपने जीवन भर प्रतिदिन थोथी बकवास ही किया करता है।

प्रत्येक कर्तव्य पवित्र है और कर्तव्य-निष्ठा भगवत्पूजा का सर्वोत्कृष्ट रूप है; बद्ध जीवों की भ्रान्त, अज्ञानतिमिराच्छन्न आत्माओं को ज्ञान और मुक्ति दिलाने में यह कर्तव्य-निष्ठा निश्चय ही बड़ी सहायक है।

जो कर्तव्य हमारे निकटतम है, जो कार्य अभी हमारे हाथों में है, उसको सुचारु रूप से सम्पन्न करने से हमारी कार्य-शक्ति बढ़ती है; और इस प्रकार क्रमशः अपनी शक्ति बढ़ाते हुए हम एक ऐसी अवस्था की भी प्राप्ति कर सकते हैं, जब हमें जीवन और समाज के सबसे ईप्सित एवं प्रतिष्ठित कार्यों को करने का सौभाग्य प्राप्त हो सके।

प्रकृति का न्याय समान रूप से निर्मम और कठोर होता है। सर्वाधिक व्यवहार-कुशल व्यक्ति जीवन को न तो भला कहेगा और न बुरा।

प्रत्येक सफल मनुष्य के स्वभाव में कहीं न कहीं विशाल सच्चरित्रता और सत्यनिष्ठा छिपी रहती है, और उसीके कारण उसे जीवन में इतनी सफलता मिलती है। वह पूर्णतया स्वार्थहीन न रहा हो, पर वह उसकी ओर अग्रसर होता रहा था। यदि वह सम्पूर्ण रूप से स्वार्थहीन होता, तो उसकी सफलता वैसी ही महान् होती, जैसी बुद्ध या ईसा की। सर्वत्र निःस्वार्थता की मात्रा पर ही सफलता की मात्रा निर्भर रहती है।

मानव जाति के महान् नेता मंच पर व्याख्यान देने की अपेक्षा उच्चतर कार्य-क्षेत्र के हुआ करते हैं।

यदि हम पवित्रता या अपवित्रता का अर्थ अहिंसा या हिंसा के रूप में लें, तब हम चाहे जितना प्रयत्न करें, हमारा कोई भी कार्य पूर्णतया पवित्र या अपवित्र नहीं हो सकता। हम बिना किसीकी हिंसा किये जी या साँस तक नहीं ले सकते। भोजन का प्रत्येक ग्रास हम किसी न किसी के मुँह से छीनकर ही खाते हैं; हमारा जीवन कुछ अन्य प्राणियों के जीवन को मिटाता रहता है। चाहे वह जीवन मनुष्य का हो, पशु का अथवा छोटे से कुकुरमुत्तों का, पर कहीं न कहीं किसी न किसीको हमारे लिए मिटना ही पड़ता है। ऐसा होने के कारण यह स्पष्ट ही है कि कर्म द्वारा पूर्णता कभी नहीं प्राप्त की जा सकती! हम अनन्त काल तक कर्म करते रहें, पर इस जटिल भूलभुलैया से बाहर निकलने का मार्ग नहीं पा सकते। हम कर्म पर कर्म करते रहें, परन्तु उसका कहीं अन्त न होगा।

जो मनुष्य प्रेम और स्वतन्त्रता से अभिभूत होकर कार्य करता है, उसे फल की कोई चिंता नहीं रहती। परन्तु दास कोड़ों की मार चाहता है और

नौकर, अपना वेतन। ऐसा ही समस्त जीवन में है। उदाहरणार्थ, सार्वजनिक जीवन को ले लो। सार्वजनिक सभा में भाषण देनेवाला या तो कुछ तालियाँ चाहता है या विरोध-प्रदर्शन ही। यदि तुम इन दोनों में से उसे कुछ भी न दो, तो वह हतोत्साह हो जाता है, क्योंकि उसे इसकी ज़रूरत है। यही दास की तरह काम करना कहलाता है। ऐसी परिस्थितियों में, बदले में कुछ चाहना हमारी दूसरी प्रकृति बन जाती है। इसके बाद है नौकर का काम, जो किसी वेतन की अपेक्षा करता है; 'मैं तुम्हें यह देता हूँ और तुम मुझे वह दो'। 'मैं कार्य के लिए ही कार्य करता हूँ'—यह कहना तो बहुत सरल है, पर इसे पूरा कर दिखाना बहुत ही कठिन है। मैं कर्म ही के लिए कर्म करनेवाले मनुष्य का दर्शन करने के लिए बीसों कोस सिर के बल जाने को तैयार हूँ। लोगों के काम में कहीं न कहीं स्वार्थ छिपा ही रहता है। यदि वह धन नहीं होता, तो शक्ति होती है, यदि शक्ति नहीं हो तो अन्य कोई लाभ। कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में स्वार्थ रहता अवश्य है। तुम मेरे मित्र हो, और मैं तुम्हारे लिए तुम्हारे साथ रहकर काम करना चाहता हूँ। यह सब दिखने में बड़ा अच्छा है; और प्रतिपल मैं अपनी सच्चाई की दुहाई भी दे सकता हूँ। पर ध्यान रखो, तुम्हें मेरे मत से मत मिलाकर काम करना होगा! यदि तुम मुझसे सहमत नहीं होते, तो मैं तुम्हारी कोई परवाह नहीं करता! स्वार्थसिद्धि के लिए इस प्रकार का काम दुःखदायी होता है। जहाँ हम अपने मन के स्वामी होकर कार्य करते हैं, केवल वही कर्म हमें अनासक्ति और आनन्द प्रदान करता है।

एक बड़ा पाठ सीखने का यह है कि समस्त विश्व का मूल्य आँकने के लिए मैं ही मापदण्ड नहीं हूँ। प्रत्येक व्यक्ति का मूल्यांकन उसके अपने भावों के अनुसार होना चाहिए। इसी प्रकार प्रत्येक जाति एवं देश के आदर्शों और रीति-रिवाज़ों की जाँच उन्हींके विचारों, उन्हींके मानदण्ड के अनुसार होनी चाहिए। अमेरिकावासी जिस परिवेश में रहते हैं, वही उनके रीति-रिवाज़ों का कारण है, और भारतीय प्रथाएँ भारतीयों के परिवेश की फलोपपत्ति हैं; और इसी प्रकार चीन, जापान, इंग्लैण्ड तथा अन्य हर देश के सम्बन्ध में भी यही बात है।

हम जिस स्थिति के योग्य हैं, वही हमें मिलती है। प्रत्येक गेंद अपने अनुकूल छिद्र में ही गिरती है। यदि किसीकी योग्यता दूसरे से अधिक है, तो संसार इस निरंतर चलते रहनेवाले विश्वव्यापी समायोजन की प्रक्रिया में उसे जान लेगा। अतः बड़बड़ाने से कोई लाभ नहीं। यदि कोई धनी आदमी दुष्ट है, तो उसमें कुछ ऐसे भी गुण होंगे जिनके कारण वह धनी बना; और यदि किसी दूसरे व्यक्ति में ये गुण हैं, तो वह भी धनवान बन सकता है। शिक़ायतों

और झगड़ों से क्या लाभ ? उससे हम कुछ अधिक अच्छे तो बन नहीं जायँगे। जो अपने भाग्य में पड़ी हुई सामान्य वस्तु के लिए भी बड़बड़ाता है, वह हर एक वस्तु के लिए बड़बड़ायेगा। इस प्रकार सर्वदा बड़बड़ाते रहने से उसका जीवन दुःखमय हो जायगा और सर्वत्र असफलता ही उसके हाथ लगेगी। परन्तु जो मनुष्य अपने कर्तव्य को पूर्ण शक्ति से करता रहता है, वह ज्ञान एवं प्रकाश का भागी होगा, और उसे अधिकाधिक ऊँचे कार्य करने के अवसर प्राप्त होंगे।

कर्म ही उपासना है

सर्वोच्च मानव कर्म नहीं कर सकता, क्योंकि उसके लिए कोई बंधनकारी तत्त्व नहीं रह जाता, न आसक्ति और न अज्ञान। कहा जाता है कि एक बार एक जहाज चुम्बक के पहाड़ के पास जा निकला, जिससे उसके सारे कील और पेंच खिचकर निकल गये और वह टुकड़े टुकड़े हो गया। अज्ञान की दशा में ही कर्म का संघर्ष रहता है, क्योंकि हम सब वास्तव में नास्तिक हैं। ईश्वर में सच्चा विश्वास रखनेवाले कर्म नहीं कर सकते। हम सभी न्यूनाधिक मात्रा में नास्तिक हैं। हम न तो ईश्वर को देखते हैं और न उस पर विश्वास करते हैं। हमारे लिए वह 'ई-श्व-र' अक्षरों का समूह मात्र या शब्द मात्र है, इससे अधिक कुछ नहीं। हमारे जीवन में कुछ क्षण ऐसे आते हैं, जब हम ईश्वर की समीपता का अनुभव करने लगते हैं, पर पुनः हम नीचे गिर जाते हैं। जब तुमने उसे देख लिया, तब संघर्ष किसके लिए रहेगा? भगवान् की सहायता करना!—इसके बारे में हमारी भाषा में एक लोकोक्ति है कि 'हम विश्व के निर्माता को क्या निर्माण-कला सिखायेंगे?' अतः सर्वोच्च कोटि के लोग कर्म नहीं करते। जब कभी फिर तुम ऐसी मूर्खतापूर्ण बातें सुनो कि हमें भगवान् की सहायता करनी चाहिए, अथवा उनके लिए यह करना चाहिए या वह करना चाहिए, तो इस बात को याद रखना। ऐसे विचार ही मन में न लाओ; ये अत्यन्त स्वार्थपूर्ण हैं। तुम जो कुछ भी कार्य करते हो, उन सबका सम्बन्ध तुम्हींसे है और उसे तुम अपने ही भले के लिए करते हो। भगवान् किसी खंदक में नहीं गिर गये हैं, जो उन्हें हमारी या तुम्हारी सहायता की आवश्यकता है, कि हम अस्पताल बनवाकर या इसी तरह के अन्य कार्य करके उनकी सहायता कर सकें। उन्हींकी आज्ञा से तुम कर्म कर पाते हो। इस संसाररूपी व्यायामशाला में भगवान् तुम्हें अपने रग-पुट्ठों को व्यायाम द्वारा दृढ़ बनाने का अवसर देते हैं—इसलिए नहीं कि तुम उनकी सहायता करो, बल्कि इसलिए कि तुम स्वयं अपनी सहायता कर सको। क्या तुम सोचते हो कि तुम अपनी सहायता से एक चींटी तक को मरने से बचा सकते हो? ऐसा सोचना घोर ईश-निन्दा है! संसार को तुम्हारी तनिक भी आवश्यकता नहीं। संसार चलता जाता है, तुम इस संसार-

सिन्धु में बिन्दुसदृश हो। बिना प्रभु की इच्छा के एक पत्ता तक नहीं हिल सकता, हवा भी नहीं वह सकती। हम धन्य हैं, जो हमें यह सौभाग्य प्राप्त है कि हम उनके लिए कर्म करें,——उनको सहायता देने के लिए नहीं। इस 'सहायता' शब्द को मन से सदा के लिए निकाल दो। तुम किसीकी सहायता नहीं कर सकते। यह सोचना कि तुम सहायता कर सकते हो, महा अधर्म है——घोर ईश-निन्दा है। तुम स्वयं उनकी इच्छा से यहाँ पर हो। क्या तुम्हारे कहने का यह तात्पर्य है कि तुम उनकी सहायता करते हो? नहीं, सहायता नहीं, तुम उनकी पूजा करते हो। जब तुम कुत्ते को एक ग्रास खाना देते हो, तब तुम कुत्ते की ईश्वर-रूप से पूजा करते हो। ईश्वर उस कुत्ते में है——कुत्ते के रूप में प्रकट हुआ है। वही सब कुछ है और सबमें है। हमें उसकी आराधना करने की आज्ञा प्राप्त है। समस्त विश्व के प्रति यही आदर का भाव लेकर खड़े हो जाओ, और तब तुम्हें पूर्ण अनासक्ति प्राप्त हो जायगी। यही तुम्हारा कर्तव्य होना चाहिए? कर्म करने का यही उचित भाव है। कर्मयोग इसी रहस्य की शिक्षा देता है।

निष्काम कर्म

स्वामी विवेकानन्द ने 'निष्काम कर्म' पर रामकृष्ण मिशन की बयालीसवीं सभा में, जो रामकान्त वोस स्ट्रीट पर मकान नं० ५७, बाग़बाज़ार, कलकत्ता में २० मार्च, १८९८ ई० को हुई थी, निम्नलिखित आशय का भाषण दिया था :

जिस समय सर्वप्रथम गीता का उपदेश दिया गया, उस समय दो सम्प्रदायों में बड़ा वाद-विवाद चल रहा था। इनमें से एक सम्प्रदाय वैदिक यज्ञों, पशुवलि तथा इसी प्रकार के अन्यान्य कर्मों को ही धर्म का सार-सर्वस्व समझता था। दूसरा यह मानता था कि असंख्य अश्वों एवं पशुओं का वध धर्म नहीं कहा जा सकता । इस दूसरे सम्प्रदाय में अधिकतर ज्ञानमार्गी तथा संन्यासी थे। उनका विश्वास था कि समस्त कर्मों का त्याग और आत्मज्ञान की उपलब्धि ही मोक्ष का एकमात्र मार्ग है। गीता के प्रणेता कृष्ण ने निष्काम कर्म के अपने महान् सिद्धान्त को प्रतिपादित कर इन दोनों विरोधी दलों के विवाद को शान्त कर दिया।

अनेक लोगों का यह मत है कि गीता महाभारत के समय नहीं लिखी गयी, वरन् बाद में उसमें जोड़ दी गयी है। यह बात ठीक नहीं है। गीता के जो विशिष्ट सिद्धान्त हैं, वे महाभारत के प्रत्येक भाग में पाये जाते हैं, और यदि गीता को बाद में जोड़ी हुई मानकर निकाल लिया जाय, तो महाभारत के प्रत्येक भाग में से वे अंश निकालने पड़ेंगे, जिनमें गीता के सिद्धान्त पाये जाते हैं।

निष्काम कर्म का अर्थ क्या है? आजकल बहुत से लोग इसका यह अर्थ समझते हैं कि कर्म इस प्रकार किया जाय, जिससे मन को हर्ष-विषाद स्पर्श न कर सके। यदि यही निष्काम कर्म का सच्चा अर्थ हो, तब तो पशुओं को निष्काम कर्मी कहा जा सकता है। कुछ पशु अपने बच्चों को ही निगल जाते हैं, और ऐसा करने में उन्हें कुछ भी दुःख का अनुभव नहीं होता। डाकू अन्य लोगों का सब माल छीनकर उनका सर्वनाश कर देते हैं, और यदि वे पर्याप्त कठोर होकर दुःख-सुख की परवाह न करें, तो उन्हें भी फिर निष्काम कर्मी कहना पड़ेगा। यदि निष्काम कर्म का अर्थ ऐसा ही हो, तब तो क्रूर, पाषाणहृदय, नीचतम अपराधी भी निष्कामी कर्मियों में गिना जा सकता है। दीवार को

सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता, पत्थर में सुख-दुःख की भावना नहीं होती, पर यह नहीं कहा जा सकता कि वे निष्काम कर्मी हैं। यदि निष्काम कर्म उपर्युक्त अर्थ में प्रयुक्त किया जाय, तब तो वह दुष्टों के हाथों में एक प्रबल अस्त्र बन जायगा। वे तरह तरह के बुरे कर्म करते जायँगे और कहेंगे कि हम तो बिना किसी कामना के ये सब काम कर रहे हैं। इसलिए यदि निष्काम कर्म का यही अर्थ हो, तब तो हम कहेंगे कि गीता में एक बड़े ही भयानक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। अतः यह अर्थ निश्चित रूप से नहीं हो सकता। फिर, यदि हम गीता के उपदेश से संबद्ध व्यक्तियों के जीवन को देखें, तो वह भिन्न ही प्रकार का मालूम होगा। अर्जुन ने युद्ध में भीष्म और द्रोण का संहार किया, और साथ ही उसने अपनी इच्छाओं, स्वार्थ एवं निम्न प्रकृति का भी लाखों बार बलिदान किया।

गीता कर्मयोग की शिक्षा देती है। हमें योग (एकाग्रता) के द्वारा कर्म करना चाहिए। इस प्रकार के कर्मयोग में क्षुद्र अहंभाव की चेतना नहीं रह जाती। जब योगयुक्त होकर कार्य किया जाता है, तब मैं यह-वह कर रहा हूँ—यह ध्यान ही नहीं रहता। पाश्चात्यों की समझ में यह बात नहीं आती। वे कहते हैं कि यदि अहंभाव न रहे, यदि अहं का नाश हो जाय, तो फिर किसी मनुष्य के लिए कार्य कर सकना किस प्रकार सम्भव हो सकता है? पर जो अपने को सम्पूर्णतः भूलकर एकाग्र चित्त से कार्य करता है, उसका कार्य निश्चय ही अप्रतिम रूप से अच्छा होता है, और इसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति ने अपने जीवन में किया होगा। हम अनेक कार्य अचेतन होकर करते रहते हैं, जैसे आहार को पचाना आदि, कुछ कार्य चेतन होकर करते हैं, तथा अनेक कार्य ऐसे भी होते हैं, जो मानो समाधि-अवस्था में मग्न होकर सम्पन्न होते हैं, जब हमें अपने क्षुद्र अहं का बोध नहीं रहता। यदि चित्रकार अपने को भूलकर चित्र बनाने में ही पूर्ण रूप से लीन हो जाय, तो उसका चित्र एक महान् कृति होगा। एक अच्छा रसोइया भोजन बनाने के समय अपना सब कुछ उस में लगा देता है; उस समय तक के लिए वह अन्य सब कुछ भूल जाता है। परन्तु ये लोग इस प्रकार केवल उसी एक कार्य को अच्छी तरह से कर सकते हैं, जिसके लिए वे अभ्यस्त होते हैं। गीता की शिक्षा है कि सभी कार्यों को इसी तरह पूर्णता के साथ करना चाहिए। जो योग के द्वारा प्रभु से एकरूप हो गया है, वह अपने सभी कार्यों को इसी एकाग्रता के साथ करता है और अपने स्वार्थ की कुछ भी चाह नहीं रखता। इस प्रकार किये हुए कर्म द्वारा संसार की भलाई ही होती है, उससे किसी प्रकार की बुराई

नहीं हो सकती। जो इस प्रकार कर्म करते हैं, वे अपने लिए कभी कुछ नहीं करते।

प्रत्येक कार्य का फल शुभ और अशुभ से युक्त रहता है। कोई भी शुभ काम ऐसा नहीं होता, जिसमें अशुभ का कुछ न कुछ स्पर्श न रहता हो। जैसे अग्नि धुएँ से आवृत रहती है, उसी प्रकार कर्म में कोई न कोई दोष लगा ही रहता है। हमें ऐसे कार्यों में ही रत रहना चाहिए, जिनसे महत्तम शुभ और न्यूनतम अशुभ उत्पन्न हो। अर्जुन ने भीष्म और द्रोण का वध किया। यदि यह न किया जाता, तो दुर्योधन पर विजय प्राप्त नहीं होती, अशुभ की शक्तियों की शुभ की शक्तियों पर विजय हो जाती और इस प्रकार देश पर विपत्तियों के काले बादल मँडराने लगते; अभिमानी और अन्यायी राजाओं के एक दल के द्वारा राज्य का शासन बलपूर्वक हड़प लिया जाता और देश की जनता पर दुर्भाग्य की कालिमा फैल जाती। इसी प्रकार कृष्ण ने भी कंस, जरासन्ध इत्यादि अत्याचारियों का संहार किया, पर उनका एक भी कार्य उनके स्वयं के लिए नहीं था। उनका प्रत्येक कार्य दूसरों की भलाई के लिए ही था। हम दीपक के प्रकाश में गीता का पाठ कर रहे हैं, पर अनेक पतिंगे जलकर मरते जा रहे हैं। इसीसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक कर्म में कुछ न कुछ दोष रहता ही है। जो अपना क्षुद्र अहंभाव भूलकर कार्य करते हैं, उन पर इन दोषों का प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि वे संसार की भलाई के लिए कर्म करते हैं। निष्काम और अनासक्त होकर कार्य करने से हमें परम आनन्द और मुक्ति की प्राप्ति होती है। गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने कर्मयोग के इसी रहस्य की शिक्षा दी है।

ज्ञान और कर्म

(१८९५ ई० में, २३ नवम्बर को लंदन में दिये गये एक भाषण के लिए लिखित टिप्पणियाँ)

मनुष्य को सर्वोपरि बल विचार-शक्ति से प्राप्त होता है। जितना ही सूक्ष्मतर तत्त्व होता है, उतना ही अधिक वह शक्तिसम्पन्न होता है। विचार की मूक शक्ति दूरस्थ व्यक्तियों को भी प्रभावित करती है, क्योंकि मन एक भी है और अनेक भी। विश्व एक जाल है और मानव-मन मकड़ियाँ।

यह विश्व एक विश्वव्यापी सत्ता का गोचर रूप है। इन्द्रियगोचर वह विश्वनियन्ता ही तो हमारा विश्व है। यही माया है। यों तो यह संसार भ्रम है, सत् की अपूर्ण झाँकी, एक अर्द्ध उद्भास, जैसे प्रातःसूर्य एक लाल गोला दिखायी देता है। इस प्रकार सभी अशुभ और दुष्प्रवृत्तियाँ दुर्बलता मात्र हैं, शिव की अपूर्ण झाँकी।

निरन्तर विक्षेप किये जाने पर सरल रेखा एक वृत्त बन जाती है। शिव की खोज स्वयं अपने में ही वापस ले आती है। मैं स्वयं सम्पूर्ण रहस्य, ब्रह्म हूँ। मैं एक शरीर भी हूँ, निम्नतर अहम्; और मैं विश्व का प्रभु भी हूँ।

मनुष्य को नैतिक और शुद्ध क्यों होना चाहिए? क्योंकि इससे उसकी संकल्प-शक्ति बलवती होती है। वह सब, जो मनुष्य की सत् प्रकृति को उद्भासित करते हुए उसकी संकल्प-शक्ति को सबल बनाये, नैतिक है। और वह सब, जो इसके विपरीत करे, अनैतिक है। मानदंड देश देश और व्यक्ति व्यक्ति के लिए पृथक् पृथक् है। मनुष्य को क़ानूनों, शब्दों आदि की दासता की स्थिति से अपने को मुक्त करना ही चाहिए। आज हममें संकल्प की स्वाधीनता भी नहीं है; पर जब हम स्वाधीन होंगे, तब होगी। इस संसार को त्याग देना ही संन्यास है, त्याग है। इन्द्रियों के माध्यम से ही क्रोध और शोक का जीवन में प्रवेश होता है। जब तक संन्यास नहीं है, तब तक अहम् और उसे सचेतन बनानेवाली वासना परस्पर भिन्न रहती हैं। अन्ततोगत्वा यह पार्थक्य मिट जाता है, दोनों एक हो जाते हैं और मनुष्य पशु बन जाता है। संन्यास की, त्यागकी, इस भावना से अपने को अनुप्राणित करो।

कभी मेरे शरीर था, मेरा जन्म हुआ था, मैंने संघर्ष किये थे और मेरी मृत्यु हुई थी: यह सब कितना भयावह भ्रमजाल है?—यह सोचना कि

व्यक्ति शरीर-पिंजर में बन्दी था और मुक्ति के लिए हाय हाय कर रहा था!

पर क्या संन्यास का अर्थ यह है कि हम सब तपस्वी हो जायें? तो फिर दूसरों की सहायता करनेवाला कौन रह जायगा? संन्यास तपस्या नहीं है। क्या सभी भिखारी ईसा होते हैं? दरिद्रता साधुता का पर्याय नहीं है; प्राय: विपर्यय है। संन्यास मन का होता है। इसकी सिद्धि कैसे होती है? एक मरुस्थल में, जब मैं प्यासा था, मैंने एक झील देखी। वह एक मनोहर दृश्यावली के बीच थी। उसे चारों ओर वृक्ष घेरे हुए थे और उनकी प्रतिच्छाया पानी में उलटी दिखायी देती थी। पर यह सारा दृश्य मृग-मरीचिका सिद्ध हुआ। तब मुझे ज्ञात हुआ कि एक महीने से मैं प्रतिदिन इस दृश्य को देखता आ रहा था; केवल उस दिन, पिपासु होने पर मुझे उसके असत् होने का ज्ञान हुआ। अब मैं एक मास तक प्रतिदिन फिर उसे देखूंगा; पर मैं कभी भी उसे सत्य नहीं समझूंगा। ठीक ऐसे ही, जब हमें भगवत्प्राप्ति हो जायगी, तब इस संसार का, इस शरीर आदि का भाव तिरोहित हो जायगा। इस भाव की पुनरावृत्ति हो सकती है; पर तब हमें ज्ञान रहेगा कि यह असत् है।

संसार का इतिहास बुद्ध और ईसा जैसे व्यक्तियों का इतिहास है। वासना-मुक्त तथा अनासक्त व्यक्ति ही संसार का सर्वाधिक हित करते हैं। ग़रीबों की गन्दी बस्तियों में ईसा की कल्पना करो! उनकी दृष्टि दैन्य से परे जाती है और वे कहते हैं: 'मेरे बन्धुओ, तुम सब दिव्यात्मा हो?' उनका कार्य शान्तिपूर्ण है। वे कारणों को हटाते हैं। मनुष्य संसार के कल्याण में तभी तत्पर हो पाता है, जब उसे इस तथ्य की सत्य-प्रतीति हो जाती है कि ये सारे क्रिया-कलाप माया हैं। कार्य जितना ही अचेतन होता है उतना ही श्रेष्ठ होता है; क्योंकि तब वह अधिक अतिचेतन हो जाता है। हमारी खोज शुभ अथवा अशुभ की खोज नहीं है; पर शुभ और आनन्द, अशुभ और दैन्य की अपेक्षा, सत्य के अधिक निकट हैं। किसी व्यक्ति ने अपनी अंगुली में एक काँटा चुभो लिया और दूसरे काँटे से उस काँटे को निकाल डाला। पहला काँटा अशुभ है; दूसरा काँटा शुभ है। आत्मा वह शान्ति है, जो शुभ और अशुभ दोनों ही से परे है। यह विश्व तो विघटित हो रहा है; मनुष्य ईश्वर के समीप खिंचता जा रहा है। एक क्षण के लिए वह सत् बन जाता है, स्वयं ईश्वर! उसके व्यक्तित्व का पुनर्विकास होता है—एक पैग़म्बर। और अब उसके सम्मुख संसार काँपता है। मूर्ख सोता है, जगता है तब भी मूर्ख रहता है। अचेतन व्यक्ति जब अतिचेतन होकर जगता है, तो असीम शक्ति, पवित्रता और प्रेम से सम्पन्न 'देव-मानव' बनकर लौटता है। अतिचेतन या दिव्य चेतन की यही उपयोगिता है।

युद्ध-क्षेत्र में भी ज्ञान का व्यवहार सम्भव है। गीता का उपदेश ऐसे ही दिया गया था। मन की तीन अवस्थाएँ होती हैं: सक्रिय, निष्क्रिय और शांत। निष्क्रिय अवस्था की विशेषता है मन्द स्पन्दन; सक्रिय अवस्था की विशिष्टता है तीव्र स्पन्दन और शांत अवस्था की विशेषता है सर्वाधिक प्रचण्ड स्पन्दन! समझो कि आत्मा रथ में आरूढ़ है। शरीर ही रथ है, बाह्य इन्द्रियाँ ही अश्व हैं, मन लगाम है और बुद्धि सारथी है। इसी विधि से मनुष्य माया-सागर को पार करता है। वह इन्द्रियातीत हो जाता है। परब्रह्म में अवस्थित हो जाता है। जब तक मनुष्य अपनी इन्द्रियों के अधीन है, तब तक वह संसारी है। जब वह इन्द्रियों को अपने अधीन कर लेता है, वह त्यागी हो जाता है।

क्षमा भी, यदि दुर्बल और निष्क्रिय हो तो, सत्य नहीं है; उससे तो युद्ध वरेण्य है। क्षमा करो तब, जब अपनी विजय के लिए असंख्य देवदूतों का भी आह्वान कर सको। अर्जुन के सारथी कृष्ण ने अर्जुन को यह कहते सुना, 'हम अपने शत्रुओं को क्षमा कर दें;' और उन्होंने उत्तर दिया: **अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।**—'बातें तो बड़े विवेकी पुरुष की सी करते हो, पर अर्जुन, तुम विवेकशील नहीं, कापुरुष हो।' जैसे कमल-पत्र जल में रहकर भी जल से अस्पृष्ट रहता है, वैसे ही इस संसार में आत्मा को रहना चाहिए। यह एक युद्ध-क्षेत्र है; इसमें युद्ध करके अपना मार्ग प्रशस्त करो। इस संसार में जीवन है ईश्वर से साक्षात्कार का प्रयास मात्र! अपने जीवन को त्याग से परिपुष्ट संकल्प-शक्ति की अभिव्यक्ति का रूप दो।

हमें अपने समस्त मस्तिष्क-केन्द्रों को इच्छानुसार संयमित करना सीखना चाहिए। जीवनानन्द इसकी पहली सीढ़ी है। तपश्चर्या तो पैशाची है। प्रार्थना करने की अपेक्षा हँसना अच्छा है। तो गाओ। दैन्य से पीछा छुड़ाओ। भगवान् को दूसरों को इसकी—दैन्य की—छूत न लगने दो। कभी भी यह मत सोचो कि भगवान् कुछ सुख और कुछ दुःख को बेचा करता है। अपने को चारों ओर से सुन्दर पुष्पों, चित्रों और धूप-गंध से आवेष्टित कर लो। सन्त लोग पर्वत-शिखरों पर प्रकृति का आनन्द लेने के लिए जाते थे।

दूसरी सीढ़ी है पवित्रता।

तीसरी सीढ़ी है बुद्धि का प्रशिक्षण। तर्क द्वारा असत्य से सत्य को अलग करो। यह दृष्टि प्राप्त करो कि एकमात्र ईश्वर ही सत्य है। यदि एक क्षण के लिए भी तुमने यह सोचा कि तुम स्वयं ईश्वर नहीं हो, तो तुम्हें महाभय ग्रस लेगा। और जैसें ही तुम सोचोगे, 'सोऽहम्—मैं वही हूँ,' वैसे ही तुम्हें महान् आनन्द और शान्ति की उपलब्धि होगी। इन्द्रियों को वश में लाओ।

कोई मुझे शाप देता है; फिर भी मुझे उसमें ईश्वर का दर्शन करना चाहिए। उसे अपनी ही दुर्बलता के कारण मैं शाप देनेवाला मान बैठा हूँ। वह दीन, जिसका हम कुछ उपकार करते हैं, हमें एक विशिष्ट अवसर और अधिकार प्रदान करता है। अपनी अनुकंपा से प्रेरित होकर ईश्वर अपनी पूजा इस प्रकार करने का अवसर हमें देता है।

संसार का इतिहास उन थोड़े से व्यक्तियों का इतिहास है, जिनमें आत्म-विश्वास था। यह विश्वास अन्तःस्थित देवत्व को ललकार कर प्रकट कर देता है। तब व्यक्ति कुछ भी कर सकता है; सर्व समर्थ हो जाता है। असफलता तभी होती है, जब तुम अन्तःस्थ अमोघ शक्ति को अभिव्यक्त करने का यथेष्ट प्रयत्न नहीं करते। जिस क्षण व्यक्ति या राष्ट्र आत्म-विश्वास खो देता है, उसी क्षण उसकी मृत्यु आ जाती है।

हमारे भीतर एक दिव्य तत्त्व है, जो न तो चर्चों के मतवादों से पराभूत किया जा सकता है, न भर्त्सना से। जहाँ कहीं भी सभ्यता है, वहीं मुट्ठी भर यूनानियों का प्रभाव प्रकट है। कुछ न कुछ भूलें तो सर्वदा होंगी ही। उस पर खेद मत करो। महान् अन्तर्दृष्टि प्राप्त करो। यह न सोचो : 'जो हो गया, हो गया। क्या ही अच्छा होता, यदि यह और सुन्दर ढंग से सम्पन्न हुआ होता!' यदि मनुष्य स्वयं ब्रह्म न होता तो, मानव जाति अब तक प्रार्थनाओं और प्रायश्चित्तों के मारे पागल हो गयी होती।

कोई छूटेगा नहीं, कोई नष्ट भी नहीं होगा। अन्ततः सभी को पूर्णत्व की प्राप्ति होगी। अहर्निश आह्वान करो, 'आओ, बन्धुओ! तुम सब पवित्रता के असीम सागर हो! ब्रह्म बनो! ब्रह्म-रूप में अपने को प्रकट करो!'

सभ्यता क्या है? वह अन्तःस्थ देवत्व की अनुभूति है। जब अवकाश मिले, इन विचारों की मनसा आवृत्ति करो और मुक्ति की कामना करो। यही सब कुछ है। जो कुछ ईश्वर नहीं है, उसे अंगीकार मत करो। जो कुछ ईश्वर है, उसे प्रतिष्ठित करो। अहर्निश इसका मानस संकल्प करो। इस प्रकार आवरण क्षीण होता जाता है।

मैं न मनुष्य हूँ, न देवदूत। न मेरा कोई लिंग है, न कोई मेरी सीमा है। मैं स्वयं ज्ञान हूँ। मैं ब्रह्म हूँ। न मुझमें रोष है न घृणा। मैं हर्ष-विषाद से परे हूँ। जन्म-मरण मुझे कभी व्याप्त नहीं हुआ; क्योंकि मैं तो निर्विशेष ज्ञान, निर्विशेष आनन्द हूँ। मैं ब्रह्म हूँ, जो मेरी आत्मा है। मैं ब्रह्म हूँ!

अपने को अशरीरी अनुभव करो। शरीरबद्ध तुम कभी हुए ही नहीं।

वह सब अन्धविश्वास था। समस्त दीन, पददलित, पीड़ित और व्याधिग्रस्त मानवों को दिव्य चेतना लौटा दो।

लगता है कि हर पंचशती के लगभग इस विचार की एक लहर धरती पर छा जाती है। अनेक दिशाओं में छोटी छोटी लहरें उठती हैं; पर उन सबको कोई एक लहर आत्मसात कर लेती है और सम्पूर्ण समाज पर छा जाती है। जिसके पीछे सर्वाधिक चरित्र-बल होता है, वही लहर ऐसा कर पाती है।

कन्फ़्यूशस, मूसा और पाइथागोरस; बुद्ध, ईसा मुहम्मद, लूथर, काल्विन और सिक्ख-गुरु; थियोसॉफ़ी, आत्मवाद तथा ऐसे ही अन्य सिद्धान्त; इन सबका तात्पर्य मनुष्य के अन्तःस्थ देवत्व का उपदेश ही है।

कभी मत कहो कि मनुष्य दुर्बल है। ज्ञानयोग अन्य योगों से किसी प्रकार वरेण्य नहीं है। प्रेम ही आदर्श है; और उसके लिए किसी की आश्यकता नहीं है। प्रेम ही ईश्वर है। इसीलिए भक्ति द्वारा भी हमें आत्मस्थ ईश्वर की उपलब्धि होती है। मैं वही हूँ—ब्रह्म हूँ! जब तक मनुष्य नगर, देश, जीव और जगत् को प्यार नहीं करता, तब तक वह काम कैसे कर सकता है? विवेक अनेकता में एकता की उपलब्धि कराता है। नास्तिकों और अज्ञेयवादियों को समाज-कल्याण के लिए काम करने दो। इस प्रकार भी ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

किन्तु एक बात से अपने को सावधान रखो: किसीकी आस्था को विचलित मत करो। इतना ज्ञान तो तुम्हें होना ही चाहिए कि धर्म मतवादों में नहीं है। धर्म की सत्ता है आत्म-स्थिति में, आत्म-परिणति में, आत्मानुभूति में। सभी मनुष्य जन्मना मूर्ति-पूजक होते हैं। निम्नतम श्रेणी का मनुष्य पशु मात्र है। उच्चतम मानव पूर्ण होता है। और इन दोनों के बीच में स्थित सभी को ध्वनि और रंगों, मतवादों और अनुष्ठानों के माध्यम से विचार करना होता है।

कोई मूर्ति-पूजक की स्थिति को पार कर गया या नहीं, इसकी कसौटी यह है:—"जब तुम कहते हो 'मैं', तब तुम्हारे मन में तुम्हारा शरीर आता है या नहीं? यदि 'मैं' कहने पर तुम्हारे विचार में तुम्हारा शरीर आ जाता है, तो तुम अब भी मूर्ति-पूजक हो।" धर्म बौद्धिक जल्पना नहीं है; धर्म अनुभूति है। यदि तुम ईश्वर के सम्बन्ध में विचार करते हो, तो तुम निरे मूर्ख हो। अज्ञानी पुरुष भी प्रार्थना और भक्ति के सहारे दार्शनिकों से परे—बहुत ऊँचा उठ जा सकता है। ईश्वर को जानने के लिए किसी भी दर्शनशास्त्र की

आवश्यकता नहीं है। हमारा कर्तव्य दूसरों की आस्था को विचलित करना नहीं है। धर्म अनुभूति है। सर्वोपरि बात यह है कि हमें सबके प्रति निष्कपट होना चाहिए; तादात्म्य क्लेश पैदा करता है, क्योंकि वह कामना को जगाता है। एक दीन व्यक्ति सोना देखता है तो सोने की आवश्यकता के साथ अपना तादात्म्य अनुभव करता है। साक्षी बनो। प्रतिक्रिया दिखाना मत सीखो।

निष्काम कर्म ही सच्चा संन्यास है

यह संसार कायरों के लिए नहीं है। पलायन की चेष्टा मत करो। सफलता अथवा असफलता की चिन्ता मत करो। पूर्ण निष्काम संकल्प में अपने को लय कर दो और कर्तव्य करते चलो। समझ लो कि सिद्धि पाने के लिए जन्मी बुद्धि अपने आपको दृढ़ संकल्प में लय करके सतत कर्मरत रहती है। कर्म में तुम्हारा अधिकार है, पर इतने पतित मत बनो कि फल की कामना करने लगो। अनवरत कर्म करो, पर अनुभव करो कि कर्म के पीछे भी कुछ है। सत्कर्म भी मनुष्य को महान बन्धन में डाल सकते हैं। अतः सत्कर्मों के, अथवा नाम और यश की कामना के, बन्धनों से मत बँधो। जिन्हें इस रहस्य का ज्ञान हो जाता है, वे जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाते हैं, अमर हो जाते हैं।

सामान्य संन्यासी संसार त्याग देता है, बाहर निकल कर भगवान् का चिन्तन करता है। सच्चा संन्यासी तो संसार में ही रहता है; पर उसका बनकर नहीं। जो आत्म-निग्रह करते हैं, जंगल में रहते हैं और अतृप्त वासनाओं की जुगाली करते रहते हैं, वे सच्चे संन्यासी नहीं हैं। जीवन-संग्राम के मध्य डटे रहो। सुप्तावस्था में अथवा एक गुफा के भीतर तो कोई भी शान्त रह सकता है। कर्म के आवर्त और उन्मादन के बीच दृढ़ रहो और केन्द्र तक पहुँचो। और यदि तुम केन्द्र पा गये तो फिर तुम्हें कोई विचलित नहीं कर सकता।

रचनानुवाद : गद्य - ३

वर्तमान भारत[1]

वैदिक पुरोहित मन्त्रबल[2] से बलवान थे। उनके मन्त्रबल से देवता आहूत होकर भोज्य और पेय ग्रहण करते और यजमानों[3] को वांछित फल प्रदान करते थे। इससे राजा और प्रजा दोनों ही अपने सांसारिक सुख के लिए इन पुरोहितों का मुँह जोहा करते थे। राजा सोम[4] पुरोहितों का उपास्य था। इसीलिए सोमाहुति चाहनेवाले देवता जो मन्त्र से ही पुष्ट होते और वर देते थे, पुरोहितों पर प्रसन्न थे। दैव-बल के ऊपर मनुष्य-बल कर ही क्या सकता है? मनुष्य-बल के केन्द्र राजा लोग भी तो उन्हीं पुरोहितों की कृपा के भिखारी थे। उनकी कृपादृष्टि ही राजाओं के लिए काफ़ी सहायता थी और उनका आशीर्वाद ही सर्वश्रेष्ठ राजकर था। पुरोहित लोग राजाओं को कभी डर दिखा आज्ञाएँ देते, कभी मित्र बन सलाहें देते और कभी चतुर नीति के जाल बिछा उन्हें फँसाते थे। इस प्रकार उन लोगों ने राजकुल को अनेक बार अपने वश में किया। राजाओं को पुरोहितों से डरने का सबसे मुख्य कारण यह था कि उनका यश और उनके पूर्वजों की कीर्ति पुरोहितों की ही लेखनी के अधीन थी। राजा अपनी ज़िंदगी में कितना ही तेजस्वी और कीर्तिमान क्यों न हो, अपनी प्रजा का माँ-बाप ही क्यों न हो, पर उसकी वह अत्युज्ज्वल कीर्ति समुद्र में गिरी हुई ओस की बूंदों की तरह काल-समुद्र में सदा के लिए विलीन हो जाती थी। केवल अश्वमेधादि बड़े बड़े याग-यज्ञों का अनुष्ठान करनेवाले तथा बरसात के बादलों की तरह ब्राह्मणों के ऊपर धन की झड़ी लगानेवाले राजाओं के ही नाम इतिहास के पृष्ठों में पुरोहित-प्रसाद से जगमगा रहे हैं।

---

१. मार्च, १८९९ 'उद्बोधन' के बँगला लेख का अनुवाद।

२. यज्ञ करते समय देवताओं के आह्वान के लिए पुरोहित वैदिक मन्त्रों का उच्चारण करता था।

३. यज्ञ करनेवाला पुरोहित यजमान कहलाता है।

४. सोमलता का वेदों में आया हुआ नाम। पुरोहित यज्ञ के समय देवताओं को सोम की आहुति देते थे।

आज ब्राह्मण्य जगत् में देवताओं के प्रिय 'प्रियदर्शी धर्माशोक'[1] का केवल नाम भर रह गया है, पर परीक्षित-जनमेजय[2] से बालक, युवा, वृद्ध—सभी भली भाँति परिचित हैं।

राज्य-रक्षा, अपने भोग-विलास, अपने परिवार की पुष्टि और सबसे बढ़कर, पुरोहितों की तुष्टि के लिए राजा लोग सूर्य की भाँति अपनी प्रजा का धन सोख लिया करते थे। बेचारे वैश्य लोग ही उनकी रसद और दुधार गाय थे।

प्रजा को कर उगाहने या राज्य-कार्य में मतामत प्रकट करने का अधिकार न हिन्दू राजाओं के समय में था और न बौद्ध शासकों के ही समय में। यद्यपि महाराज युधिष्ठिर वारणावत में वैश्यों और शूद्रों के घर गये थे, अयोध्या की प्रजा ने श्री रामचन्द्र को युवराज बनाने के लिए प्रार्थना की थी, सीता के वनवास तक के लिए छिप छिपकर सलाहें भी की थीं, तो भी प्रत्यक्ष रूप से, किसी स्वीकृत राज्य-नियम के अनुसार, प्रजा किसी विषय में मुँह नहीं खोल सकती थी। वह अपने सामर्थ्य को अप्रत्यक्ष और अव्यवस्थित रूप से प्रकट किया करती थी। उस शक्ति के अस्तित्व का ज्ञान उस समय भी उसे नहीं था। इसीसे उस शक्ति को संगठित करने का उसमें न उद्योग था और न इच्छा ही। जिस कौशल से छोटी छोटी शक्तियाँ आपस में मिलकर प्रचण्ड बल संग्रह करती हैं, उनका भी पूरा अभाव था।

क्या यह नियमों के अभाव के कारण था? नहीं। नियम और विधियाँ सभी थीं। कर-संग्रह, सैन्य-प्रबन्ध, विचार-सम्पादन, दण्ड-पुरस्कार आदि सब विषयों के लिए सैकड़ों नियम थे, पर सबकी जड़ में वही ऋषि-वाक्य, दैव शक्ति अथवा ईश्वर की प्रेरणा थी। न उन नियमों में ज़रा भी हेरफेर हो सकता था, और न प्रजा के लिए यही सम्भव था कि वह ऐसी शिक्षा प्राप्त करती, जिससे आपस में मिलकर लोक-हित के काम कर सकती, अथवा राज-कर के रूप में लिये हुए अपने धन पर अपना स्वत्व रखने की बुद्धि उसमें उत्पन्न होती, या यही कि उसके आय-व्यय के नियमन करने का अधिकार प्राप्त करने की इच्छा उसमें होती।

फिर ये सब नियम पुस्तकों में थे। और कोरी पुस्तकों के नियमों में तथा उनके कार्यरूप में परिणत होने में आकाश-पाताल का अन्तर होता है। सैकड़ों

---

१. बौद्ध धर्म ग्रहण करने पर अशोक का दूसरा नाम।

२. महाभारत में उल्लिखित सर्पयज्ञ जनमेजय ने ही सम्पादित किया था।

अग्निवर्णों[1] के पश्चात् एक रामचन्द्र का जन्म होता है। जन्म से चण्डाशोकत्व दिखानेवाले राजा अनेक होते हैं, पर धर्माशोकत्व[2] दिखानेवाले कम होते हैं। औरंगज़ेब जैसे प्रजाभक्षकों की अपेक्षा अकबर जैसे प्रजारक्षकों की संख्या बहुत कम होती है।

रामचन्द्र, युधिष्ठिर, धर्माशोक अथवा अकबर जैसे राजा हों भी तो क्या? किसी मनुष्य के मुँह में यदि सदा कोई दूसरा ही अन्न डाला करता हो, तो उस मनुष्य की स्वयं हाथ उठाकर खाने की शक्ति क्रमशः लुप्त हो जाती है। सभी विषयों में जिसकी रक्षा दूसरों द्वारा होती है, उसकी आत्मरक्षा की शक्ति कभी स्फुरित नहीं होती। सदा बच्चों की भाँति पलने से बड़े बलवान युवक भी लम्बे क़दवाले बच्चे ही बने रहते हैं। देवतुल्य राजा की बड़े यत्न से पाली हुई प्रजा भी कभी स्वायत्तशासन (Self-government) नहीं सीखती। सदा राजा का मुँह ताकने के कारण वह धीरे धीरे कमज़ोर और निकम्मी हो जाती है। यह पालन और रक्षण ही बहुत दिनों तक रहने से सत्यानाश का कारण होता है।

जो समाज महापुरुषों के अलौकिक, अतीन्द्रिय ज्ञान से उत्पन्न शास्त्रों के अनुसार चलता है, उसका शासन राजा-प्रजा, धनी-निर्धन, पण्डित-मूर्ख, सब पर क़ायम रहना विचार से तो सिद्ध होता है, पर यह कार्यरूप में कहाँ तक परिणत हो सका है, या होता है, यह ऊपर ही बताया जा चुका है। राज-

---

१. अग्निवर्ण एक सूर्यवंशी राजा था। यह अपनी प्रजा से मिलता नहीं था। रात-दिन अन्तःपुर में ही रहा करता था। अत्यधिक इन्द्रियपरता के कारण उसे यक्ष्मा रोग हो गया और उसीसे उसकी मृत्यु हुई।

२. भारत का एकच्छत्र सम्राट् अशोक। इसने ईसा से क़रीब तीन सौ वर्ष पहले राज्य किया था। भ्रातृ-हत्या इत्यादि नृशंस कार्यों के द्वारा राजसिंहासन प्राप्त करने के कारण यह पहले चण्डाशोक के नाम से प्रसिद्ध था। कहा जाता है कि सिंहासन-प्राप्ति के क़रीब नौ वर्ष बाद बौद्ध धर्म ग्रहण करने पर इसके स्वभाव में आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ। भारत तथा अन्यान्य देशों में बौद्ध धर्म का बहुल प्रचार इसीके द्वारा सम्पन्न हुआ। भारत, काबुल, ईरान तथा पैलेस्टाइन आदि देशों में अब तक जो स्तूप, स्तम्भ एवं पर्वतों पर अंकित आदेश आदि आविष्कृत हुए हैं, उनसे इस बात का प्रचुर प्रमाण मिलता है। इस धर्मानुराग और प्रजा-वात्सल्य के कारण ही यह बाद में 'देवानां पियो पियदशी' (देवताओं का प्रिय प्रियदर्शन) धर्माशोक के नाम से विख्यात हुआ।

कार्य में प्रजा की अनुमति लेने की पद्धति—जो आजकल के पाश्चात्य जगत् का मूल मन्त्र है और जिसकी अन्तिम वाणी अमेरिका के घोषणा-पत्र में डंके की चोट पर इन शब्दों में सुनायी गयी थी 'इस देश में प्रजा का शासन प्रजा द्वारा और प्रजा के हित के लिए होगा'—भारत में नहीं थी, यह बात भी नहीं है। यवन परिव्राजकों ने बहुत छोटे छोटे गणतंत्र राज्य इस देश में देखे थे। बौद्ध ग्रन्थों में भी इस बात का उल्लेख कहीं कहीं पाया जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ग्राम-पंचायतों में गणतांत्रिक शासन-पद्धति का बीज अवश्य था और अब भी अनेक स्थानों में है, पर वह बीज जहाँ बोया गया, वहाँ अंकुरित नहीं हुआ। यह भाव गाँव की पंचायत को छोड़कर समाज तक बढ़ ही नहीं सका।

धर्म-समाज के संन्यासियों में और बौद्ध भिक्षुओं के मठों में इस स्वायत्त शासन-पद्धति का विशेष रूप से विकास हुआ था। इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। नागा संन्यासियों में प्रत्येक मनुष्य के साम्प्रदायिक अधिकार को, पंचों की प्रभुता और प्रतिष्ठा को और उस सम्प्रदाय में सहयोग-शक्ति के कामों को देखकर आज भी चकित होना पड़ता है।

बौद्ध विप्लव के साथ साथ पुरोहित-शक्ति का ह्रास और राज-शक्ति का विकास हुआ। बौद्ध काल के पुरोहित संसार-त्यागी होते थे, मठों में वास करते थे तथा प्रपंच और झगड़ों से दूर रहा करते थे। राजाओं को अभिशाप या बाहुबल से अपने वश में रखने का उत्साह या इच्छा इन पुरोहितों की नहीं थी। यदि थी भी तो वह पूरी नहीं हो सकती थी, क्योंकि आहुतिभोजी देवताओं की अवनति के साथ साथ उनकी प्रतिष्ठा घट रही थी। सैकड़ों ब्रह्मा और इन्द्र बुद्धत्व पाये हुए नर-देव के चरणों पर लोटते थे और इस बुद्धत्व में मनुष्य मात्र का ही अधिकार था।

इसलिए राजप्रभुत्वरूपी बलवान यज्ञाश्व की बाग अब पुरोहितों की सख्त मुट्ठी में नहीं रही, अब वह अश्व अपने बल से स्वच्छन्द विचरण करने लगा। इस युग में शक्ति का केन्द्र सामगान और यज्ञ करनेवाले पुरोहितों में नहीं रहा, और न राजशक्ति छोटी छोटी रियासतों पर राज्य करनेवाले भारत के बिखरे हुए क्षत्रिय राजाओं में ही रही। वे चक्रवर्ती सम्राट्, जिनका राज्य देश के एक छोर से दूसरे छोर तक विस्तृत था और जिनकी आज्ञा का विरोध करनेवाला कोई नहीं था, वे ही अब मानव शक्ति के केन्द्र बने। इस समय समाज के नेता वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि नहीं रहे, वरन् चन्द्रगुप्त, अशोक आदि हुए। बौद्ध काल के सार्वभौम राजाओं की तरह भारत का गौरव

बढ़ानेवाले दूसरे कोई राजा भारत के सिंहासन पर नहीं बैठे। इस युग के अन्त में आधुनिक हिन्दू धर्म का और राजपूत आदि जातियों का अभ्युत्थान हुआ। इन लोगों के हाथ में भारत का राजदण्ड अपनी अखण्ड प्रतिष्ठा से गिरकर फिर टुकड़े टुकड़े हो गया। इस समय राज-शक्ति के सहायक रूप में पुरोहित-शक्ति का पुनः अभ्युत्थान हुआ।

इस विप्लव के समय पुरोहित-शक्ति और राज-शक्ति का वैदिक काल से चला आया और जैन-बौद्धों के विप्लव में बहुत बढ़े-चढ़े आकार में प्रकट वह पुराना वैर मिट गया। अब ये दोनों प्रबल शक्तियाँ एक दूसरे की सहायक हो गयीं। परन्तु अब ब्राह्मणों में न वह तेज ही रहा और न क्षत्रियों में वह प्रचण्ड बल ही। एक दूसरे की स्वार्थ-सिद्धि में सहायता देन, विपक्षियों का सर्वनाश करने तथा बौद्धों का नाम तक मिटाने में ही ये दो सम्मिलित शक्तियाँ अपने बल को गँवाती रहीं और तरह तरह से बँटकर प्रायः नष्ट सी हो गयीं। दूसरों का रक्त चूसना, धन हरण करना, वैर चुकाना आदि इन लोगों का नित्य का काम था। ये प्राचीन राजाओं के राजसूय आदि यज्ञों की थोथी नक़ल किया करते, भाटों और चारणों आदि ख़ुशामदियों के दल से घिरे रहते, और मन्त्र-तन्त्र के घोर शब्द-जाल में फँसे थे। इसका फल यह हुआ कि ये लोग पश्चिम से आये हुए मुसलमान व्याधों के सहज शिकार बन गये।

जिस पुरोहित-शक्ति की लड़ाई राज-शक्ति के साथ वैदिक काल से ही चली आ रही थी, जिस शक्ति की प्रतिस्पर्धा को भगवान् श्री कृष्ण ने अपनी अमानव प्रतिभा से अपने समय में मिटा सा ही दिया था, जो पुरोहित-शक्ति जैन और बौद्ध विप्लव के समय भारत के कर्मक्षेत्र से प्रायः लुप्त सी हो गयी थी अथवा जिसने उन प्रबल प्रतिस्पर्धी धर्मों की दासता स्वीकार कर किसी तरह अपने दिन काटे थे, जिस पुरोहित-शक्ति ने मिहिरकुल[1] आदि के भारत विजय करने पर कुछ दिन तक अपना पहला अधिकार फिर प्राप्त करने के लिए पूरा प्रयत्न किया था और इसके लिए मध्य एशिया से आयी हुई निष्ठुर बर्बर सेनाओं के अधीन होकर उनकी घृणित रीति-नीतियों को अपने देश में प्रचलित किया था तथा साथ ही साथ जिस पुरोहित-शक्ति ने उन निरक्षर बर्बरों को प्रसन्न रखने के लिए ठगने के सरल उपाय मन्त्र-तन्त्रा-दिक की शरण ली थी और इस कारण अपनी विद्या, बल और सदाचार को बिल्कुल खोकर आर्यावर्त को कुत्सित, गन्दे बर्बराचार का एक बड़ा दलदल

---

१. हूणजातीय राजा।

बनाया एवं कुसंस्कार और अनाचार के निश्चित फलस्वरूप जो निस्सार और अत्यन्त दुर्बल हो गयी थी, वही पुरोहित-शक्ति पश्चिम से आयी हुई मुसलमान आक्रमणरूपी आँधी के स्पर्श मात्र से चूर चूर होकर भूमि पर गिर गयी। अब, फिर वह कभी उठेगी या नहीं, कौन जाने?

मुसलमानों के समय में इस शक्ति का फिर सिर उठाना असम्भव था। मुहम्मद साहब स्वयं इसके पूरे विरोधी थे। इसे समूल नष्ट करने के लिए वे नियम आदि भी बना गये हैं। मुसलमानों के राज्य में राजा स्वयं प्रधान पुरोहित रहा है। वही धर्मगुरु (ख़लीफ़ा) रहा है और सम्राट् होने पर प्रायः सारे मुसलमान जगत् के नेता होने की आशा रखता है। मुसलमानों के लिए यहूदी या ईसाई अधिक घृणा के पात्र नहीं हैं; वे केवल अल्पविश्वासी ही हैं, पर हिन्दू लोग तो काफ़िर और मूर्ति-पूजक होने से इस जीवन में बलिदान, और मृत्यु के बाद अनन्त नरक के भागी समझे जाते हैं। इन्हीं काफ़िरों के धर्मगुरुओं अर्थात् पुरोहितों को किसी प्रकार जीवन धारण करने की आज्ञा मात्र मुसलमान राजा दया कर दे सकते थे और वह भी कभी कभी; नहीं तो जहाँ राजा की धर्मप्रियता की मात्रा ज़रा भी बढ़ी कि काफ़िरों की हत्यारूपी महायज्ञ का आयोजन हो जाता था।

एक ओर राज-शक्ति अब विधर्मी और भिन्न आचारवाले प्रबल राजाओं में आयी और दूसरी ओर पुरोहित-शक्ति अब समाज-शासन के ऊँचे पद से एकदम गिर गयी। क़ुरान की दण्डनीति अब मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों के स्थान पर आ डटी! अरबी और फ़ारसी भाषाओं ने संस्कृत की जगह ली। संस्कृत भाषा अब विजित और घृणित हिन्दुओं के धार्मिक कृत्यों के ही काम की रही और इसीलिए पुरोहितों के हाथ में किसी तरह जीवन-यापन करने लगी। पुरोहित-शक्ति अब विवाह आदि संस्कार कराकर ही सन्तोष मानने लगी और यह भी मुसलमान राजाओं की कृपादृष्टि रहने तक ही।

पुरोहित-शक्ति के दबाव के कारण राज-शक्ति का विकास वैदिक काल में और उसके कुछ दिनों बाद तक न हो सका था। हम लोग देख चुके हैं कि बौद्ध विप्लव के बाद किस प्रकार पुरोहित-शक्ति के विनाश के साथ ही भारत की राज-शक्ति का पूर्ण विकास हुआ। बौद्ध साम्राज्य के पतन और मुसलमान साम्राज्य की स्थापना के बीच में राजपूतों ने राज-शक्ति को पुनः स्थापित करने की जो चेष्टा की थी, वह इसलिए असफल हुई कि पुरोहित-शक्ति ने इस समय फिर नया जीवन पाने का प्रयत्न किया था।

मुसलमान राजा पुरोहित-शक्ति को दबाकर ही मौर्य, गुप्त, आन्ध्र, क्षत्रप[1] आदि राजाओं की गौरव-श्री की छटा फिर से दिखा सके थे।

इस प्रकार भारत की पुरोहित-शक्ति जिसका नियन्त्रण कुमारिल, शंकर, रामानुज आदि ने किया था, जिसकी रक्षा राजपूतों आदि के बाहुबल से हुई थी और जिंसने बौद्धों और जैनों का संहार कर पुनर्जीवन प्राप्त करने की चेष्टा की थी, वही शक्ति मुसलमान काल में मानो सदा के लिए सो गयी। इस समय वैर-विरोध केवल राजा और राजा में ही रहा। इस काल के अन्त में जब हिन्दू-शक्ति वीर मराठों या सिक्खों के हाथ आयी और ये हिन्दू धर्म को किसी अंश में पुनः स्थापित कर सके, तब भी पुरोहित-शक्ति का उससे विशेष सम्बन्ध नहीं था। सिक्ख लोग तो जब किसी ब्राह्मण को अपने सम्प्रदाय में लेते हैं, तब उससे स्पष्ट रूप से ब्राह्मण-चिह्न का परित्याग कराकर उसे अपने धर्म-चिह्न से भूषित करते हैं।

इस प्रकार अनेक संघर्षों के बाद राज-शक्ति की अन्तिम जय-घोषणा विधर्मी राजाओं के नाम पर भारत-गगन में कई शताब्दियों तक गूँजती रही, परन्तु इस युग के अन्त में एक नयी शक्ति धीरे धीरे इस देश में अपना प्रभाव फैलाने लगी।

यह शक्ति भारतवासियों के लिए ऐसी नयी है, और इसका जन्म-कर्म इतना कम समझ में आता है और इसका प्रभाव इतना प्रबल है कि भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक इसके राज्य करते रहने पर भी थोड़े से ही भारतवासी समझते हैं कि यह शक्ति क्या है।

यह बात भारत पर इंग्लैण्ड के अधिकार की है।

इस देश का विशाल धन और हरी-भरी खेती विदेशियों के मन में बहुत पुराने समय से अधिकार की लालसा उत्पन्न करती आ रही है। भारतवासी विजातियों द्वारा बारम्बार पददलित हुए हैं। तो फिर हम लोग भारत पर इंग्लैण्ड के अधिकार को एक अपूर्व घटना क्यों मानते हैं?

धर्म, मंत्र और शास्त्र के बल से बलवान, शापरूपी अस्त्र से सज्जित तथा सांसारिक स्पृहाशून्य तपस्वियों के भ्रू-भंग के सामने प्रतापी राजाओं का काँपना भारतवासी सनातन काल से देखते आये हैं। फिर सेना और शस्त्रों से सजे हुए वीर राजाओं के अकुण्ठित वीर्य और एकाधिकार के सामने प्रजा का—सिंह के सामने बकरियों की भाँति—सिर झुकाये खड़ा रहना भी उन्होंने

---

१. आर्यावर्त और गुजरात के फ़ारस से आये हुए सम्राट।

अवश्य देखा था। पर धनवान होकर भी जो वैश्य, राजाओं की कौन कहे, राजकुटुम्बियों तक के सामने सदा भयभीत हो हाथ जोड़े खड़े रहते थे, उन्हींमें से कुछ लोगों का साथ मिलकर व्यापार करने की इच्छा से नदियाँ और समुद्र पार कर यहाँ आना और अपनी बुद्धि और धन-बल से धीरे धीरे चिर प्रतिष्ठित हिन्दू-मुसलमान राजाओं को अपने हाथ की कठपुतलियाँ बना लेना, यही नहीं, धन के बल से अपने देश के राज-कुटुम्बियों तक से अपना दासत्व स्वीकार कराकर उनकी शूरता और विद्या-बल को धन उपार्जन करने का अपना साधन बना लेना, और जिस देश के महाकवि की दिव्य लेखनी द्वारा चित्रित गर्वित लॉर्ड एक साधारण व्यक्ति से कहता है कि 'दूर हो नीच! तू एक सरदार के पवित्र शरीर को छूने का साहस करता है!'—उसी देश के उन्हीं प्रतापी सरदारों के वंशजों का थोड़े ही समय में ईस्ट इण्डिया कम्पनी नाम के वणिक-दल के आज्ञाकारी दास बनकर भारत में आने को परम गौरव समझना भारतवासियों ने कभी नहीं देखा था।

सत्त्व, रज आदि तीन गुणों के तारतम्य से ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चार वर्ण उत्पन्न होते हैं और ये चारों वर्ण अनादि काल से सभी सभ्य समाज में विद्यमान हैं। काल-प्रभाव से और देश-भेद से किसी वर्ण की शक्ति या संख्या दूसरों की अपेक्षा बढ़ या घट सकती है, परन्तु संसार के इतिहास का अनुशीलन करने से प्रतीत होता है कि प्राकृतिक नियमों के वश ब्राह्मण आदि चारों वर्ण क्रम से पृथ्वी का भोग करेंगे।

चीनी, सुमेरी, बेबिलोनी, मिस्र, कैल्डियानिवासी, आर्य, ईरानी, यहूदी और अरबी आदि जातियों में समाज की बागडोर प्रथम युग में ब्राह्मण या पुरोहित के हाथ में थी। दूसरे युग में क्षत्रियों का अर्थात् राजकुल या एकाधिकारी राजाओं का अभ्युत्थान हुआ।

वैश्यों के या वाणिज्य से धनवान होनेवाले सम्प्रदाय के हाथों में समाज का शासन-सूत्र पहले-पहल इंग्लैण्ड-प्रमुख पाश्चात्य देशों में आया है।

यद्यपि प्राचीन ट्रॉय और कार्थेज और उनकी अपेक्षा अर्वाचीन वेनिस और अन्य छोटे छोटे व्यापार करनेवाले देश बड़े ही प्रतापशाली हुए थे, तो भी वैश्यों का यथार्थ अभ्युत्थान इन देशों में नहीं हुआ था।

पुराने समय में राजघराने के लोग ही नौकरों और अन्य साधारण लोगों द्वारा व्यापार कराते थे और उसका लाभ स्वयं प्राप्त करते थे। इन इने-गिने मनुष्यों को छोड़कर दूसरे किसीको देश-शासन आदि के कामों में मुँह खोलने का अधिकार नहीं था। मिस्र आदि प्राचीन देशों में ब्राह्मण-शक्ति

थोड़े ही समय तक प्रधान शक्ति रही। उसके बाद वह राज-शक्ति के अधीन और उसकी सहकारी बनकर रहने लगी। चीन में कन्फ़्यूशस[1] की प्रतिभा द्वारा गठी हुई राज-शक्ति ढाई हज़ार वर्षों से भी अधिक काल से पुरोहित-शक्ति को अपनी इच्छानुसार चलाती आ रही है। गत दो सौ वर्षों से तिब्बत के सर्वग्रासी लामा लोग राजगुरु होकर भी सब प्रकार से चीनी सम्राट् के अधीन होकर दिन काट रहे हैं।

भारत में राज-शक्ति की जय और उन्नति दूसरे पुराने सभ्य देशों से बहुत दिनों बाद हुई। इसीलिए मिस्री, बेबिलोनी और चीनी साम्राज्यों के बहुत दिनों बाद भारत-साम्राज्य स्थापित हुआ। एक यहूदी जाति में राज-शक्ति अनेक प्रयत्न करने पर भी पुरोहित-शक्ति पर अपना अधिकार बिल्कुल न जमा सकी। वैश्यों ने भी उस देश में कभी प्राधान्य नहीं पाया। प्रजा ने पुरोहितों के बन्धनों से छूटने की चेष्टा की थी। परन्तु भीतर ईसाई आदि धर्म-सम्प्रदायों के संघर्ष से और बाहर बलवान रोम-साम्राज्य के दबाव से वह मृतप्राय हो गयी।

जिस प्रकार पुराने युग में राज-शक्ति के सामने ब्राह्मण-शक्ति को बहुत प्रयत्न करने पर भी हार माननी पड़ी, उसी प्रकार वर्तमान युग में हुआ। इस नयी वैश्य-शक्ति के प्रबल आघात से कितने ही राजमुकुट धूल में जा मिले और कितने ही राजदण्ड सदा के लिए टूट गये। जो कोई सिंहासन सभ्य देशों में किसी तरह बच गया, वह इसलिए कि इससे इन्हीं नमक, तेल, चीनी या सुरा बेचनेवालों को अपने कमाये प्रचुर धन से अमीर और सरदार बनकर अपना गौरव दिखाने का मौक़ा मिला।

वह नयी महाशक्ति जिसका राजपथ पहाड़ों जैसी ऊँची तरंगोंवाला समुद्र है, जिसके प्रभाव से बिजली बात की बात में एक मेरु से दूसरे मेरु तक खबर ले जाती है, जिसके प्रबन्ध से एक देश का माल दूसरे देश में अनायास पहुँच जाता है और जिसके आदेश से सम्राट् तक थरथर काँपते हैं, संसार-समुद्र के उसी सर्वजयी वैश्य-शक्ति के अभ्युत्थानरूपी महातरंग की चोटीवाले सफ़ेद झागों में इंग्लैण्ड का सिंहासन विराजमान है।

इसलिए भारत पर इंग्लैण्ड की विजय—जैसा हम लोग बचपन में सुना करते थे, ईसा मसीह या बाइबिल की विजय नहीं है, और न पठान-मुग़ल आदि बादशाहों की विजय की भाँति ही है। ईसा मसीह, बाइबिल, राजप्रासाद,

---

१. चीन देश के एक प्राचीन धर्म और नीति-संस्कारक।

अनेक प्रकार से सजी-सजायी बड़ी बड़ी सेनाओं का सगर्व कूच तथा सिंहासन का विशेष आडम्बर आदि—इन सबके पीछे असली इंग्लैण्ड विद्यमान है। उस इंग्लैण्ड की ध्वजाएँ पुतलीघरों की चिमनियाँ हैं, उसकी सेना व्यापारी जहाज़ हैं, उसका लड़ाई का मैदान संसार का बाज़ार है और उसकी रानी स्वयं स्वर्णांगी लक्ष्मी है।

इसीलिए ऊपर कहा है कि भारत पर इंग्लैण्ड का अधिकार एक बड़ी ही अपूर्व घटना है। इस नयी महाशक्ति के संघर्ष से भारत में कौन कौन नये विप्लव और उसके फलस्वरूप क्या क्या नये परिवर्तन होंगे, इसका भारत के पूर्वकालिक इतिहास से अनुमान करना भी कठिन है।

यह पहले कहा जा चुका है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चारों ही वर्ण यथाक्रम पृथ्वी का भोग करते हैं। प्रत्येक वर्ण के प्रभुत्व-काल में कुछ हितकर और कुछ अहितकर काम हो जाया करते हैं।

पुरोहित-शक्ति बुद्धिबल पर ही खड़ी है, न कि बाहुबल पर। इसलिए पुरोहितों के प्राधान्य के साथ साथ विद्या का प्रचार होता है। इन्द्रियों की जहाँ गति नहीं, उस आध्यात्मिक जगत् की बात जानने और वहाँ की सहायता पाने के लिए मनुष्य सदा व्याकुल रहते हैं। साधारण लोगों का वहाँ प्रवेश नहीं। संयमी, इन्द्रियों के पार देखनेवाले और सत्त्वगुणी पुरुष ही उस राज्य में जाते हैं, वहाँ का समाचार लाते हैं और दूसरों को मार्ग दिखाते हैं। ये ही लोग पुरोहित हैं और मनुष्य-समाज के प्रथम गुरु, नेता और परिचालक हैं।

देवज्ञ पुरोहित देवता के समान पूजे जाते हैं। एड़ी-चोटी का पसीना एक कर उन्हें जीविका नहीं प्राप्त करनी पड़ती। सब भोगों में अग्र भाग देवताओं को प्राप्य है, और देवताओं के मुख पुरोहित हैं। समाज उन्हें जाने-अनजाने प्रचुर अवकाश देता है, और इससे वे लोग चिन्ताशील हुआ करते हैं। इसी कारण पहले-पहल विद्या की उन्नति पुरोहितों के प्राधान्य-काल में होती है। दुर्धर्ष क्षत्रियसिंह और भयकम्पित प्रजा-अजा-यूथ के बीच में पुरोहित दंडायमान रहते हैं। सिंह की सब कुछ नाश करने की इच्छा पुरोहितों के हाथ के अध्यात्म-बल रूपी कशाघात से रोकी जाती है। धन-जन के मद से मत्त राजाओं की यथेच्छाचार रूपी आग की लपट सब किसीको जला सकती है, परन्तु धन-जनविहीन, तपोबल मात्र का भरोसा रखनेवाले पुरोहितों के वचन रूपी पानी से वह आग बुझ जाती है। इनके प्रभुत्व-काल में सभ्यता का प्रथम आविर्भाव, पशुत्व के ऊपर देवत्व की प्रथम विजय, जड़ के ऊपर चैतन्य का प्रथम अधिकार और प्रकृति के खिलौने, मिट्टी के लोंदे जैसे मनुष्य-शरीर में छिपे हुए ईश्वरत्व का प्रथम विकास होता है। जड़ और चैतन्य को पहले-पहल अलग करनेवाले, इहलोक और परलोक को

मिलानेवाले, देव और मनुष्य के दूत, एवं राजा और प्रजा के बीच के पुल यही पुरोहित हैं। कितने ही कल्याणों के अंकुर इन्हींके तपोबल, इन्हींके विद्या-प्रेम, इन्हींके त्याग और इन्हींके प्राण-सिंचन से पनपते हैं। इसीलिए सब देशों में पहली पूजा इन्हींने पायी है और इसीलिए इनकी स्मृति भी हम लोगों के लिए पवित्र है।

पर साथ ही दोष भी हैं। प्राण-स्फूर्ति के साथ ही साथ मृत्युबीज भी बोया जाता है। अन्धकार और प्रकाश साथ ही साथ चलते हैं। बहुत से ऐसे प्रबल दोष हैं, जो उचित समय पर यदि दूर न किये जायँ, तो समाज के विनाश के कारण हो जाते हैं। स्थूल पदार्थों द्वारा शक्ति का विकास सब कोई देखते हैं। अस्त्र-शस्त्र का छेदना, अग्नि आदि का जलाना या दूसरी क्रिया—ये सब बातें स्थूल प्रकृति के प्रबल संघर्ष में आकर सब कोई देखते और समझते हैं। इनमें किसीको सन्देह नहीं होता है, मन में दुविधा तक नहीं रहती है। परन्तु जहाँ शक्ति का आधार या विकास-स्थान केवल मानसिक है, जहाँ बल किसी शब्द में या उसके विशेष उच्चारण या जप में है अथवा किसी दूसरे मानसिक प्रयोग में है, वहाँ प्रकाश अन्धकार के साथ मिला रहता है। वहाँ विश्वास का घटना और बढ़ना स्वाभाविक है। प्रत्यक्ष में भी कभी कभी वहाँ सन्देह हो जाता है। जहाँ रोग, शोक और भय को दूर करने या वैर साधने के लिए साधारण प्रत्यक्ष स्थूल उपायों को छोड़कर केवल स्तम्भन, उच्चाटन, वशीकरण या मारण आदि का आश्रय लिया जाता है[1], वहाँ स्थूल और सूक्ष्म के बीच के इस कुहरे से ढके रहस्यमय जगत् में वास करनेवालों के मन में भी मानो आप से आप धुंध छा जाती है। ऐसे मन के सामने सरल रेखा प्रायः पड़ती ही नहीं। यदि पड़ती भी है, तो मन उसे टेढ़ी कर लेता है। इसका फल यह होता है कि कपटता, हृदय की घोर संकीर्णता, अनुदारता और सबसे अधिक हानिकारक प्रचण्ड ईर्ष्या से पैदा हुई असहिष्णुता उनमें आ जाती है।' पुरोहित के मन में यह विचार स्वाभाविक उठता है कि जिस बल से देवता मेरे वश में हैं, रोग आदि के ऊपर मेरा अधिकार है, भूत-प्रेतादि के ऊपर मेरी विजय है, और जिसके बदले मुझे संसार की सुख-स्वच्छन्दता और ऐश्वर्य प्राप्त हैं, उसे मैं दूसरों को क्यों दूँ? फिर यह बल बिल्कुल मानसिक है। इसे छिपाने में सुविधा कितनी है! इस घटना-चक्र में पड़कर मनुष्य का स्वभाव जैसा हो सकता है, वैसा ही हो जाता है; सदा आत्म-गोपन का अभ्यास करते करते स्वार्थपरता

---

१. इन तांत्रिक प्रयोगों से किसी व्यक्ति की शक्तियों को विजड़ित किया जाता था, उसके मन को किसी वस्तु या व्यक्ति से हटा दिया जाता था, उसको अपने वश में किया जाता था अथवा उसकी मृत्यु को ही बुलाया जाता था।

और कपटता आ जाती है और फिर, उनके विषैले फल। कुछ समय बाद इस आत्म-गोपन की प्रतिक्रिया भी उन पर आ पड़ती है। बिना अभ्यास और वितरण के प्रायः सभी विद्याएँ नष्ट हो जाती हैं और जो बच भी जाती हैं, वे अलौकिक दैवी उपाय से प्राप्त समझी जाने के कारण उनके सुधारने का प्रयत्न भी व्यर्थ समझा जाता है, नयी विद्या सीखना तो अलग रहा। उसके बाद वह विद्याहीन, पुरुषार्थहीन और अपने पूर्वजों का नाम मात्र रखनेवाला पुरोहित-कुल अपने पैतृक अधिकार, पैतृक सम्मान और पैतृक आधिपत्य को बनाये रखने के लिए जिस-तिस उपाय से यत्न करता है। इसीलिए उसका अन्य जातियों के साथ बड़ा विरोध होता है।

प्राकृतिक नियमानुसार, जराजीर्ण की स्थान-पूर्ति करने के लिए नव जाग्रत शक्ति की स्वाभाविक प्रचेष्टा के फलस्वरूप यह संग्राम आ उपस्थित होता है। इस संग्राम का फल ऊपर बताया जा चुका है।

उन्नति के समय में पुरोहितों का जो संयम, तप और त्याग सत्य की खोज में पूरा पूरा लगा था, वही अवनति के पूर्व काल में केवल भोग्य के संग्रह करने एवं अधिकार के फैलाने में व्यय होने लगा। जिस शक्ति का आधार होने के कारण उनकी पूजा होती थी, वही शक्ति अब स्वर्ग से नरक को जा गिरी। अपने उद्देश्य को भूलकर पुरोहित-शक्ति रेशम के कीड़ों की तरह अपने ही जाल में आप फँस गयी। जो बेड़ी दूसरों के पैरों के लिए अनेक पीढ़ियों से बड़े यत्न से गढ़ी जा रही थी, वही अब उन पुरोहितों की ही गति को सैकड़ों फेरों से रोकने लगी। बाह्य शुद्धि के लिए छोटे छोटे आचारों का जो जाल समाज को बुरी तरह फँसा रखने के लिए चारों ओर फैलाया गया था, उसीकी रस्सियों में सिर से पैर तक फँसकर पुरोहित-शक्ति हताश सी हो गयी है। उससे निकलने का कोई उपाय भी नहीं दिखता है। इस जाल को काटने से पुरोहितों की पुरोहिताई बचती नहीं। जो पुरोहित इस कठोर बन्धन में अपनी स्वाभाविक उन्नति की इच्छा को बहुत दबी हुई देखते हैं, और इसलिए इस जाल को काटकर अन्य जातियों की वृत्ति का अवलम्बन कर धन उपार्जन करते हैं, उनकी पुरोहिताई के अधिकार को समाज तुरन्त छीन लेता है। आधी यूरोपीय पोशाक और रहन-सहन, तथा सँवारे हुए बाल रखनेवाले ब्राह्मणों के ब्राह्मणत्व में समाज को विश्वास नहीं है। फिर भारत में यह नवागत पाश्चात्य राज्य-शिक्षा और धनार्जन की विभिन्न प्रणालियाँ जहाँ जहाँ फैल रही हैं, वहीं अपने वंशगत पुरोहित-व्यवसाय को छोड़कर हज़ारों ब्राह्मण युवक अन्य जातियों की वृत्ति का अवलम्बन कर धनवान हो रहे हैं; साथ ही उन पुरोहित पूर्वजों के आचार-व्यवहार एकदम रसातल को जा रहे हैं।

गुजरात में ब्राह्मणों के प्रत्येक अवान्तर सम्प्रदाय में दो भाग हैं। एक पुरोहित व्यवसायियों का और दूसरा अन्य वृत्तिवालों का। पुरोहित-व्यवसायी सम्प्रदाय ही उस प्रान्त में ब्राह्मण कहलाता है। दूसरा सम्प्रदाय यद्यपि एक ही ब्राह्मण-कुल से उत्पन्न हुआ है, तो भी पुरोहित ब्राह्मण उससे वैवाहिक सम्बन्ध नहीं रखते। जैसे 'नागर ब्राह्मण' कहने से वे ही ब्राह्मण समझे जाते हैं, जो भिक्षावृत्ति से पुरोहित हैं, और केवल 'नागर' कहने से वे, जो राज-कर्मचारी या वैश्यवृत्ति के हैं। परन्तु अब यह दिखायी दे रहा है कि उस प्रान्त में भी यह भेद बहुत कुछ ढीला पड़ गया है। नागर ब्राह्मणों के लड़के भी अब अंग्रेज़ी पढ़ पढ़कर राज-कर्मचारी हो रहे हैं, या व्यापार आदि कर रहे हैं। संस्कृत चतुष्पाठियों के अध्यापक भी सब कष्ट सहकर अपने लड़कों को विश्वविद्यालयों में भेज रहे हैं और उनसे कायस्थों और वैश्यों की वृत्ति का अवलम्बन करा रहे हैं। यदि स्रोत इसी प्रकार बहता रहा, तो वर्तमान पुरोहित जाति कितने दिनों तक इस देश में और ठहर सकेगी, यह सोचने का विषय है। जो लोग किसी विशेष व्यक्ति या सम्प्रदाय पर ब्राह्मण जाति को अधिकारच्युत करने का दोष मढ़ते हैं, उन्हें भी जानना चाहिए कि ब्राह्मण जाति अटल प्राकृतिक नियमों के अनुसार ही अपना समाधि-मन्दिर आप ही बना रही है। यही कल्याणकर है, क्योंकि प्रत्येक ऊँची जाति का अपने ही हाथों से अपनी चिता बनाना प्रधान कर्तव्य है।

शक्ति-संचय जितना आवश्यक है, शक्ति-प्रसार भी उतना ही या उससे भी अधिक आवश्यक है। हृत्पिण्ड में रक्त का एकत्र होना तो आवश्यक है ही, पर उसका यदि सारे शरीर में संचालन न हुआ तो मृत्यु निश्चित है। समाज के कल्याण के लिए कुल तथा जातिविशेष में विद्या और शक्ति का एकत्र होना कुछ समय के लिए परम आवश्यक है, परन्तु वह शक्ति सर्वत्र फैलने के लिए ही एकत्र हुई है। यदि ऐसा न हुआ, तो समाज-शरीर अवश्य तुरन्त ही नष्ट हो जायगा।

दूसरी ओर, राजा में पशुराज के सब गुण-दोष विद्यमान हैं। क्षुधा-तृप्ति के के लिए सिंह के विकराल नख आदि घास-पात खानेवाले पशुओं के कलेजों को फाड़ने में तनिक भी देर नहीं करते; फिर कवि कहता है कि भूखा और बूढ़ा होने पर भी सिंह अपने चरणों पर गिरे हुए सियार को कभी नहीं खाता। राजा की भोगेच्छा में बाधा डालने से ही प्रजा का सत्यानाश होता है। यदि वह विनीत हो, राजा की आज्ञाएँ शिरोधार्य करे, तो वह सकुशल है। केवल यही नहीं, समस्त समाज के एक ही अभिप्राय और प्रयत्न होने का अथवा सार्वजनिक अधिकारों की रक्षा के लिए व्यक्तिगत स्वार्थत्याग का भाव किसी देश में, प्राचीन समय में तो क्या, आज भी पूरी तरह उपलब्ध नहीं हुआ है। इसीलिए समाज ने राजा रूपी शक्ति-

केन्द्र की सृष्टि की। समाज की शक्ति उसी केन्द्र में एकत्र होती और वहीं से चारों ओर सारे समाज में फैलती है। जिस प्रकार ब्राह्मणों के प्राधान्य काल में ज्ञानेच्छा का पहला उन्मेष और बचपन में उसका यत्नपूर्वक पालन हुआ, उसी प्रकार क्षत्रियों के प्रभुत्व-काल में भोगेच्छा की पुष्टि और उसकी सहायता करनेवाली शिल्प-कलाओं की सृष्टि तथा उन्नति हुई।

महिमान्वित राजा क्या पर्णकुटियों में अपना ऊँचा सिर छिपाये रख सकता है, अथवा साधारण लोगों को मिलनेवाले भोज्यादि से क्या उसकी तृप्ति हो सकती है ?

नरलोक में जिसकी महिमा की तुलना नहीं है और जिसमें देवत्व भी आरोपित है, उसके भोग की वस्तुओं की ओर ताकना भी साधारण लोगों के लिए महापाप है, उनके पाने की इच्छा की तो बात ही क्या ? राज-शरीर साधारण शरीर जैसा नहीं है, उसे अशौच आदि दोष नहीं लगते, अनेक देशों में तो यह विश्वास है कि उस शरीर की मृत्यु भी नहीं होती। इसलिए 'असूर्यंम्पश्यरूपा' राजमहिलाएँ भी परदों में रहा करती हैं, जिससे जनसाधारण की आँखें उन पर न पड़ें।

इस कारण पर्णकुटियों के स्थान पर अट्टालिकाएँ बनीं और गँवारू कोलाहल की जगह कला-कौशलवाले मधुर संगीत का पृथ्वी पर आगमन हुआ। सुहावनी वाटिकाएँ, चित्त हरनेवाले चित्र, सुन्दर मूर्तियाँ, महीन रेशमी कपड़े, ये सब धीरे धीरे प्राकृतिक जंगलों का स्थान लेने लगे। लाखों बुद्धिजीवी मनुष्य खेती के कठिन कामों को छोड़कर थोड़े शारीरिक श्रम से बननेवाली और सूक्ष्म बुद्धि का चमत्कार दिखानेवाली सैकड़ों कलाओं की ओर झुके। ग्राम का गौरव जाता रहा। नगर का आविर्भाव हुआ।

फिर भारत में अनेक राजा विषय-भोग से ऊबकर अन्त में अरण्य में चले जाया करते थे और वहाँ रहकर अध्यात्म विषय की गम्भीर आलोचना किया करते थे। इतने भोगों के बाद वैराग्य अवश्य आयेगा। उस वैराग्य और गम्भीर दार्शनिक चिन्ता से अध्यात्म तत्त्व में एकान्त अनुराग और मन्त्र-बहुल क्रिया-काण्ड से अत्यन्त घृणा उत्पन्न होती थी, जिसका परिचय उपनिषद्, गीता एवं जैन और बौद्ध धर्मग्रन्थ अच्छी तरह देते हैं। यहाँ पर भी पुरोहित-शक्ति और राज-शक्ति में भारी कलह उपस्थित हुआ। कर्मकाण्ड के लोप होने से पुरोहितों का वृत्ति-नाश होता है, इसीलिए प्राचीन रीति-नीतियों की प्राणपण से रक्षा करना सब युगों और देशों के पुरोहितों के लिए स्वाभाविक है। पर जनक जैसे बाहुबल और आध्यात्मिक-बल-सम्पन्न राजा उसके विरोध के लिए खड़े थे। उस बड़े संघर्ष की बात पहले कही जा चुकी है।

जिस प्रकार पुरोहित लोग सारी विद्याओं को अपने में ही एकत्र करना चाहते

हैं, उसी प्रकार राजा लोग भी समस्त पार्थिव शक्तियों को अपने में ही केन्द्रित करने का यत्न करते हैं। इन दोनों ही से लाभ है। दोनों यथासमय समाज के कल्याण के लिए आवश्यक हैं; पर वह केवल समाज के बचपन में। जवानी के शरीर में समाज को बलपूर्वक लड़कपन के कपड़े पहनाने से वह या तो अपने तेज-बल से उसे फाड़कर आगे बढ़ता है, अथवा उसमें यदि असमर्थ हुआ तो, फिर धीरे धीरे असभ्य अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

राजा अपनी प्रजा का माता-पिता है। प्रजा उसकी सन्तान है। प्रजा को पूरी तरह राजाश्रित रहना चाहिए और राजा को भी पक्षातीत भाव से प्रजा का अपनी सन्तान की तरह पालन करना चाहिए। परन्तु जो नीति घर घर के लिए उपयुक्त है, वही सारे समाज पर भी लागू है। समाज घरों की समष्टि मात्र है। जब पुत्र सोलह वर्ष का हो जाय, तब यदि पिता को उसके साथ मित्र की भाँति बर्ताव करना चाहिए, तो फिर समाजरूपी बच्चा क्या सोलह वर्ष की अवस्था कभी प्राप्त ही नहीं करता?[1] इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रत्येक समाज किसी समय उस जवानी को अवश्य प्राप्त करता है, और सभी समाजों में शक्तिमान शासकों और जनता में कलह उपस्थित होता है। इसी युद्ध के परिणाम पर समाज का जीवन, उसका विकास और उसकी सभ्यता निर्भर है।

यह विप्लव भारत में भी बार बार हुआ करता है पर धर्म के नाम से, क्योंकि यह देश धर्मप्राण है; धर्म ही इसकी भाषा और सब उद्योगों का चिह्न है। चार्वाक, जैन और बौद्ध, शंकर, रामानुज और चैतन्य के पन्थ, तथा कबीर, नानक, ब्राह्म समाज, आर्य समाज आदि सभी सम्प्रदायों में धर्म की फेनमय, वज्र की भाँति गरजनेवाली तरंगें सामने हैं, और सामाजिक अभावों की पूर्ति उनके पीछे है। यदि कुछ अर्थहीन शब्दों के उच्चारण से ही सारी कामनाएँ सिद्ध होती हैं, तो फिर अपनी इष्ट-सिद्धि के लिए कौन कष्टसाध्य पुरुषकार का सहारा लेगा? और यदि यह रोग सारे समाज-शरीर में प्रवेश कर जाय, तो समाज बिल्कुल उद्यमहीन होकर विनष्ट हो जायगा। इसीलिए प्रत्यक्षवादी चार्वाकों की चुभनेवाली चुटकियाँ शुरू हुईं। पशुमेध, नरमेध, अश्वमेध आदि विस्तृत कर्मकाण्ड के दम घोंटनेवाले भार से समाज का उद्धार सदाचारी और ज्ञानाश्रयी जैनों के अतिरिक्त और कौन

---

१. चाणक्य के राजनीति सम्बन्धी ग्रन्थ में कहा गया है—'बच्चे का, पाँच वर्ष की अवस्था तक लालन और फिर दस वर्ष तक उसका ताड़न किया जाना चाहिए, और जब लड़का सोलह वर्ष का हो, तो उससे मित्र के समान व्यवहार किया जाना चाहिए।

कर सकता था? उसी तरह, बलवान अधिकारी जातियों के दारुण अत्याचार से निम्न श्रेणियों के मनुष्यों को बौद्ध विप्लव के अतिरिक्त और कौन बचा सकता था? कुछ समय के बाद जब बौद्ध धर्म का महान् सदाचार घोर अनाचार में परिणत हुआ और साम्यवाद की अधिकता से उस सम्प्रदाय में आये हुए विविध बर्बर जातियों के पैशाचिक नृत्य से समाज काँपने लगा, तब पूर्व भाव को यथासम्भव पुनः स्थापित करने के लिए शंकर और रामानुज ने प्रयत्न किया। फिर कबीर, नानक, चैतन्य, ब्राह्म समाज और आर्य समाज का यदि जन्म न होता, तो आज भारत में हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमान और ईसाइयों की संख्या निःसन्देह बहुत अधिक होती।

अनेक धातुओं द्वारा बने हुए इस शरीर तथा अनन्त भाव-तरंगवाले मन को बलिष्ठ बनाने के लिए पौष्टिक खाद्य पदार्थ के समान और दूसरी अच्छी चीज़ कौन सी है? पर जो खाद्य शरीर-रक्षा और मन की बल-वृद्धि के लिए इतना आवश्यक है, उसका शेषांश यदि उचित समय पर शरीर से बाहर न निकाल दिया जाय, तो वही सब अनर्थों का कारण हो जाता है।

समष्टि (समाज) के जीवन में व्यष्टि (व्यक्ति) का जीवन है; समष्टि के सुख में व्यष्टि का सुख है; समष्टि के बिना व्यष्टि का अस्तित्व ही असम्भव है, यही अनन्त सत्य जगत् का मूल आधार है। अनन्त समष्टि के साथ सहानुभूति रखते हुए उसके सुख में सुख और उसके दुःख में दुःख मानकर धीरे धीरे आगे बढ़ना ही व्यष्टि का एकमात्र कर्तव्य है। और कर्तव्य ही क्यों? इस नियम का उल्लंघन करने से उसकी मृत्यु होती है और उसका पालन करने से वह अमर होता है। प्रकृति की आँखों में धूल डालने का सामर्थ्य किसे है? समाज की आँखों पर बहुत दिनों तक पट्टी नहीं बाँधी जा सकती। समाज के ऊपरी हिस्से में कितना ही कूड़ा-करकट क्यों न इकट्ठा हो गया हो, परन्तु उस ढेर के नीचे प्रेमरूप निःस्वार्थ सामाजिक जीवन का प्राण-स्पन्दन होता ही रहता है। सब कुछ सहनेवाली पृथ्वी की भाँति समाज भी बहुत सहता है। परन्तु एक न एक दिन वह जागता ही है, और तब उस जाग्रति के वेग से युगों की एकत्र मलिनता तथा स्वार्थपरता दूर जा गिरती है।

अज्ञानी, पाशविक प्रकृति के हम मनुष्य हज़ारों बार ठगे जाकर भी इस महान् सत्य में विश्वास नहीं रखते। हज़ारों बार ठगे जाकर भी हम लोग फिर ठगने की चेष्टा करते हैं। पागलों की तरह हम लोग सोचते हैं कि प्रकृति को हम धोखा दे सकते हैं। हम लोग अत्यन्त अल्पदर्शी हैं—समझते हैं कि स्वार्थ-साधन ही जीवन का चरम उद्देश्य है।

विद्या, बुद्धि, धन, जन, बल, वीर्य जो कुछ प्रकृति हम लोगों के पास एकत्र

करती है, वह फिर बाँटने के लिए है; हमें यह बात स्मरण नहीं रहती; सौंपे हुए धन में आत्म-बुद्धि हो जाती है, बस इसी प्रकार विनाश का सूत्रपात होता है।

राजा जो प्रजा-समष्टि का शक्ति-केन्द्र है, वह बहुत जल्दी भूल जाता है कि शक्ति उसमें इसलिए संचित हुई है कि वह फिर लोगों में हज़ार गुनी बँट जाय। राजा वेण[1] की तरह वह सब देवत्व अपने में ही आरोपित कर दूसरों को हीन मनुष्य समझने लगता है। उसकी इच्छा का, चाहे वह भली हो या बुरी, विरोध करना ही महापाप है। इसलिए पालन की जगह पीड़न और रक्षण की जगह भक्षण आप ही आ जाता है। यदि समाज बलहीन रहा तो वह सब कुछ चुपचाप सह लेता है, और राजा-प्रजा दोनों ही हीन से हीनतर अवस्था को प्राप्त होकर शीघ्र ही किसी दूसरी बलवान जाति के शिकार बन जाते हैं। पर यदि समाज-शरीर बलवान रहा, तो शीघ्र ही अत्यन्त प्रबल प्रतिक्रिया उपस्थित होती है—जिसकी चोट से छत्र, दण्ड, चँवर आदि बड़ी दूर जा गिरते हैं, और सिंहासन अजायबघर में रखी हुई पुरानी अनूठी वस्तुओं के सदृश हो जाता है।

जिस शक्ति की भौंहें टेढ़ी होने पर महाराजा भी थरथर काँपते हैं, जिसके हाथ के सोने की थैली की आशा से राजा से रंक तक बगुलों की तरह पाँति बाँधे सिर झुकाये पीछे पीछे चलते हैं, उसी वैश्य-शक्ति का विकास पूर्वोक्त प्रतिक्रिया का फल है।

ब्राह्मण ने कहा, 'सब बलों का बल विद्या है, और वह विद्या मेरे अधीन है, इसलिए समाज मेरे शासन में रहेगा।' कुछ दिन ऐसा ही रहा। फिर क्षत्रिय ने कहा, 'यदि मेरा अस्त्र-बल न रहे, तो तुम अपने विद्या-बल सहित न जाने कहाँ चले जाओगे। मैं ही श्रेष्ठ हूँ।' म्यान में तलवार झनझना उठी, और समाज ने उसके सामने सिर झुका दिया। विद्योपासक ब्राह्मण सबसे पहले राजोपासक बने। वैश्य कहता है, 'पागल, जिसको तुम अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन

---

१. राजा वेण की कथा भागवत में आयी है। यह अपने को ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवताओं से भी श्रेष्ठ बतलाता था। उसने यह आज्ञा दे रखी थी कि पूजा मेरी ही हो। एक समय ऋषि लोग इसे कुछ सदुपदेश देने आये, जिससे उसका अहंकार दूर हो; पर इस मदान्ध राजा ने उनका तिरस्कार किया और उन्हें भी अपनी पूजा करने की आज्ञा दी। इस पर उन ऋषियों को बड़ा क्रोध आया और उसी क्रोधानल में पड़कर राजा पंचत्व को प्राप्त हुआ। महाराज पृथु, जो भगवान् विष्णु के अवतार माने जाते हैं, इसी वेण राजा के बाहु-मन्थन से उत्पन्न हुए थे।

चराचरम् कहते हो, वही सर्वशक्तिमान मुद्रा-रूप है, और वह मेरे ही हाथों में है। देखो, इसकी बदौलत मैं भी सर्वशक्तिमान हूँ। ब्राह्मण, तुम्हारा तप-जप, विद्या-बुद्धि मैं इसके प्रभाव से अभी मोल ले लेता हूँ। और महाराज, तुम्हारा अस्त्र, शस्त्र, तेज, वीर्य इसकी कृपा से मेरी काम-सिद्धि के लिए बरता जायगा। ये जो बड़े बड़े पुतलीघर और कारखाने तुम देखते हो, वे मेरे मधु के छत्ते हैं। वह देखो, असंख्य शूद्ररूपी मक्खियाँ उसमें रात-दिन मधु एकत्र करती हैं। परन्तु वह मधु कौन पियेगा?—मैं। ठीक समय पर उसकी एक एक बूंद मैं निचोड़ लूँगा।'

जिस प्रकार ब्राह्मणों और क्षत्रियों के उदय-काल में विद्या और सभ्यता का संचय हुआ था, उसी प्रकार वैश्यों के प्रभुत्व-काल में धन का संचय हुआ। जिस रुपये की झनक चारों वर्णों का मन हरण कर सकती है, वही रुपया वैश्यों का बल है। वैश्य को सदा इस बात का डर लगा रहता है कि कहीं उस धन को ब्राह्मण ठग न ले और क्षत्रिय ज़बरदस्ती छीन न ले। इसी कारण अपनी रक्षा के लिए वैश्य लोग सदा एकमत रहते हैं। सूद रूपी कोड़ा हाथ में लिए वैश्य सबके हृदय में धड़कन उत्पन्न करता है। अपने रुपये के बल से राज-शक्ति को दबाये रखने के लिए वह सदा व्यस्त है। वह इस बात से सदा सचेत रहता है कि राज-शक्ति उसे धन-धान्य संचय करने में बाधा न डाले। परन्तु उसकी यह इच्छा बिल्कुल नहीं होती कि यह राज-शक्ति क्षत्रियकुल से शूद्रकुल में चली जाय।

वणिक किस देश में नहीं जाता? स्वयं अज्ञ होकर भी वह व्यापार के अनुरोध से एक देश की विद्या, बुद्धि और कला-कौशल दूसरे देश में ले जाता है। जो विद्या, सभ्यता और कला-कौशलरूपी रक्त ब्राह्मणों और क्षत्रियों के अधिकार में समाज के हृत्पिण्ड में जमा हुआ था, वही अब वैश्यों के बाज़ारों की ओर जानेवाले राजपथ रूपी नसों द्वारा सर्वत्र फैल रहा है। वैश्यों का यह उत्थान यदि न होता, तो आज एक देश का भोज्य पदार्थ, सभ्यता, विलास और विद्या दूसरे देशों में कौन ले जाता?

फिर जिनके शारीरिक परिश्रम पर ही ब्राह्मणों का आधिपत्य, क्षत्रियों का ऐश्वर्य और वैश्यों का धन-धान्य निर्भर है, वे कहाँ हैं? समाज का मुख्य अंग होकर भी जो लोग सदा सब देशों में जघन्यप्रभवो हि सः कहकर पुकारे जाते हैं, उनका क्या हाल है? जिनके विद्यालाभ जैसे महान् अपराध के लिए भारत में 'जिह्वाच्छेद, शरीर-भेद, आदि अनेक दण्ड प्रचलित थे, वे ही भारत के 'चलमान श्मशान' (चलते-फिरते मुरदे) और दूसरे देशों के 'भारवाही पशु' शूद्र किस दशा में हैं?

इस देश का हाल क्या कहा जाय? शूद्रों की बात तो अलग रही, भारत का ब्राह्मणत्व अभी गोरे अध्यापकों में है, और उसका क्षत्रियत्व चक्रवर्ती अंग्रेज़ों में। उसका वैश्यत्व भी अंग्रेज़ों की नस नस में है। भारतवासियों के लिए तो केवल भारवाही पशुत्व अर्थात् शूद्रत्व ही रह गया। घोर अन्धकार ने अभी सबको समान भाव से ढँक लिया है। अभी चेष्टा में दृढ़ता नहीं है, उद्योग में साहस नहीं है, मन में वल नहो है, अपमान से घृणा नहीं है, दासत्व से अरुचि नहीं है, हृदय में प्रीति नहीं है और प्राण में आशा नहीं है। और है क्या, केवल प्रवल ईर्ष्या, स्वजाति-द्वेष, दुर्वलों का जैसे-तैसे करके नाश करने और कुत्तों की तरह बलवानों के चरण चाटने की विशेष इच्छा। इस समय तृप्ति, धन और ऐश्वर्य दिखाने में है, भक्ति स्वार्थ-साधन में है, ज्ञान अनित्य वस्तुओं के संग्रह में है, योग पैशाचिक आचार में है, कर्म दूसरों के दासत्व में है, सभ्यता विदेशियों की नक़ल करने में है, वक्तृत्व कटु भाषण में है और भाषा की उन्नति धनिकों की बेढंगी खुशामद में या जघन्य अश्लीलता के प्रचार में है। जब सारे देश में शूद्रत्व भरा हुआ है, तो शूद्रों के विषय में अलग से क्या कहा जाय। अन्य देशों के शूद्र-कुल की नींद कुछ टूटी सी है, पर उनमें विद्या नहीं है। उसके बदले है उनका साधारण जाति-गुण—स्वजाति-द्वेष। उनकी संख्या यदि अधिक ही है, तो क्या? जिस एकता के वल से दस मनुष्य लाख मनुष्यों की शक्ति संग्रह करते हैं, वह एकता अभी शूद्रों से कोसों दूर है। इसलिए सारी शूद जाति प्राकृतिक नियमों के अनुसार पराधीन है।

परन्तु फिर भी आशा है। काल के प्रभाव से ब्राह्मण आदि वर्ण भी शूद्रों का नीच स्थान प्राप्त कर रहे हैं, और शूद्र जाति ऊँचा स्थान पा रही है। शूद्रों से भरे, रोम के दास यूरोप ने क्षत्रियों का बल प्राप्त किया है। महा बलवान चीन हम लोगों के सामने ही बड़ी शीघ्रता से शूद्रत्व प्राप्त कर रहा है, और नगण्य जापान हवा की तरह शूद्रत्व को झाड़ता हुआ ऊँची जातियों का अधिकार ले रहा है। यहाँ पर आजकल के यूनान और इटली के क्षत्रिय-पद पर उत्थान का और तुर्क, स्पेन, आदि के पतन का कारण भी सोचने का विषय है।

तो भी एक ऐसा समय आयेगा, जब शूद्रत्व सहित शूद्रों का प्राधान्य होगा, अर्थात् आजकल जिस प्रकार शूद्र जाति वैश्यत्व अथवा क्षत्रियत्व लाभ कर अपना वल दिखा रही है, उस प्रकार नहीं, वरन् अपने शूद्रोचित धर्म-कर्म सहित वह समाज में आधिपत्य प्राप्त करेगी। पाश्चात्य जगत् में इसकी लालिमा भी आकाश में दीखने लगी है, और इसका फलाफल विचार कर सब लोग घबराये

हुए हैं। सोशलिज्म[1], अनार्किज्म[2], नाइहिलिज्म[3] आदि सम्प्रदाय इस विप्लव की आगे चलनेवाली ध्वजायें हैं। युगों से पिसकर शूद्र मात्र या तो कुत्तों की तरह बड़ों के चरण चाटनेवाले या हिंस्र पशुओं की तरह निर्दय हो गये हैं। फिर सदा से उनकी अभिलाषाएँ निष्फल होती आ रही हैं। इसलिए दृढ़ता और अध्यवसाय उनमें विल्कुल नहीं हैं।

पाश्चात्य जगत् में विद्या का प्रचार होने पर भी वहाँ शूद्रों के उत्थान में एक बड़ी अड़चन रह गयी है। इसका कारण यह है कि वहाँ लोग गुणगत जाति मानते हैं। ऐसी ही गुणानुसार वर्ण-व्यवस्था इस देश में भी प्राचीन काल में प्रचलित थी, जिसके कारण शूद्र जाति की उन्नति कभी हो ही नहीं सकती थी। एक तो शूद्रों को विद्या प्राप्त करने तथा धन संग्रह करने का सुभीता बहुत कम था। दूसरे, यदि एक-दो असाधारण मनुष्य शूद्रकुल में कभी उत्पन्न भी होते, तो उच्च वर्ण तुरन्त उन्हें उपाधियाँ देकर अपनी मण्डली में खींच लेता था। उनकी विद्या का प्रभाव और धन का हिस्सा दूसरी जातियों के काम आता था।

---

१. सोशलिज्म (Socialism) इसकी उत्पत्ति १८३५ ई० में यूरोप में हुई थी। इसका प्रचार अब यहाँ के सब देशों में हो रहा है। अर्थशास्त्र के ऊपर ही इस मत की प्रधान भित्ति स्थापित है। इस मत के कई भेद हैं। इसके माननेवालों का मुख्य उद्देश्य यह है कि देश के मूलधन और भूमि का स्वामी समाज हो, न कि व्यक्तिविशेष। श्रमजीवी भले ही पूंजीपति न बनें, किन्तु उनका वेतन बढ़े और उनके जीवन-स्तर का मान उन्नत हो---यह सोशलिज्म का एक प्रधान उद्देश्य है।

२. अनार्किज्म (Anarchism)---इस सम्प्रदाय के प्रथम प्रवर्तक बकुनिन कहे जा सकते हैं, जिनका जन्म १८१४ ई० में हुआ था। बाह्य कर्तृत्व या शासन के विरुद्ध आचरण करना इस मत का निचोड़ है। इस मत के माननेवाले कहते हैं कि यदि मनुष्य अपनी प्रकृति के नियमों के अनुसार चले तो राजशासन या क़ानून की आवश्यकता नहीं है। इस मत के अनुसार गणतान्त्रिक समूहों का ऐच्छिक सम्मिलन ही समाज का आदर्श है और तत्काल इस अवस्था के सर्जन के लिए यथाशक्ति चेष्टा करना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है।

३. नाइहिलिज्म (Nihilism)---यह मत अनार्किज्म के ही समान है। कुछ साधारण अन्तर दोनों में है। इसका जन्म रूस देश में १८६२ ई० में हुआ था। वहीं इसका अधिक प्रचार है। इस मत के अनुसार तीन चीजें मिथ्या हैं---ईश्वर, शासन और विवाह।

उनके सजातीय उनकी विद्या, बुद्धि और धन से कुछ भी लाभ नहीं उठा सकते थे। इतना ही नहीं, वरन् कुलीनों के निकम्मे मनुष्य कूड़ा-कर्कट की तरह निकाल कर शूद्र-कुल में मिला दिये जाते थे।

वेश्यापुत्र वशिष्ठ[1] और नारद[2], दासीपुत्र सत्यकाम जाबाल[3], धीवर व्यास[4], अज्ञातपिता कृप[5], द्रोण[6] और कर्ण[7] आदि सबने अपनी विद्या या वीरता के प्रभाव से ब्राह्मणत्व या क्षत्रियत्व पाया था। परन्तु इससे वेश्या, दासी, धीवर या सारथि-कुल का क्या लाभ हुआ, यह सोचने का विषय है। फिर ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य-कुल से निकाले हुए मनुष्य सदा शूद्र-कुल में जा मिलते थे।

आजकल के भारत में शूद्र-कुल में उत्पन्न बड़े से बड़ा या करोड़पति को भी अपना समाज छोड़ने का अधिकार नहीं है। इसका फल यह होता है कि उसकी विद्या-बुद्धि और धन का प्रभाव उसी जाति में रह जाता है तथा उसी समाज का कल्याण करने में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार इस जन्मगत जाति की व्यवस्था से प्रत्येक जाति अपनी सीमा के बाहर जाने में असमर्थ होकर अपनी ही मण्डली के लोगों की धीरे धीरे उन्नति कर रही है। जब तक भारत में बिना जाति की परवाह किये दण्ड-पुरस्कार देनेवाला राजशासन रहेगा, तब तक नीच जातियों की इसी प्रकार उन्नति होती रहेगी।

समाज का नेतृत्व चाहे विद्या-बल से प्राप्त हुआ हो, चाहे बाहु-बल से अथवा धन-बल से, पर उस शक्ति का आधार प्रजा ही है। शासक-समाज जितना ही इस शक्ति के आधार से अलग रहेगा, उतना ही वह दुर्बल होगा। परन्तु माया की ऐसी विचित्र लीला है कि जिनसे परोक्ष या प्रत्यक्ष रीति से, छल-बल-कौशल के प्रयोग से अथवा प्रतिग्रह द्वारा शक्ति प्राप्त की जाती है, उनकी ही गणना शासकों के निकट शीघ्र समाप्त हो जाती है। जब पुरोहित-शक्ति ने अपनी शक्ति

---

१. वशिष्ठ के पिता ब्रह्मा और माता अज्ञात थीं।
——महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १७४ एवं ऋग्वेद ॥७।३३।११-१३॥

२. नारद की माता एक दासी और पिता अज्ञात था।
——श्रीमद्भागवत ॥१।६॥

३. सत्यकाम जाबाल की माता एक दासी और पिता अज्ञात था।
——छान्दोग्योपनिषद् ॥४।४॥

४. व्यास के पिता ब्रह्मर्षि पराशर और माता एक धीवर की कन्या थी।
——महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १०५॥

५. ६. ७. ० महाभारत, आदिपर्व, अ० १०५, १३०॥

के आधार प्रजावर्ग से अपने को सम्पूर्ण अलग किया, तब प्रजा की सहायता पाने वाली उस समय की राज-शक्ति ने उसे पराजित किया। फिर जब राज-शक्ति ने अपने को सम्पूर्ण स्वाधीन समझकर अपने और अपनी प्रजा के बीच में एक गहरी खाई खोद डाली, तब साधारण प्रजा की कुछ अधिक सहायता पानेवाले वैश्य-कुल ने राजाओं को या तो नष्ट कर डाला या अपने हाथ की कठपुतलियाँ बनाया। इस समय वैश्य-कुल अपनी स्वार्थ-सिद्धि कर चुका है, इसीलिए प्रजा की सहायता को अनावश्यक समझ वह अपने को प्रजावर्ग से अलग करना चाहता है। यहाँ इस शक्ति की भी मृत्यु का बीज बोया जा रहा है।

साधारण प्रजा सारी शक्ति का आधार होने पर भी उसने आपस में इतना भेद कर रखा है कि वह अपने सब अधिकारों से वंचित है, और जब तक ऐसा भाव रहेगा तब तक उसकी यही दशा रहेगी। साधारण कष्ट, घृणा या प्रीति आपस में सहानुभूति का कारण होती है। जिस नियम से हिंस्र पशु दलबद्ध हो शिकार करते फिरते हैं, उसी नियम से मनुष्य भी मिलकर रहते तथा जाति या राष्ट्र का संगठन करते हैं।

एकान्त स्वजाति-प्रेम और परजाति-विद्वेष राष्ट्र की उन्नति का एक प्रधान कारण है। इसी स्वजाति-प्रेम और परजाति-विद्वेष ने प्रतिद्वन्द्विता की सृष्टि कर ईरान-द्वेषी यूनान को, कार्थेज-द्वेषी रोम को, काफ़िर-द्वेषी अरब जाति को, मूर-द्वेषी स्पेन को, स्पेन-द्वेषी फ़्रांस को, फ़्रांस-द्वेषी इंग्लैण्ड और जर्मनी को तथा इंग्लैण्ड-द्वेषी अमेरिका को उन्नति के शिखर पर चढ़ाया है।

स्वार्थ ही स्वार्थ-त्याग का पहला शिक्षक है। व्यष्टि के स्वार्थों की रक्षा के लिए ही समष्टि के कल्याण की ओर लोगों का ध्यान जाता है। स्वजाति के स्वार्थ में अपना स्वार्थ है, और स्वजाति के हित में अपना हित। बहुत से काम कुछ लोगों की सहायता बिना किसी प्रकार नहीं चल सकते, आत्मरक्षा तक नहीं हो सकती। स्वार्थ-रक्षा के लिए यह सहकारिता सब देशों और जातियों में पायी जाती है। पर इस स्वार्थ की सीमा में हेर-फेर है। सन्तान उत्पन्न करने और किसी प्रकार पेट भरने का अवसर पाने से ही भारतवासियों की पूरी स्वार्थ-सिद्धि हो जाती है। हाँ, उच्च वर्णों के लिए इतना और है कि उनके धर्माचरण में कोई बाधा न पड़े। वर्तमान भारत में इससे बड़ी और महत्त्वाकांक्षा नहीं है। यही भारत-जीवन का उच्चतम सोपान है।

भारत की वर्तमान शासन-प्रणाली में कई दोष हैं, पर साथ ही कई बड़े गुण भी हैं। सबसे बड़ा गुण तो यह है कि सारे भारत पर एक ऐसे शासन-यन्त्र का प्रभाव है, जैसा इस देश में पाटलिपुत्र साम्राज्य के पतन के बाद कभी नहीं

हुआ। वैश्याधिकार की जिस चेष्टा से एक देश का माल दूसरे देश में लाया जाता है, उसी चेष्टा के फलस्वरूप विदेशी भाव भी भारत की अस्थि-मज्जा में बलपूर्वक प्रवेश पा रहे हैं। इन भावों में कुछ तो बहुत ही लाभदायक हैं, कुछ हानिकारक हैं, और कुछ इस बात के परिचायक हैं कि विदेशी लोग इस देश का यथार्थ कल्याण करने में अज्ञ हैं।

परन्तु इन गुण-दोषों के भीतर से भविष्य के अशेष मंगल का यह चिह्न भी दीखता है कि इस विजातीय और प्राचीन स्वजातीय भाव के संघर्ष से बहुत दिनों की सोयी हुई जाति धीरे धीरे जग रही है। उससे भूलें हों, तो भी कोई हानि नहीं। सभी कामों में भूल-भ्रम-प्रमाद ही हमारा उत्तम शिक्षक है। सत्य का पथ उसीको मिलता है, जिससे भूलें होती हैं। वृक्ष से भूल नहीं होती, पत्थर को भ्रम नहीं होता, पशुओं में भी नियम-विरुद्ध आचरण कम ही देखने में आते हैं, परन्तु यथार्थ ब्राह्मणों की उत्पत्ति भ्रम-प्रमाद से भरे मनुष्य-कुल में ही होती है। हम लोगों के लिए यदि दूसरे लोग ही बचपन से मृत्यु तक के सब कर्म और उठने के समय से सोने तक की सारी चिन्ताएँ निश्चित कर दें, और राज-शक्ति का दबाव डालकर उन नियमों के कठोर बन्धन से हमें जकड़ दें, तो हम लोगों के लिए चिन्ता करने का और विषय रहा ही क्या? मननशील होने के कारण ही तो हम लोग मनुष्य हैं, मनीषी हैं और मुनि हैं। चिन्ताशीलता का लोप होते ही तमोगुण का प्रादुर्भाव होता है और जड़त्व आ जाता है। इस समय भी प्रत्येक धर्म-नेता और समाज-नेता समाज के लिए नियम बनाने में ही व्यस्त है! देश में क्या नियमों की कमी है? नियमों से पिसकर समाज जो अधोगति प्राप्त कर रहा है, उसे कौन समझता है?

सम्पूर्ण स्वाधीन स्वेच्छाचारी राजा के अधीन विजित जाति विशेष घृणा का पात्र नहीं होती है। शक्तिशाली सम्राट् की सब प्रजाएँ समान अधिकार रखती हैं—अर्थात् किसी भी प्रजा को राज-शक्ति के नियमन करने का अधिकार तनिक भी नहीं है। ऐसी दशा में ऊँची जातियों को विशेष अधिकार कम ही रहते हैं। परन्तु जहाँ प्रजा-नियमित राजा या प्रजातन्त्र विजित जाति पर राज्य करता है, वहाँ विजयी और विजितों के बीच बड़ा अन्तर हो जाता है, और जो शक्ति विजितों के हित-साधन में पूरी तरह लगायी जाने पर थोड़े ही समय में उनका परम कल्याण कर सकती है, उसी शक्ति का बहुत सा हिस्सा विजित जाति को वश में रखने की चेष्टा में व्यय किया जाता है और इस प्रकार वह व्यर्थ नष्ट हो जाता है। इसी कारण रोम के प्रजातन्त्र-शासन की अपेक्षा सम्राटों के शासन-काल में विजातीय प्रजा को अधिक सुख था। इसी कारण ईसाई

धर्मप्रचारक पॉल ने विजित यहूदी वंश में जन्म लेकर भी रोम के सम्राट् सीज़र के पास अपने अपराध पर विचार कराने की आज्ञा पायी थी।

यदि कोई अंग्रेज़ हम लोगों को 'काला' या 'नेटिव' अर्थात् असभ्य कहकर घृणा करे, तो इससे क्या? हम लोगों में तो उससे कहीं अधिक जातिगत घृणा-बुद्धि है। यदि ब्राह्मणों को किसी मूर्ख क्षत्रिय राजा की सहायता मिल जाय, तो यह कौन कह सकता है कि फिर वे शूद्रों का 'जिह्वाच्छेद, शरीर-भेद' आदि करने की चेष्टा न करेंगे! पूर्वीय आर्यावर्त में सब जातियाँ जो सामाजिक उन्नति के लिए आपस में कुछ सद्भाव रखती दीख पड़ती हैं, और महाराष्ट्र देश में ब्राह्मण जो 'मराठा' जाति की स्तुति करने लगे हैं, उसे छोटी जातियों के लोग अभी तक निःस्वार्थ भाव का फल नहीं समझते हैं।

परन्तु अंग्रेज़ों के मन में यह धारणा होने लगी है कि भारत-साम्राज्य यदि उनके हाथों से निकल जाय तो अंग्रेज़ जाति का विनाश हो जायगा। इसलिए भारत में इंग्लैण्ड का अधिकार किसी न किसी प्रकार जमाये रखना ही होगा। और इसका प्रधान उपाय अंग्रेज़ जाति का 'गौरव' भारतवासियों के हृदय में सदा जाग्रत रखना समझा गया है। इस बुद्धि की प्रबलता और उसके अनुसार चेष्टा की अधिकाधिक वृद्धि देखकर हर्ष और खेद दोनों होते हैं। भारत में रहने वाले अंग्रेज़ शायद यह भूलते हैं कि जिस वीर्य, अध्यवसाय और एकान्त स्वजाति-प्रेम के बल से उन्होंने इस राज्य को लिया है, और सदा सचेत तथा विज्ञान का सहारा पानेवाली जिस वाणिज्य-बुद्धि से उन्होंने भारत जैसे सब प्रकार के धन उत्पन्न करनेवाले देश को भी अंग्रेज़ी माल का बाज़ार बना रखा है, उन सब गुणों का जब तक उनके ज़ातीय जीवन से लोप न होगा, तब तक उनका सिंहासन अचल रहेगा। जब तक ऐसे गुण अंग्रेज़ों में विद्यमान रहेंगे, तब तक भारत जैसे सैकड़ों राज्य चले भी जायँ तो क्या, फिर सैकड़ों राज्य प्राप्त हो जायँगे। परन्तु इन गुणों के प्रवाह का वेग यदि घट जाय, तो व्यर्थ 'गौरव' की चिल्लाहट से क्या साम्राज्य पर शासन हो सकेगा? इसलिए इन गुणों की प्रबलता रहने पर भी अर्थहीन 'गौरव-रक्षा' के लिए इतनी शक्ति नष्ट करना व्यर्थ है। वह शक्ति यदि प्रजा के हित के कामों में लगायी जाय, तो वह राजा और प्रजा दोनों का ही कल्याण करेगी।

ऊपर कहा जा चुका है कि परदेशियों के संघर्ष से भारत धीरे धीरे जग रहा है। इस थोड़ी सी जाग्रति के फलस्वरूप स्वतन्त्र विचार का थोड़ा बहुत उदय भी होने लगा है। एक ओर आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान है, जिसका शक्ति-संग्रह सबकी आँखों के सामने उसे प्रमाणित कर रहा है, और जिसकी चमक सैकड़ों

सूर्यों की ज्योति की तरह आँखों में चकाचौंध पैदा कर देती है। दूसरी ओर हमारे पूर्वजों का अपूर्व वीर्य, अमानवी प्रतिभा और देव-दुर्लभ अध्यात्म-तत्त्व की वे कथाएँ हैं, जिन्हें अनेक स्वदेशी और विदेशी विद्वानों ने प्रकट किया है, जो युग-युगान्तर की सहानुभूति के कारण समस्त समाज-शरीर में जल्दी दौड़ जाती हैं और वल तथा आशा प्रदान करती हैं। एक ओर जड़-विज्ञान प्रचुर धन-सम्पत्ति, प्रभूत वल-संचय और उत्कट इन्द्रिय-सुख विदेशी साहित्य में कोला-हल मचा रहे हैं, दूसरी ओर इस कोलाहल को फाड़ता हुआ, क्षीण परन्तु मर्मभेदी स्वर से युक्त पूर्वीय देवताओं का आर्तनाद सुनायी पड़ता है। एक समय हमारे सामने ये दृश्य आते हैं—सुन्दर, बढ़िया तथा ठीक ढंग से सजाया हुआ भोजन, उम्दा पेय, वहुमूल्य पोशाक, ऊँचे ऊँचे, वड़े वड़े महल तथा नये नये ढंग की गाड़ियाँ-सवारियाँ आदि, नये नये अदव-क़ायदे तथा नये नये फ़ैशन, जिनके अनुसार सज-धजकर हमारे सामने आजकल की विदुषी नारी काफ़ी निर्लज्जता-पूर्ण स्वतन्त्रता से घूमती फिरती हैं। ये सब सामग्रियाँ न जाने कितनी नयी नयी इच्छाएँ तथा वासनाएँ उत्पन्न करती हैं। परन्तु फिर यह दृश्य वदलकर इसके स्थान में एक दूसरा गम्भीर दृश्य आ जाता है, और वह है सीता, सावित्री, व्रत-उपवास, तपोवन, जटाजूट, वल्कल तथा गैरिक वस्त्र, कौपीन, समाधि एवं आत्मोपलब्धि की सतत चेष्टा। एक ओर पाश्चात्य समाज की स्वार्थपर स्वाधी-नता है, और दूसरी ओर आर्यों का कठोर आत्म-वलिदान। इस विषम संघर्ष से समाज डगमगा उठेगा, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? पाश्चात्य जगत् का उद्देश्य व्यक्तिगत स्वाधीनता है, भाषा अर्थकरी विद्या है और उपाय राजनीति है। भारत का उद्देश्य मुक्ति है, भाषा वेद है और उपाय त्याग है। वर्तमान भारत मानो एक वार सोचता है कि भविष्य के संदिग्ध पारमार्थिक हित के मोह में पड़कर मैं इस लोक का व्यर्थ नाश कर रहा हूँ; फिर मन्त्र-मुग्ध की तरह सुनता है—

इति संसारे स्फुटतरदोषः।
कथमिह मानव तव सन्तोषः॥

—'संसार में ये सब दोष भरे पड़े हैं। ऐ मनुष्यो, यहाँ तुम्हें सन्तोष कैसे हो सकता है?'

एक ओर नया भारत कहता है कि हमको पति-पत्नी चुनने में पूरी स्वतन्त्रता चाहिए, क्योंकि जिस विवाह पर हमारे भविष्य जीवन का सारा सुख-दुःख निर्भर है, उसका हम अपनी इच्छा से चुनाव करेंगे। दूसरी ओर प्राचीन भारत

की आज्ञा होती है कि विवाह इन्द्रिय-सुख के लिए नहीं, वरन् सन्तानोत्पत्ति के लिए है। इस देश की यही धारणा है। सन्तान उत्पन्न करके समाज के भावी हानि-लाभ के तुम कारण हो, इसलिए जिस प्रणाली से विवाह करने में समाज का सबसे अधिक कल्याण होना सम्भव है, वही प्रणाली समाज में प्रचलित है। तुम समाज के सुख के लिए अपने सुख-भोग की इच्छा त्यागो।

एक ओर नया भारत कहता है कि पाश्चात्य भाव, भाषा, खान-पान और वेश-भूषा का अवलम्बन करने से ही हम लोग पाश्चात्य जातियों की भाँति शक्तिमान हो सकेंगे। दूसरी ओर प्राचीन भारत कहता है कि मूर्ख! नक़ल करने से भी कहीं दूसरों का भाव अपना हुआ है? बिना उपार्जन किये कोई वस्तु अपनी नहीं होती। क्या सिंह की खाल पहनकर गधा कहीं सिंह हुआ है?

एक ओर नवीन भारत कहता है कि पाश्चात्य जातियाँ जो कुछ कर रही हैं, वही अच्छा है। अच्छा नहीं है तो वे ऐसे बलवान कैसे हुए? दूसरी ओर प्राचीन भारत कहता है कि बिजली की चमक तो खूब होती है, पर क्षणिक होती है। बालक! तुम्हारी आँखें चौंधिया रही हैं, सावधान!

तो क्या हमें पाश्चात्य जगत् से कुछ भी सीखने को नही है? क्या हमें चेष्टा या प्रयत्न करने की जरूरत ही नहीं है? क्या हम सब प्रकार पूरे हैं? क्या हमारा समाज पूर्णतया निश्छिद्र है? नहीं, सीखने को बहुत कुछ है। प्रयत्न तो हमें जीवन भर करना चाहिए। प्रयत्न ही मनुष्य जीवन का उद्देश्य है। श्री रामकृष्ण देव कहा करते थे, 'जब तक जिऊँ, तब तक सीखूँ।' जिस व्यक्ति या समाज को कुछ सीखना नही है, वह मृत्यु के मुँह में जा चुका। सीखने को तो है, परन्तु भय भी है।

एक कम बुद्धिवाला लड़का श्री रामकृष्ण देव के सामने सदा शास्त्रों की निन्दा किया करता था। उसने एक बार गीता की बड़ी प्रशंसा की। इस पर श्री रामकृष्ण देव ने कहा, "किसी अंग्रेज़ विद्वान् ने गीता की प्रशंसा की होगी। इसीलिए यह भी उसकी प्रशंसा कर रहा है।"

ऐ भारत! यही विकट भय का कारण है। हम लोगों में पाश्चात्य जातियों की नक़ल करने की इच्छा ऐसी प्रबल होती जाती है कि भले-बुरे का निश्चय अब विचार-बुद्धि, शास्त्र या हिताहित ज्ञान से नहीं किया जाता। गोरे लोग जिस भाव और आचार की प्रशंसा करें, वही अच्छा है और वे जिसकी निन्दा करें, वही बुरा! अफ़सोस! इससे बढ़कर मूर्खता का परिचय और क्या होगा?

पाश्चात्य स्त्रियाँ स्वाधीन भाव से फिरती हैं, इसलिए वही चाल अच्छी है; वे अपने लिए वर आप चुन लेती हैं, इसलिए वही उन्नति का उच्चतम सोपान है;

पाश्चात्य पुरुष हम लोगों की वेश-भूषा, खान-पान को घृणा की दृष्टि से देखते हैं, इसलिए हमारी ये चीज़ें बहुत बुरी हैं; पाश्चात्य लोग मूर्ति-पूजा को खराब कहते हैं, तो वह भी बड़ी ही खराब होगी, क्यों न हो ?

पाश्चात्य लोग एक ही देवता की पूजा को कल्याणप्रद बताते हैं, इसलिए अपने देव-देवियों को गंगा में फेंक दो। पाश्चात्य लोग जाति-भेद को घृणित समझते हैं, इसलिए सब वर्णों को मिलाकर एक कर दो। पाश्चात्य लोग बाल्य विवाह को सब अनर्थों का कारण कहते हैं, इसलिए वह भी अवश्य ही बहुत खराब होगा।

यहाँ पर हम इस बात का विचार नहीं करते कि ये प्रथाएँ चलनी चाहिए अथवा रुकनी चाहिए। परन्तु यदि पाश्चात्य लोगों की घृणा-दृष्टि के कारण ही हमारे रीति-रिवाज बुरे साबित होते हों, तो उसका प्रतिवाद अवश्य होना चाहिए।

वर्तमान लेखक को पाश्चात्य समाज का कुछ प्रत्यक्ष ज्ञान है। इसीसे उसका विश्वास है कि पाश्चात्य समाज और भारत-समाज की मूल गति और उद्देश्य में इतना अन्तर है कि पाश्चात्यों के अनुकरण पर गठित समाज इस देश में किसी काम का न होगा। जो लोग पाश्चात्य समाज में नहीं रहे हैं, और वहाँ की स्त्रियों की पवित्रता की रक्षा के लिए स्त्रियों और पुरुषों के आपस में मिलने के जो नियम और बाधाएँ प्रचलित हैं, उन्हें बिना जाने जो अपनी स्त्रियों को पुरुषों से बिना रोक-टोक के मिलने देते हैं, उन लोगों से हमारी रत्ती भर भी सहानुभूति नहीं है।

पाश्चात्य देशों में भी मैंने देखा है कि दुर्बल जातियों की सन्तान जब इंग्लैंड में जन्म लेती है, तो अपने को वह स्पेनिश, पोर्तुगीज़, यूनानी आदि—जो वह हो—न बताकर अंग्रेज़ ही बताती है। बलवान की ओर सब कोई दौड़ता है। दुर्बल मात्र की यह इच्छा रहती है कि बड़े लोगों के गौरव की छटा उसके शरीर में कुछ लग जाय। भारतवासियों को जब मैं अंग्रेज़ी वेश-भूषा में देखता हूँ, तब समझता हूँ कि ये लोग शायद पददलित, विद्याहीन, दरिद्र भारतवासियों के साथ अपनी सजातीयता स्वीकार करने में लज्जित होते हैं। चौदह सौ वर्ष तक हिन्दुओं के रक्त से पलकर भी पारसी लोग अब 'नेटिव' नहीं हैं! जातिहीन और अपने को ब्राह्मण बतानेवाली जातियों के जात्यभिमान के निकट बड़े बड़े कुलीन ब्राह्मणों तक का जात्यभिमान कपूर की तरह उड़कर लुप्त हो जाता है। फिर पाश्चात्यों ने अब हमें यह भी सिखलाया है कि यह जो कमर में ही कपड़ा लपेटनेवाली मूर्ख नीच जाति है, वह अनार्य है; इसलिए वे लोग हमारे अपने नहीं हैं!!

ऐ भारत! क्या दूसरों की ही हाँ में हाँ मिलाकर, दूसरों की ही नक़ल कर, परमुखापेक्षी होकर इन दासों की सी दुर्बलता, इस घृणित, जघन्य निष्ठुरता से ही तुम बड़े बड़े अधिकार प्राप्त करोगे? क्या इसी लज्जास्पद कापुरुषता से तुम वीरभोग्या स्वाधीनता प्राप्त करोगे? ऐ भारत! तुम मत भूलना कि तुम्हारी स्त्रियों का आदर्श सीता, सावित्री, दमयन्ती हैं; मत भूलना कि तुम्हारे उपास्य सर्वत्यागी उमानाथ शंकर हैं; मत भूलना कि तुम्हारा विवाह, धन और तुम्हारा जीवन इन्द्रिय-सुख के लिए—अपने व्यक्तिगत सुख के लिए—नहीं है; मत भूलना कि तुम जन्म से ही 'माता' के लिए बलिस्वरूप रखे गये हो; मत भूलना कि तुम्हारा समाज उस विराट् महामाया की छाया मात्र है; तुम मत भूलना कि नीच, अज्ञानी, दरिद्र, चमार और मेहतर तुम्हारा रक्त और तुम्हारे भाई हैं। ऐ वीर! साहस का आश्रय लो। गर्व से बोलो कि मैं भारतवासी हूँ और प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है, बोलो कि अज्ञानी भारतवासी, दरिद्र भारतवासी, ब्राह्मण भारतवासी, चाण्डाल भारतवासी, सब मेरे भाई हैं; तुम भी कटिमात्र वस्त्रावृत होकर गर्व से पुकारकर कहो कि भारतवासी मेरा भाई है, भारतवासी मेरे प्राण हैं, भारत की देव-देवियाँ मेरे ईश्वर हैं, भारत का समाज मेरी शिशु-सज्जा, मेरे यौवन का उपवन और मेरे वार्द्धक्य की वाराणसी है। भाई, बोलो कि भारत की मिट्टी मेरा स्वर्ग है, भारत के कल्याण में मेरा कल्याण है; और रात-दिन कहते रहो कि—'हे गौरीनाथ! हे जगदम्बे! मुझे मनुष्यत्व दो; माँ, मेरी दुर्बलता और कापुरुषता दूर कर दो, मुझे मनुष्य बनाओ।'

क्या आत्मा अमर है?[1]

विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।
(भगवद्‌गीता २।१७)

संस्कृत के उस विराट् महाकाव्य 'महाभारत में एक आख्यान है, जिसमें कथानायक युधिष्ठिर से धर्म ने प्रश्न किया कि संसार में सबसे आश्चर्यजनक क्या है? युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि मनुष्य जीवन भर प्रायः प्रतिक्षण अपने चारों ओर सर्वत्र मृत्यु का ही दृश्य देखता है, फिर भी उसे ऐसा दृढ़ और अटल विश्वास है कि मैं मृत्युहीन हूँ। मानव जीवन में यही बात सचमुच सबसे अधिक आश्चर्यजनक है। यद्यपि भिन्न भिन्न मतावलम्बी भिन्न भिन्न युगों में इसके विरुद्ध तर्क करते आये हैं, और यद्यपि इन्द्रियग्राह्य और अतीन्द्रिय जगत् के बीच जो रहस्य का परदा सदा पड़ा रहेगा, उसका भेदन करने में बुद्धि असमर्थ है, तथापि मनुष्य पूर्ण रूप से यही मानता है कि वह मरणहीन है।

हम जन्म भर अध्ययन करने के पश्चात् भी अन्त में जीवन और मृत्यु की समस्या को तर्क के स्तर पर प्रमाणित करके 'हाँ' या 'नहीं' में उत्तर देने में असफल रहेंगे। हम मानव जीवन की नित्यता या अनित्यता के पक्ष में या विपक्ष में चाहे जितना बोलें या लिखें, शिक्षा दें या उपदेश करें, हम इस पक्ष के या उस पक्ष के प्रबल या कट्टर पक्षपाती बन जायँ; एक से एक पेचीदे सैकड़ों नामों का आविष्कार करके क्षण भर के लिए इस भ्रम में पड़कर भले ही शान्त हो जायँ कि हमने समस्या को सदा के लिए हल कर डाला; हम अपनी शक्ति भर किसी एक विचित्र धार्मिक अंधविश्वास या और भी अधिक आपत्तिजनक वैज्ञानिक अंधविश्वासों से चाहे चिपके रहें, परन्तु अन्त में हम यही देखेंगे कि हम तर्क की संकीर्ण गली में चिरन्तन खेल ही कर रहे हैं और केवल बार बार मात खाने के लिए मानो एक के बाद एक बौद्धिक गोटियाँ उठाते और रखते जाते हैं।

परन्तु केवल खेल की अपेक्षा बहुधा अधिक भयानक परिणामकारी इस मान-

---

१. 'द न्यूयार्क मॉर्निंग एडवर्टाइज़र' के पृष्ठों में इस समस्या पर आयोजित विचार-विमर्श में स्वामी जी का लेख।

सिक परिश्रम और यन्त्रणा के पीछे एक यथार्थ वस्तु है, जिसका प्रतिवाद नहीं हुआ है और प्रतिवाद हो नहीं सकता—वह सत्य, वह आश्चर्य है, जिसे महाभारत ने 'अपने ही विनाश को सोच सकने की हमारी मानसिक असमर्थता' कहा है। यदि मैं अपने विनाश की कल्पना करूँ भी, तो मुझे साक्षीरूप से खड़े होकर उसे देखते रहना होगा।

अच्छा, अब इस अद्भुत व्यापार का अर्थ समझने का प्रयत्न करने के पूर्व हमें यह ध्यान में रखना है कि इसी एक वस्तु पर सारा संसार टिका हुआ है। बाह्य जगत् की नित्यता का अटूट सम्बन्ध अन्तर्जगत् की नित्यता से है। और चाहे विश्व के विषय में वह सिद्धान्त—जिसमें एक को नित्य और दूसरे को अनित्य बताया गया है—कितना ही युक्तिसंगत क्यों न दिखे, ऐसे सिद्धान्तवाले को स्वयं ही अपने ही शरीररूपी यन्त्र में पता चल जायगा कि ज्ञानपूर्वक किया हुआ एक भी ऐसा कार्य सम्भव नहीं है, जिसमें कि आन्तरिक और बाह्य संसार दोनों की नित्यता उस कार्य के प्रेरक कारणों का एक अंश न हो। यद्यपि यह बिल्कुल सच है कि जब मनुष्य का मन अपनी परिसीमाओं के परे पहुँच जाता है तब तो वह द्वन्द्व को अखण्ड ऐक्य में परिणत हुआ देखता है। उस असीम सत्ता के इस ओर सम्पूर्ण बाह्य संसार—अर्थात् वह संसार जो हमारे अनुभव का विषय होता है—उसका अस्तित्व विषयी (ज्ञाता) के लिए है, ऐसा ही जाना जाता है, या केवल ऐसा ही जाना जा सकता है। और यही कारण है कि हमें विषयी के विनाश की कल्पना करने के पूर्व विषय के विनाश की कल्पना करनी होगी।

यहाँ तक तो स्पष्ट है। परन्तु अब कठिनाई उपस्थित होती है। साधारणतः मैं स्वयं अपने को देह के सिवाय और कुछ हूँ, ऐसा सोच नहीं सकता। मैं देह हूँ, यह भावना मेरी अपनी नित्यता की भावना के अन्तर्गत है, परन्तु देह तो स्पष्ट ही उसी तरह अनित्य है, जैसी कि सदा परिवर्तनशील स्वभाववाली समस्त प्रकृति।

तब फिर यह नित्यता है कहाँ ?

हमारे जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली एक और अद्भुत वस्तु है,—जिसके बिना 'कौन जी सकेगा और कौन क्षण भर के लिए भी जीवन का सुख भोग सकेगा ?' —और वह है मुक्ति की भावना'।

यही भावना हमें पग पग पर प्रेरित करती है, हमारे कार्यों को सम्भव बनाती है और हमारा एक दूसरे से परस्पर सम्बन्ध नियमित करती है—इतना ही नहीं, मानवीय जीवनरूपी वस्त्र का ताना और बाना यही है। बौद्धिक ज्ञान उसे अपने प्रदेश से अंगुल अंगुल हटाने का प्रयत्न करता है, उसके प्रान्त की एक एक चौकी छीनता जाता है और प्रत्येक पग को कार्य-कारण की लौह शृंखलाओं द्वारा दृढ़ता

के साथ कस दिया जाता है। पर वह तो हमारे इन सारे प्रयत्नों पर हँसती है। और आश्चर्य तो यह है कि कार्य-कारण के जिस वृहत्पुंज के नीचे दबाकर उसका हम गला घोंटना चाहते थे, वह अपने को उसीके ऊपर प्रतिष्ठित किये हुए है! इसके विपरीत हो भी कैसे सकता है? असीम के उच्चतर सामान्यीकरण द्वारा ही सदैव ससीम को समझा जा सकता है। बद्ध को मुक्त द्वारा ही, सकारण को अकारण द्वारा ही समझा सकते हैं। परन्तु यहाँ भी पुनः वही कठिनाई है। मुक्त कौन है? शरीर, या मन ही, क्या मुक्त है? यह तो स्पष्ट है कि वे भी नियम से उतने ही बद्ध हैं, जितने कि संसार के और सब पदार्थ।

अब तो समस्या इस दुविधा का रूप धारण कर लेती है : या तो सारी सृष्टि केवल सदा परिवर्तनशील वस्तुओं की ही राशि है—उसके सिवा और कुछ नहीं है—और वह कार्य-कारण के नियम से ऐसी जकड़ी हुई है कि छूट नहीं सकती, उसमें से किसी अणु मात्र को भी स्वतन्त्र अस्तित्व प्राप्त नहीं है, तथापि वह नित्यता और स्वतन्त्रता का एक अमिट भ्रम आश्चर्यजनक रूप में उत्पन्न कर रही है—अथवा हममें और सृष्टि में कोई ऐसी वस्तु है जो नित्य और स्वतन्त्र है, जिससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य के मन का यह मौलिक प्राकृतिक विश्वास भ्रम नहीं है। यह विज्ञान का काम है कि उच्चतर सामान्यीकरण द्वारा सभी तथ्यों की व्याख्या करे। अतः, कोई भी ऐसी व्याख्या जो अपने को व्याख्यापेक्षी तथ्य के शेषांश से संगत बनाने के निमित्त उस तथ्य के एक अंश को नष्ट कर देती है, कदापि वैज्ञानिक नहीं हो सकती, वह और जो भी हो।

अतः ऐसी व्याख्या जो स्वतन्त्रता की इस प्रबल और सर्वथा अनिवार्य भावना की उपेक्षा करती है और ऊपर कहे अनुसार सत्य के एक अंश का खण्डन करके उसके शेष अंश को समझाती है, अशुद्ध है। तब तो हमारे लिए अपनी प्रकृति के अनुरूप यह स्वीकार करने का ही रास्ता रह जाता है कि हममें ऐसी कोई वस्तु है, जो मुक्त और नित्य है।

परन्तु वह वस्तु देह नहीं है और न वह मन ही है। देह का नाश तो प्रतिक्षण होता रहता है और मन तो सदा बदलता रहता है। देह तो एक संघात है और उसी तरह मन भी। इसी कारण वे परिवर्तनशीलता के परे नहीं पहुँच सकते। परन्तु स्थूल जड़ तत्त्व के इस क्षणिक आवरण के परे और मन के भी सूक्ष्मतर आवरण के परे, मनुष्य का सच्चा स्वरूप—नित्य मुक्त, सनातन आत्मा अवस्थित है। उसी आत्मा की मुक्ति जड़ और चेतन के स्तरों में व्याप्त है और नाम-रूप द्वारा रंजित होते हुए भी सदा अपने अबाधित अस्तित्व को प्रमाणित करती है। उसीका अमरत्व, उसीका आनन्दस्वरूप, उसीकी शान्ति और उसीका दिव्यत्व

प्रकाशित हो रहा है और अज्ञान के मोटे से मोटे स्तरों के रहते हुए भी वह अपने अस्तित्व का अनुभव कराती रहती है। वही यथार्थ पुरुष है, जो निर्भय है, अमर है और मुक्त है।

अब मुक्ति तो तभी सम्भव है, जब कि कोई बाहरी शक्ति अपना प्रभाव न डाल सके, कोई परिवर्तन न कर सके। मुक्ति केवल उसीके लिए सम्भव है जो सभी बन्धनों से परे हो, सभी नियमों से परे हो और कार्य-कारण की शृंखला से परे हो। कहने का तात्पर्य यही है कि एक अपरिवर्तनशील (पुरुष) ही मुक्त हो सकता है और इसीलिए अमर भी। यह पुरुष, यह आत्मा, मनुष्य का यह यथार्थ स्वरूप, मुक्त, अक्षय, अविनाशी सभी बन्धनों से परे है, और इसीलिए वह न तो जन्म लेता, न मरता है।

'मनुष्य की यह आत्मा नित्य, सनातन और जन्म-मरणरहित है।'[1]

१. न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
—गीता ॥२।२०॥

पुनर्जन्म[1]

'(हे अर्जुन !) मेरे और तेरे पहले बहुत जन्म हो चुके हैं। उन सबको मैं जानता हूँ, तू नहीं जानता।'—भगवद्गीता।[2]

सभी देशों और युगों में मनुष्य की बुद्धि को चक्कर में डालनेवाली अनेक पहेलियों में से सबसे पेचीदा स्वयं मनुष्य ही है। इतिहास के उषाकाल से जिन लाखों रहस्यों के उद्घाटन करने में मनुष्य ने अपनी बहुतेरी शक्तियों का व्यय किया है, उनमें सबसे अधिक रहस्यमय है स्वयं उसकी प्रकृति। वह तो केवल असाध्य प्रहेलिका मात्र नहीं, बल्कि साथ ही साथ अन्य सभी समस्याओं की मूल समस्या है। हम जो कुछ जानते, अनुभव करते और कार्य करते हैं, मानव प्रकृति ही उन सबका प्रस्थान विन्दु और भण्डार होने के कारण कभी भी ऐसा समय नहीं रहा है और न भविष्य में ही होगा, जब मानव प्रकृति मनुष्य के सर्वोत्तम और सर्वोपरि चिन्तन का विषय न रही हो, या नहीं होगी।

मानव अस्तित्व के साथ घनिष्टतम सम्बन्ध रखनेवाले उस सत्य के प्रति उत्कट प्यास, बाह्य सृष्टि के मापन के आन्तरिक पैमाने के लिए सर्वोपरि उत्कट इच्छा, और परिवर्तनशील संसार में एक अचल केन्द्र प्राप्त करने की अत्यधिक स्वाभाविक आवश्यकता प्रतीत होने के कारण, यद्यपि मनुष्य कभी कभी मुट्ठी भर धूलि को ही सुवर्ण जान कर ग्रहण कर लेता रहा है और तर्क या बुद्धि से श्रेष्ठ आन्तरिक ध्वनि द्वारा सचेत किये जाने पर भी अन्तःस्थित ईश्वरत्व का सच्चा अर्थ ठीक ठीक लगाने में प्रायः भूल करता है, तथापि जब से खोज या शोध का प्रारम्भ हुआ है, तब से ऐसा समय कभी नहीं रहा, जब किसी जाति या कुछ व्यक्तियों ने सत्य के दीपक को ऊँचा न उठाये रखा हो।

परिवेश और अनावश्यक ब्योरों की एकांगी, छिछली, और पूर्वग्रहदूषित धारणा करके कभी कभी अनेक सम्प्रदायों और पंथों के अनिश्चित मतों से ऊबकर और—दुःख की बात है कि बहुधा संगठित पुरोहित-प्रपंच के दुर्धर्ष अन्धविश्वासों

---

१. न्यूयार्क की 'मेटाफ़िज़िकल मैगजीन' में (मार्च, १८९५) प्रकाशित।

२. बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥४।५॥

के फलस्वरूप अत्यन्त विपरीत दिशा में पहुँच जाने के कारण, पुराने ज़माने में या आजकल विशेषकर प्रगतिशील बुद्धिवाले अनेक व्यक्तियों ने सत्य की शोध को निराश होकर छोड़ ही नहीं दिया, वरन् उसे निष्फल और निरुपयोगी भी घोषित कर दिया। भले ही दार्शनिक लोग क्रुद्ध हों और नाक-भौं सिकोड़ें और पुरोहित लोग अपना रोज़गार तलवार के बल पर ही क्यों न जारी रखें, परन्तु सत्य तो केवल उन्हींको प्राप्त होता है, जो निर्भय होकर विना दूकानदारी किये उसके मन्दिर में जाकर केवल उसीके हेतु उसकी पूजा करते हैं।

प्रकाश उन्हीं व्यक्तियों को प्राप्त होता है, जो अपनी बुद्धि द्वारा सचेतन प्रयत्न करते हैं, यद्यपि वह छनकर अचेतन रूप से सारी जाति को प्राप्त हो जाता है। दार्शनिक लोग महामना पुरुषों द्वारा सत्य की खोज के संकल्पयुक्त प्रयत्नों के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, और इतिहास परिव्याप्ति की उस मूक प्रक्रिया को प्रकट करता है, जिसके द्वारा जनता उस सत्य को आत्मसात् कर लेती है।

मनुष्य ने अपने सम्बन्ध में जितने सिद्धान्त निकाले हैं, उन सबमें सर्वाधिक प्रचलित, शरीर से भिन्न अस्तित्ववाले और अमर आत्मा का ही है। और ऐसे आत्मा को माननेवालों में से अधिकांश विचारवान लोग सदा उसके पूर्वास्तित्व में भी विश्वास करते आये हैं।

वर्तमान समय में संगठनबद्ध धर्मों के अधिकांश अनुयायी इसमें विश्वास रखते हैं; और सुसम्पन्न देशों के सर्वश्रेष्ठ विचारक आत्मा के पूर्वास्तित्व के विरोधी धर्मों में पले होने के बावजूद उस विश्वास का समर्थन करते हैं। यह विश्वास हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म का आधार है, प्राचीन मिस्र का शिक्षित वर्ग भी इसे मानता था। प्राचीन ईरानी भी इसी पर पहुँचे; यूनानी तत्त्ववेत्ताओं ने इसे अपने दर्शन-शास्त्र की नींव बनायी, हिब्रुओं में से फ़ैरिसी लोगों ने इसे स्वीकार किया, मुसलमानों में से प्रायः सभी सूफ़ियों ने इसकी सत्यता अंगीकार की।

विभिन्न जातियों में आस्था के विविध रूपों को जन्म देने और पुष्ट करनेवाली कुछ विशेष परिस्थितियाँ होती हैं। पुराने राष्ट्रों को यह समझने के लिए कि मृत्यु के उपरान्त शरीर का भी कोई अंश जीवित रह सकता है, कई युग लग गये। और शरीर से पृथक् स्थायी जीवित बनी रहनेवाली कोई वस्तु है, इस प्रकार का युक्तिसंगत मत निश्चित करने के लिए उनको और भी अधिक युग लगे। जब यह मत निश्चित हो गया कि कोई ऐसी वस्तु है, जिसका सम्बन्ध शरीर के साथ थोड़े ही समय के लिए रहता है, तब और केवल उन्हीं राष्ट्रों में, जो इस सिद्धान्त पर पहुँचे, यह अनिवार्य प्रश्न सामने आया कि वह वस्तु कहाँ से आयी और कहाँ जायगी?

पुराने हिब्रू लोगों ने आत्मा विषयक कोई विचार अपने मन में न लाकर अपनी शान्ति भंग नहीं की। उनके विचार में मृत्यु सब कुछ समाप्त कर देती है। कार्ल हेकेल ठीक कहते हैं कि "यद्यपि यह सच है कि 'प्राचीन व्यवस्थान' में निर्वासन के पूर्व हिब्रू लोग शरीर से भिन्न एक जीवन-तत्त्व को अंगीकार करते हैं, जिसे वे 'नेफ़ेश' (Nephesh) या 'रुआख' (Ruakh) या 'नेशामा' (Neshama) कहते हैं, पर इन सभी शब्दों से आत्मा की अपेक्षा प्राणवायु का बोध अधिक होता है। पैले-स्टाइन निवासी यहूदियों के लेखों में भी निर्वासन के उपरान्त अमर जीवात्मा की कहीं चर्चा नहीं है, बल्कि सर्वत्र ईश्वर से निकलनेवाली केवल उस 'प्राणवायु' का ही उल्लेख है, जो शरीर के नाश होने पर ईश्वरी 'रुआख' में पुनः तिरोहित हो जाती है।"

प्राचीन मिस्रवासी और कैल्डियन (Chaldeans) लोगों का आत्मा के सम्बन्ध में एक विचित्र मत था, पर मृत्यु के उपरान्त इस जीवित रहनेवाले अंश के सम्बन्ध में उनके मत को, और पुराने हिन्दू, ईरानी, यूनानी या अन्य आर्य-जातियों के मतों को एक ही समझने की भूल नहीं करना चाहिए। अत्यन्त प्राचीन काल से ही आर्यों के और असंस्कृत-भाषी म्लेच्छों के आत्मा सम्बन्धी विचारों में भारी अन्तर था। बाह्यतः यह अन्तर शव की अंत्येष्टि के रूपों द्वारा स्पष्ट हो जाता है। बहुधा म्लेच्छों का भरसक प्रयत्न यही रहता है कि मृत शरीर की—सावधानी के साथ उसे गाड़कर या और अधिक परिश्रम के साथ आलेपन द्वारा उसे ज्यों का त्यों बनाये रखते हुए—रक्षा की जाय। इसके विपरीत आर्यों की सामान्य प्रथा मृत शरीर को जला डालने की है।

यहीं तो एक महान् रहस्य की कुंजी है—यथार्थ तो यही है कि कोई भी म्लेच्छ जातिवाले—चाहे मिस्रदेशवासी हों या एसीरियन या बेबिलोनियन—आर्यों की, विशेषकर हिन्दुओं की सहायता के बिना, कभी इस सिद्धान्त पर नहीं पहुँच सके कि आत्मा का अलग अस्तित्व है और वह शरीर से स्वतन्त्र रहकर भी अलग जीवित रह सकती है।

यद्यपि हिरोडोटस का कहना है कि मिस्रदेशवासियों को ही सर्वप्रथम आत्मा की अमरता का ज्ञान हुआ, और वह मिस्रवासियों का यह सिद्धान्त भी बताता है कि 'शरीर के नाश होने पर आत्मा जन्म लेनेवाले प्राणियों में पुनः पुनः प्रवेश करती है और थलचर, जलचर, नभचर प्राणियों में भटकते भटकते तीन सहस्र वर्षों के पश्चात् पुनः मनुष्य शरीर को लौट कर आती है,' तो भी मिस्रदेशीय प्राचीन इतिहास के आधुनिक शोध करनेवालों ने उस देश के सर्वसाधारण धर्म में आत्मा की देहान्तर-प्राप्ति के सिद्धान्त का (metempsychosis) कोई पता नहीं पाया।

इसके विपरीत मैस्पेरो, ए० एरमैन और अन्य विख्यात आधुनिकतम मिस्रशास्त्री तो इसी अनुमान की पुष्टि करते हैं कि मिस्रदेशवासी पुनर्जन्म (palingenesis) के सिद्धान्त से परिचित नहीं थे।

प्राचीन मिस्र देशवासी आत्मा को निजी व्यक्तित्वरहित केवल प्रतिरूप शरीर मानते थे और उनका यह विश्वास था कि वह शरीर से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं कर सकती। जब तक शरीर है, तभी तक वह वर्तमान रहती है और यदि संयोगवश शव का नाश हो जाय, तो उस शरीर से छूटी हुई आत्मा को दुबारा मृत्यु और विनाश का दुःख भुगतना पड़ता है। मृत्यु के उपरान्त आत्मा संसार भर में स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण कर सकती थी, परन्तु वह रात के समय सदा दुःखी, सदा भूखी-प्यासी, जिस स्थान में उसका मृत शरीर रहता था, वहीं लौटकर आ जाया करती थी; उसकी सदैव पुनः एक बार जीवन के सुख भोगने की अत्यन्त उत्कट इच्छा रहती थी, पर उस इच्छा को वह कभी पूर्ण नहीं कर सकती थी। यदि उसके पुराने शरीर के किसी भाग में कोई चोट आ जाय तो आत्मा के भी उसी भाग में अवश्य ही चोट आ जाती थी। अपने इसी विचार के कारण मिस्रनिवासी अपने यहाँ के मुरदों की रक्षा करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। पहले तो उन्होंने मुरदों को गाड़ने के लिए मरुस्थल को पसन्द किया था, क्योंकि वहाँ की सूखी हवा में शरीर का नाश शीघ्र नहीं होता था और इस कारण विगत आत्मा को दीर्घ जीवन प्राप्त हो जाता था। कुछ काल के उपरान्त उनके यहाँ के एक देवता ने शव-संरक्षण की विद्या (mummification) का आविष्कार किया। इस विद्या द्वारा श्रद्धावान लोग अपने पूर्वजों के मृत शरीरों को प्रायः अनन्त काल तक रख सकने की आशा करने लगे, जिससे कि मृत आत्मा (या प्रेतात्मा), वह चाहे जितनी भी दुःखी क्यों न हो, अमरत्व प्राप्त कर सके।

जिस संसार में आत्मा अब आगे कोई आनन्द नहीं प्राप्त कर सकती, उस संसार के लिए निरन्तर खिन्नता मृत पुरुष को सदा यातना देती रहती थी। मृत पुरुष चिल्ला उठता, "अरे मेरे भैया! खान-पान, नशा कुछ भी मत छोड़ो, प्रेम और सुखोपभोग से भी अलग मत होओ, चाहे रात हो या दिन, अपनी वासनाओं की तृप्ति से विरत मत होओ, अपने हृदय में दुःख मत लाओ—क्योंकि मनुष्य को पृथ्वी पर रहना ही कितने वर्ष है। 'पश्चिम' तो घोर निद्रा और गहन छाया का स्थान है, जहाँ के निवास करनेवाले एक बार स्थापित कर दिये जाने पर अपने 'ममी' (mummy) रूप में सदा सुप्त रहते हैं और अपने भाइयों को देखने के लिए कभी जाग्रत नहीं हो सकते; वे अपने माता-पिता को अब आगे कभी नहीं पहचानते और अपनी पत्नियों और बच्चों को भी अन्तःकरण से भुला देते हैं। वह सजीव जल,

जिसे पृथ्वी अपने ऊपर बसनेवाले सभी को देती है, वह जल भी मेरे लिए दूषित और प्राणहीन बन जाता है; वह जल पृथ्वी पर रहनेवालों के लिए तो बहता हुआ है, पर मेरे लिए तो वह जल, जो मेरा है, केवल सड़ा हुआ द्रव मात्र है; जब से मैं इस श्मशानघाटी में आया हूँ, मैं कहाँ हूँ, और क्या हूँ, यही नहीं जान पाता। मुझे बहता पानी पीने को दो, मुझे जल के किनारे मेरा मुँह उत्तर की ओर करके रख दो, जिससे कि मुझे शीतल वायु का स्पर्श-सुख प्राप्त हो और मेरा हृदय अपने दुःख से छूटकर प्रफुल्ल हो उठे।"[1]

यद्यपि कैल्डियन लोग मिस्रवालों की भाँति मृत्यु के अनन्तर आत्मा की अवस्था का इतना विवेचन करने नहीं बैठते, पर तो भी उन लोगों में भी आत्मा दो रूपवाली है और अपनी क़ब्र से ही बँधी रहती है। वे भी भौतिक शरीर से अलग अवस्था की कल्पना नहीं कर सके और मुरदे के पुनः जी उठने की आशा करते थे। और यद्यपि देवी इश्तार (Ishtar) ने बड़ी बड़ी विपत्तियों को भोगकर और दुःसाहसपूर्ण कार्य करके अपने गड़रिया पति डूमूजी (Dumuji)—इया (Ea) और डैमकिना (Damkina) के पुत्र—को पुनः जिला लिया, पर 'अत्यन्त धार्मिक भक्तगण भी अपने मृत मित्रों-बान्धवों को पुनर्जीवन प्राप्त कराने के लिए इस मन्दिर से उस मन्दिर में प्रार्थना करते व्यर्थ ही भटकते रहे।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि पुराने ज़माने के मिस्रवासी या कैल्डियन लोग आत्मा का विचार उसे मृत पुरुष के मृतक शरीर से या क़ब्र से अलग रखकर नहीं कर सकते थे। इस पृथ्वी पर का जीवन ही सबसे बढ़कर था और मृत पुरुष उसी जीवन को पुनः भोगने का अवसर प्राप्त करने के लिए सदा लालायित रहते थे और जीवित पुरुष सदा यही आशा करते थे कि हम उनके प्रतिरूप का अस्तित्व अधिक काल तक बनाये रखने में सहायता पहुँचायें और वे इसके निमित्त भरपूर प्रयत्न भी करते थे।

यह वह भूमि नहीं है, जहाँ से आत्माविषयक कोई उच्चतर ज्ञान अंकुरित हो सके। प्रथम तो वह बहुत ही भौतिकतापूर्ण है और उस पर भी आतंक और पीड़ा से भरी है। अशुभ की प्रायः अगणित शक्तियों से भयत्रस्त, और निराशा के साथ उनसे बचने का दुःखमय प्रयत्न करते हुए, जीवित पुरुषों की आत्मा भी—

---

१. ये मूल पंक्तियाँ ब्रग्श (Brugsch) द्वारा जर्मन भाषा में अनूदित की गयी हैं, डाय् इजिप्टिश ग्रेबरवेल्ट (*Die Egyptische Graberwelt*), पृष्ठ ३९-४०; इसी प्रकार उनका अनुवाद फ़्रांसीसी भाषा में मैस्पेरो द्वारा किया गया है, एट्यूड्स इजिप्टिएन्निज (*Etudes Egyptiennes*) भाग १, पृष्ठ १८१-१९०।

मृत पुरुषों की आत्मा की धारणा के अनुसार---संसार भर में भटकती रहकर भी---कभी भी क़ब्र और विघटित होते मुरदे के आगे नहीं बढ़ सकी।

अब हम आत्मा सम्बन्धी उच्चतर विचारों के उद्‌गम के लिए एक और जाति की ओर चलें, जिनका ईश्वर दयानिधान सर्वव्यापी पुरुष है और अनेक प्रकाशमान दयालु और सहायक देवों के रूप में प्रकट होता है; मानव जाति में सर्वप्रथम जिन्होंने ईश्वर को पिता कहकर पुकारा---'हे भगवन्! मेरे हाथों को पकड़कर मुझे उसी प्रकार ले चल, जैसे पिता अपने प्यारे पुत्र को ले जाता है।' जो लोग जीवन को आशामय मानते थे, उसे निराशापूर्ण नहीं समझते थे; जिनका धर्म, उन्माद और आवेशपूर्ण जीवन में, दुःखी मनुष्य के मुँह से बारी बारी से निकलनेवाली दुःखभरी आहों का शब्द नहीं होता था, वरन् जिनके विचार खेतों और अरण्यों के सुवास से सुगन्धित होकर हमें प्राप्त होते हैं; जिनके स्तुतिपूर्ण गीत---दिवाकर की प्रथम किरणों से प्रकाशित इस सुन्दर संसार का अभिनन्दन करते समय पक्षियों के गले से निकले हुए मधुर गीतों के समान स्वाभाविक, स्वच्छन्द, आनन्दपूर्ण---अभी भी अस्सी शताब्दियों की वीथी से होकर आनेवाली स्वर्ग के आनेवाले सदा आह्वान की तरह हमें सुनायी दे रहे हैं;---हम उन पुराने आर्यों की ओर दृष्टि डालते हैं।

'मुझे उस मरणरहित, विनाशरहित सृष्टि में पहुँचा दो, जहाँ स्वर्ग का प्रकाश और सनातन तेज चमक रहा है'; 'मझे उस राज्य में अमर बना दो, जहाँ राजा विवस्वान् का पुत्र निवास करता है, जहाँ स्वर्ग का गुप्त मन्दिर है'; 'मुझे उस राज्य में अमर बना दो, जहाँ श्रवण करते करते वे डोलते हैं'; 'अन्तःस्थित स्वर्ग के तृतीय मण्डल में, जहाँ सारी सृष्टि प्रकाशपूर्ण है, मुझे उस आनन्द के साम्राज्य में अमर बना दो';---ये आर्यों के सबसे पुराने ग्रन्थ 'ऋग्वेद-संहिता' के प्रार्थना-मन्त्र हैं।

हमें म्लेच्छों और आर्यों के आदर्श में एकदम ज़मीन-आसमान का अन्तर दिखायी देता है। एक को तो यह शरीर और यह संसार ही सम्पूर्ण सत्य प्रतीत होता है और उसके लिए यही इष्ट वस्तु हो जाता है। वह थोड़ा सा जीवन-द्रव---जो इन्द्रियों के उपभोग के चले जाने से यातना और पीड़ा का अनुभव करने के लिए, मृत्यु-काल में शरीर से उड़ जाता है, वही, यदि शरीर की रक्षा सावधानी के साथ की गयी तो, पुनः लौटकर आ जायगा, इस प्रकार की व्यर्थ आशा वे करते रहते हैं; और इसी कारण जीवित मनुष्य की अपेक्षा मुरदा अधिक सावधानी से सुरक्षित रखने की वस्तु बन जाता है। दूसरे को यह पता लग चुका है कि शरीर को छोड़कर जानेवाला ही 'यथार्थ मनुष्य' है और जब शरीर से वह अलग हो जाता है, तब वह शरीर में रहते जिस आनन्द का उपभोग कर सका था, उससे कहीं उच्च आनन्द

का उपभोग करता है। अतः वे शीघ्रतापूर्वक उस सड़ते हुए मुरदे को जलाकर नष्ट कर देने लगे।

यहाँ हमें वह बीज प्राप्त होता है, जिससे आत्मा की सच्ची कल्पना का उद्गम हुआ। यही स्थान है, जहाँ कि शरीर नहीं वरन् आत्मा ही यथार्थ मनुष्य है, इसका पता चला; यही स्थान है, जहाँ कि यथार्थ मनुष्य और उसके शरीर के अटूट सम्बन्ध के समस्त विचारों का अभाव है; इसीलिए यहाँ पर आत्मा की मुक्ति के उदार विचार का उदय हो सका। और जब आर्यों ने दिवंगत आत्मा को लपेटे रहनेवाले शरीररूपी चमकीले वस्त्र को भेदकर भीतर देखा, तब उन्हें उस आत्मा के यथार्थ स्वरूप, एकाकी, निराकार विशिष्ट तत्त्व होने का पता चला और तभी यह अनिवार्य प्रश्न उठा कि वह कहाँ से आयी ?

भारत में और आर्यों में ही पूर्व जन्म, अमरत्व और आत्मा के व्यक्तित्व का सिद्धान्त प्रथमतः प्रकट हुआ। मिस्र देश के आधुनिक अनुसंधान में इस पृथ्वी पर के जीवन-काल के पूर्व और पश्चात् रहनेवाली स्वतन्त्र जीवात्मा के सिद्धान्तों का नाम-निशान नहीं पाया जाता। कुछ गुह्य समाज निश्चय ही इस विचार से अवगत थे, पर उनमें उसका सूत्र भारत से ही सम्बन्ध रखता पाया गया है।

कार्ल हेकेल कहते हैं—'मुझे निश्चय हो चुका कि जितनी अधिक गम्भीरता से हम मिस्री धर्म का अध्ययन करते हैं, उतना ही अधिक स्पष्ट हमें यह दिखता है कि लोकप्रचलित मिस्री धर्म के लिए आत्मा की देहान्तर-प्राप्ति (metempsychosis) का सिद्धान्त बिल्कुल अज्ञात था और जिस किसी गुह्य समाज में वह मिलता है, वह ओसाइरिस (Osiris) उपदेशों में अन्तर्निहित न होकर हिन्दू उद्गम से प्राप्त हुआ है।'

आगे चलकर हम अलेक्ज़ेन्ड्रिया के यहूदियों में जीवात्मा का सिद्धान्त देखते हैं और ईसा मसीह के समय के फ़ैरिसी लोग (प्राचीन आचारनिष्ठ यहूदी धर्मसम्प्रदाय)—जैसा हम पहले बता चुके हैं—न केवल स्वतन्त्र आत्मा में ही विश्वास करते थे वरन् यह भी मानते थे कि भिन्न भिन्न शरीरों में वह भटकती रहती है, और इस प्रकार यह जानना आसान हो जाता है कि ईसा मसीह एक पुराने पैग़म्बर के अवतार कैसे माने गये; और स्वयं ईसा मसीह जोर देकर कहते थे कि पैग़म्बर इलियस ही जॉन बैप्टिस्ट बनकर पुनः आये थे। 'यदि आप इसे मानें, तो यह इलियस ही है, जो आनेवाला था'—मैथ्यु ११।१४।।

आत्मा और उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विचार हिब्रुओं में, मालूम होता है, मिस्री लोगों के उच्चतर रहस्यमय उपदेशों के द्वारा पहुँचा और मिस्रियों ने उसे भारत से ग्रहण किया। और वह विचार अलेक्ज़ेन्ड्रिया के रास्ते आया, यह बात

अर्थगभीर है, क्योंकि बौद्ध ग्रन्थों से स्पष्ट पता चलता है कि बौद्ध धर्मप्रचारकों का कार्यक्षेत्र अलेक्ज़ेन्ड्रिया और एशिया माइनर में रहा है।

कहा जाता है कि पाइथागोरस ही प्रथम यूनानी है, जिसने यूनान देशवासियों—हेलेनों—को पुनर्जन्म का सिद्धान्त सिखाया। वे आर्य जाति के होने के कारण पहले ही अपने मुरदों को जलाते थे और जीवात्मा के सिद्धान्त को मानते थे; अतः उन यूनानियों के लिए, पाइथागोरस के उपदेश से पुनर्जन्म का सिद्धान्त मान लेना आसान था। अपूलियस (Apuleius) के कथन के अनुसार पाइथागोरस भारत में आये थे और वहाँ के ब्राह्मणों से उन्होंने शिक्षा ग्रहण की थी।

अब तक हमें यह ज्ञात हुआ कि जहाँ कहीं आत्मा न केवल शरीर को जीवित रखनेवाला एक अंश, वरन् पृथक्, 'यथार्थ मनुष्य' ही मानी जाती है—वहाँ उसके पूर्वास्तित्व का सिद्धान्त अनिवार्यतः स्थिर हो गया; और जिन राष्ट्रों ने आत्मा के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को माना, उन्होंने मृतक शरीर को जलाकर अपने उस विश्वास को बाह्य रूप में सदैव प्रकट भी किया; यद्यपि आर्यों की एक पुरानी जाति ईरानियों ने पुराने ज़माने से ही, बिना किसी सेमिटिक प्रभाव के, अपने यहाँ के मुरदों को अलग करने की एक अद्भुत रीति प्रचलित की। वे अपने 'शान्ति के मीनार' (Towers of Silence) को जिस नाम से पुकारते हैं, वह नाम (दख्म) 'दह्' (जलाना) धातु से बना है।

संक्षेप में यह कह सकते हैं कि जिन जातियों ने अपनी प्रकृति के विश्लेषण की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया, वे तो अपने सर्वस्वरूपी इस भौतिक शरीर के परे नहीं पहुँचे और जब कभी उन्हें उसके परे जाने के लिए उच्चतर आलोक द्वारा प्रेरणा हुई, तब भी वे केवल इसी सिद्धान्त पर पहुँचे कि किसी भी प्रकार कभी सुदूर भविष्य में यह शरीर ही अविनाशी बन जायगा।

इसके विपरीत उस जाति या राष्ट्र के लोगों ने—भारतीय आर्यों ने अपनी शक्तियों का सर्वोत्तम अंश इसी खोज में लगा दिया कि इस चिन्तनशील प्राणी का यथार्थ स्वरूप क्या है? और परिणाम में उन्हें पता लगा कि इस शरीर के परे, और उनके पूर्वज जिस तेजस्वी शरीर की आकांक्षा करते रहे उसके भी परे, 'यथार्थ मानव', वह सत्य तत्त्व, वह व्यक्ति है, जो इस शरीररूपी आवरण या वस्त्र को धारण कर लेता है और पुनः उसके जीर्ण हो जाने पर उसे अलग फेंक देता है। क्या यह तत्त्व सृष्ट किया गया? यदि 'सर्जन' का अर्थ यह है कि 'कुछ नहीं' से कोई वस्तु उत्पन्न हुई, तब तो उसका उत्तर निश्चयात्मक 'नहीं' है। यह आत्मा जन्मरहित और मरणरहित है; यह आत्मा किसी प्रकार के सम्मिश्रण या संयोग से बनी हुई नहीं है, वरन् स्वतन्त्र व्यक्ति-सत्ता है और इसी कारण न तो

वह उत्पन्न की जा सकती और न उसका नाश ही किया जा सकता है। वह तो भिन्न भिन्न अवस्थाओं में से यात्रा कर रही है।

स्वभावत: यह प्रश्न उठता है कि वह इतने समय तक कहाँ थी? हिन्दू तत्ववेत्ता कहते हैं—'वह भौतिक दृष्टि से भिन्न भिन्न शरीरों में यात्रा कर रही थी, या यथार्थ में तात्त्विक दृष्टि से देखने पर भिन्न भिन्न मानसिक भूमिकाओं में यात्रा कर रही थी?'

हिन्दू दार्शनिक लोगों ने जो पुनर्जन्म का सिद्धान्त निकाला है, उसके लिए वेदों के उपदेश के सिवाय और भी कोई प्रमाण है? हाँ! ऐसे प्रमाण हैं; और हम आगे यह वताने की आशा करते हैं कि उसके लिए ऐसे ही प्रवल प्रमाण हैं, जैसे किसी भी अन्य सर्वमान्य सिद्धान्त के लिए। परन्तु पहले हम यह देख लें कि कई आधुनिक यूरोपीय मनीषियों ने पुनर्जन्म के सम्बन्ध में क्या कहा है।

आई० एच० फ़िक्टे (Fichte) आत्मा की अमरता के विषय में चर्चा करते हुए कहते हैं, 'यह सच है कि प्राकृतिक जगत् में एक दृष्टान्त है, जो दलील के रूप में अस्तित्व की अविच्छिन्नता के विरुद्ध सामने लाया जा सकता है। वह यही प्रसिद्ध तर्क है कि जिस वस्तु का काल में आरम्भ हुआ, उसका अन्त या नाश किसी काल में अवश्य होगा। अत: आत्मा भूतकाल में थी, इस विवाद पक्ष में भी उसका पूर्वास्तित्व तो मान ही लिया गया। यह युक्तिसंगत सिद्धान्त है, पर यह तो उसके अविच्छिन्न अस्तित्व के विरोध में न होकर उसके पक्ष में एक अतिरिक्त युक्ति हो गयी। यथार्थ में दार्शनिक-शरीरविज्ञान के इस सत्य के सम्पूर्ण अर्थ को समझने की आवश्यकता है कि यथार्थ में न कोई वस्तु उत्पन्न की जा सकती है और न कोई वस्तु नष्ट ही की जा सकती है। इसीको समझने से, भौतिक शरीर में दृष्टिगोचर होने के पूर्व आत्मा का अस्तित्व अवश्य रहा होगा, यह बात समझी जा सकती है।'

शापेनहॉवर अपनी पुस्तक[1] में पुनर्जन्म के विषय में कहते हैं—'किसी व्यक्ति के लिए जैसी नींद है, उसी तरह 'इच्छा-शक्ति' के लिए मृत्यु है। यदि स्मृति और व्यक्तित्व क़ायम रहें, तो उन्हीं कर्मों को करना और उन्हीं दु:खों को भोगना, यही सदा अनन्त काल तक, विना लाभ के करते रहना उसे कभी सहन नहीं हो सकता। वह इन्हें दूर फेंक देती है और यही 'लेथी'[2] (Lethe) है, और इस मृत्युरूपी नींद में से नया प्राणी बनकर दूसरी बुद्धीन्द्रिय को साथ लेकर पुन: प्रकट होता है; नया दिवस उसे नये तटों की

---

१. *Die Welt als Wille und Vorstellung*

२. वैतरणी की यूनानी प्रतिरूप लेथी नदी, जिसमें मृत्यु के बाद स्नान करके आत्मा अपनी स्मृति खो देती है।

ओर ललचाता है। तब तो ये सतत होनेवाले नये जन्म उस अविनाशी इच्छा-शक्ति के जीवन-स्वप्न की लगातार श्रेणीरूप हैं। यह तब तक चलेगा, जब तक कि बारम्बार के नये शरीरों में अधिकाधिक और भिन्न भिन्न प्रकार के ज्ञान द्वारा शिक्षित और उन्नत होकर वह स्वयं को निर्मूल और विलुप्त न कर दे। इस प्रकार के पुनर्जन्म का अनुभव द्वारा भी प्रमाण मिल जाता है—यह नहीं भूलना चाहिए। यथार्थ में तो नये प्रकट होनेवाले प्राणियों के जन्म से और जीर्ण होनेवालों की मृत्यु से सम्बन्ध रहता ही है। यह बात तब दिखायी देती है, जब कि उजाड़ बना देनेवाली भयंकर बीमारियों का परिणाम प्रतीत होनेवाली मानव जाति की अत्यधिक उत्पादन-शक्ति हुआ करती है। चौदहवीं शताब्दी में जब 'काली मौत' (Black Death) नामक बीमारी ने पूर्वी गोलार्द्ध की अधिकांश आबादी को उजाड कर दिया, उस समय मानव जाति में बहुत असाधारण रूप से उत्पादन-शक्ति और जन्म-संख्या बढ़ गयी और यमज (जुड़वाँ) बालकों की पैदाइश अधिक हुई। एक बात और उल्लेखनीय है कि उस समय पैदा होनेवाले बच्चों के दाँत पूरी संख्या में नहीं जमे; इस प्रकार प्रकृति ने भरपूर प्रयत्न किये, परन्तु ब्योरों में कृपणता कर दी। यह विवरण एफ़० स्नूरार ने अपने 'क्रॉनिक डेर सेंसेन'[१], १८२५ में दिया है। कैस्पर भी अपने 'यूबेर डी वाह्रशाइना-लिखे लेबेंस डायर डेस मेंसेन'[२], १८३५ में इस सिद्धान्त का समर्थन करता है कि किसी विशिष्ट आबादी में वहाँ की जनसंख्या का प्रभाव वहाँ के जीवन-काल की दीर्घता और मृत्यु-संख्या पर अवश्य पड़ता है, क्योंकि जन्म-संख्या मृत्यु-संख्या के साथ साथ चलती है; सदैव और सर्वत्र मृत्यु और जन्म की संख्याएँ समान अनुपात में बढ़ती और घटती हैं; इस बात को निःसन्देह रूप से सिद्ध करने के लिए उन्होंने भिन्न भिन्न देशों और भिन्न भिन्न प्रान्तों से प्रमाण एकत्र किये हैं। और, फिर यह तो असम्भव है कि मेरी अकाल मृत्यु से, और जिस विवाह से मेरा कोई सम्बन्ध न हो, उसकी प्रजननशीलता से कोई भौतिक कार्य-कारण सम्बन्ध हो। इस प्रकार यहाँ अलौकिक को अस्वीकार नहीं किया जा सकता और उसमें निश्चयात्मक रूप से लौकिक घटना की व्याख्या का आधार तत्काल मिल जाता है। प्रत्येक नवजात प्राणी नये जीवन में ताजा और प्रफुल्लित होकर आता है और उसका मुक्त वरदान के रूप में उपभोग करता है; परन्तु मुक्त वरदान के रूप में कुछ भी नहीं दिया जाता और कुछ भी नहीं दिया जा सकता। इस ताज़े

---

१. *Chronik der Senchen*

२. *Ueber die Wahrscheinliche Lebensdauer des Menschen*

जीवन का मूल्य बुढ़ापे और उस जीर्ण जीवन की मृत्यु द्वारा दिया जाता है, जिस जीवन का नाश तो हो गया, परन्तु जिसके भीतर वह अविनाशी बीज था, जिसमें से नया जीवन अंकुरित हुआ है। वे दोनों जीवन एक ही हैं।'

वह महान् अंग्रेज़ तत्त्ववेत्ता ह्यूम, शून्यवादी होते हुए भी, अमरत्व पर अपने संदेहवादी निबन्ध में कहता है—'अतएव आत्मा की देहान्तर-प्राप्ति ही इस प्रकार का सिद्धांत है, जिस पर दर्शन शास्त्र ध्यान दे सकता है।' तत्त्ववेत्ता लेसिंग एक कवि की गम्भीर अन्तर्दृष्टि के साथ पूछता है, 'यह परिकल्पना इतनी उपहासास्पद क्या इसीलिए है कि यह सबसे पुरानी है? या इसीलिए कि (मध्ययुगीन बुद्धिविरोधी ईसाई) शिक्षालयों के वाक्छलों द्वारा नष्ट-भ्रष्ट होने के पूर्व मानव-बुद्धि—एकदम उस कल्पना पर उतर पड़ी? . . .जिस प्रकार मैं नया ज्ञान, नया अनुभव कई बार प्राप्त कर सकता हूँ, उसी प्रकार अनेक बार मैं क्यों न लौट आऊँ? क्या मैं एक ही बार में इतना ले आया हूँ कि दुबारा वापस लौटने का कष्ट व्यर्थ जायगा?'.

आत्मा का अस्तित्व पूर्व से ही रहता है और वह अनेक जन्म धारण करती है, इस सिद्धान्त के पक्ष और विपक्ष में कई दलीलें दी गयी हैं और सभी युगों के कुछ महानतम विचारकों ने उसके समर्थन का बीड़ा उठाया है; और जहाँ तक हम समझ सकते हैं यदि कोई जीवात्मा है, तो उसका अस्तित्व पहले से होना अनिवार्य है। यदि आत्मा का स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं है, वरन् वह स्कंधों (विचारों) का संयोग है, जैसा कि बौद्ध सम्प्रदाय के माध्यमिकों का कहना है, तो भी उन्हें अपने मत को समझाने के लिए पूर्वास्तित्व को स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है।

अनन्त अस्तित्व के किसी काल में आरम्भ होने की असम्भावना सिद्ध करनेवाली दलील का कोई खण्डन नहीं हो सकता, यद्यपि इस दलील को काटने के प्रयत्न यह कहकर किये गये हैं कि ईश्वर सर्वशक्तिमान है और वह कुछ भी—चाहे वह तर्क के विपरीत ही क्यों न हो—कर सकता है। कुछ परम विचारशील लोगों को ऐसा नितांत मिथ्या तर्क देते हुए देखकर हमें बड़ा खेद होता है।

पहली बात तो यह है कि ईश्वर सभी घटनाओं का एकमात्र सामान्य कारण है, इसलिए प्रश्न यह है कि कुछ विशिष्ट घटनाओं के स्वाभाविक कारणों का पता मानवात्मा में ही लगाना होगा। अतः 'कर्ता-धर्ता सब ईश्वर ही है' (*Deus ex machina*) का सिद्धान्त यहाँ बिलकुल असंगत है। इसका अर्थ तो इसके सिवाय और कुछ नहीं होता कि हम अपना अज्ञानी होना स्वीकार करते हैं। मानव-ज्ञान के किसी भी क्षेत्र में किसी भी प्रश्न के पूछे जाने पर हम यही उत्तर दे सकते हैं

और हर प्रकार की जिज्ञासा को—और परिणामतः ज्ञान को ही—समाप्त कर सकते हैं।

दूसरी बात यह है कि हर समय ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता की दुहाई देना केवल शब्द-जाल है। कारण का, कारण के रूप में कार्य के लिए पर्याप्त होना ही हमें विदित होता है, और हो सकता है; इससे अधिक और कुछ नहीं। इस तरह हम किसी सर्वशक्तिमान कारण की अपेक्षा किसी अनन्त कार्य के विषय में और अधिक विचार नहीं कर सकते। इसके सिवा यह भी है कि ईश्वर सम्बन्धी हमारे सभी विचार सीमित हैं; उसे कारण कहना भी तो हमारे ईश्वर सम्बन्धी विचार को सीमित कर देना है।

तीसरी बात यह है कि यह स्वीकार भी कर लिया जाय, तो हम ऐसे किसी असम्भव सिद्धान्त को तब तक मानने को बाध्य नहीं हैं कि 'कुछ नहीं (या शून्य) में से कोई पदार्थ उत्पन्न हुआ' या 'किसी अनन्त पदार्थ का आदि या आरम्भ किसी विशिष्ट काल में हुआ', जब तक हम इसकी व्याख्या और अधिक अच्छे प्रकार से कर सकते हैं।

पूर्वास्तित्व के सिद्धान्त के विरोध में एक तथाकथित बहुत बड़ी दलील यह दी जाती है कि मनुष्य जाति में से अधिकांश को इसका भान नहीं है। इस दलील की सत्यता को प्रमाणित करने के लिए यह सिद्ध करना चाहिए कि मानवात्मा का सम्पूर्ण अंश स्मरण-शक्ति से बद्ध है। यदि स्मृति ही अस्तित्व की कसौटी है, तब तो हमारे जीवन का वह अंश जो अभी उसमें नहीं है, उसका तो अस्तित्व नहीं ही होना चाहिए और हर एक मनुष्य जो बेहोशी की अवस्था में या और किसी तरह अपनी स्मरण-शक्ति को खो बैठता है, वह भी अस्तित्वहीन होना चाहिए।

जिन आधारों पर यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि पूर्वास्तित्व है—और वह भी सज्ञान कर्म की भूमिका में है, जैसा कि हिन्दू दार्शनिक विद्वान् सिद्ध करते हैं, वे मुख्यतः ये हैं:—

प्रथमतः इस संसार में जो असमानता है, उसकी व्याख्या और किस प्रकार करें? न्यायी और दयानिधान ईश्वर की सृष्टि में एक बालक जन्म लेता है, उसकी हर एक परिस्थिति उसको उत्तम और मानव समाज के लिए उपयोगी बनाने के लिए अनुकूल है; और सम्भवतः उसी क्षण में और उसी शहर में एक दूसरा बालक जन्म लेता है, जिसकी प्रत्येक परिस्थिति उसके अच्छे बनने के प्रतिकूल है। हम ऐसे बच्चे देखते हैं, जो कि दुःख भोगने के लिए—और संभवतः जन्म भर दुःख भोगने के लिए ही—जन्म लेते हैं; और ऐसा उनके स्वयं के किसी अपराध के कारण नहीं होता। ऐसा क्यों होना चाहिए? इसका कारण क्या है? किसकी

अज्ञानता का यह परिणाम है? यदि उस बालक का कोई अपराध नहीं है, तो उसके माता-पिता के कर्मों के लिए उसे क्यों दुःख भोगना चाहिए?

यहाँ के दुःख के अनुपात से भविष्य में सुख मिलेगा, ऐसा प्रलोभन दिखाने या 'रहस्यात्मक' बातें सामने लाने की अपेक्षा तो 'इसका कारण हम नहीं जानते'—यह स्वीकार कर लेना अधिक अच्छा है। कोई हमें विना अपराध के जबरदस्ती दंड भुगतावे, यह तो नैतिकता के विरुद्ध है—अन्याय तो है ही—'परन्तु भविष्य काल में पूर्ति होने'—का सिद्धान्त भी लँगड़ा और निराधार है।

दुःख-दैन्य में जन्म लेनेवालों में से कितने उच्चतर जीवन के निमित्त संघर्ष करते हैं और कितने—उससे अधिक संख्या में—जिस परिस्थिति में रखे जाते हैं, उसीके शिकार हो जाते हैं? बुरी परिस्थितिं में बलात् जन्म दिये जाने के कारण जो अधिक बुरे और दुष्टतर बन जाते हैं, उन्हें भविष्य में उनके जीवन-काल की दुष्टता के लिए क्या पारितोषिक मिलना चाहिए? तब तो मनुष्य यहाँ जितना ही अधिक दुष्ट होगा, उतना ही इस जन्म के पश्चात् उसे सुखोपभोग प्राप्त होगा।

मानवात्मा की गरिमा और स्वतंत्रता को प्रतिष्ठित करने के लिए और इस संसार में विद्यमान असमानता और वीभत्सता के अस्तित्व को समझाने के लिए सारा दायित्व उसके यथार्थ कारण—हमारे निज के स्वतंत्र कृत्यों या 'कर्म'—पर रखने के सिवा और कोई दूसरा मार्ग नहीं है। इतना ही नहीं, बल्कि आत्मा का शून्य (या अस्तित्वहीन वस्तु) से उत्पन्न किये जाने का सिद्धान्त अवश्यमेव हमें 'दैववाद और प्रारब्ध-लेख' की ओर ले जायगा, और दयानिधान परम पिता ईश्वर के बदले हमारे सामने पूजा के लिए बीभत्स, क्रूर और सदा क्रुद्ध रहनेवाला ईश्वर स्थापित कर देगा। और जहाँ तक धर्म की भलाई या बुराई करने की शक्ति का सम्बन्ध है, उसमें तो यह उत्पन्न की हुई आत्मा का सिद्धान्त परिणाम में 'दैव और प्रारब्ध-लेख' के वादों की ओर ले जाकर उस भयानक धारणा के लिए उत्तर-दायी बनता है, जो ईसाइयों और मुसलमानों में प्रचलित है—कि मूर्तिपूजकों को तलवार के घाट उतार देना न्यायसंगत है, और उसीके कारण वे सभी वीभत्स काण्ड हुए हैं और अब तक हो रहे हैं।

परन्तु तर्क-मतवादी तत्त्ववेत्ताओं ने पुनर्जन्म के पक्ष में सदैव एक तर्क उपस्थित किया है, जो हमें निश्चयात्मक प्रतीत होता है; वह तर्क यह है कि 'हमारे अनुभव लुप्त या नष्ट नहीं किये जा सकते।'—हमारे कर्म यद्यपि देखने में लुप्त से हो जाते हैं, तथापि 'अदृष्ट' बने रहते हैं और अपने परिणाम में 'प्रवृत्ति' का रूप धारण करके पुनः प्रकट होते हैं। छोटे छोटे बच्चे भी कुछ प्रवृत्तियों को—उदाहरणार्थ, मृत्यु का भय—अपने साथ लेकर आते हैं।

अब यदि प्रवृत्ति वारंवार किये हुए कर्म का परिणाम है, तो जिन प्रवृत्तियों को साथ लेकर हम जन्म धारण करते हैं, उनको समझने के लिए उस कारण का भी उपयोग करना चाहिए। यह तो स्पष्ट है कि वे प्रवृत्तियाँ हमें इस जन्म में प्राप्त हुई नहीं हो सकतीं; अतः हमें उनका मूल पिछले जन्म में ढूँढ़ना चाहिए। अब यह भी स्पष्ट है कि हमारी प्रवृत्तियों में से कुछ तो मनुष्य के ही जान-बूझकर किये हुए प्रयत्नों के परिणाम हैं; और यदि यह सच है कि हम उन प्रवृत्तियों को अपने साथ लेकर जन्म लेते हैं, तब तो बिल्कुल यही सिद्ध होता है कि उनके कारण गत जन्म में जान-बूझकर किये हुए प्रयत्न ही हैं—अर्थात् इस वर्तमान जन्म के पूर्व हम उसी मानसिक भूमिका में रहे होंगे, जिसे हम मानव-भूमिका कहते हैं।

जहाँ तक वर्तमान जीवन की प्रवृत्तियों को भूतकालीन, ज्ञानपूर्वक किये हुए प्रयत्नों द्वारा समझाने की बात है, वहाँ तक भारत के पुनर्जन्मवादी और वर्तमान विकासवादी एकमत हैं; अन्तर केवल इतना ही है कि हिन्दू लोग अध्यात्मवादी होने के कारण उसे जीवात्माओं के सज्ञान प्रयत्नों के द्वारा समझाते हैं और विकासवाद के भौतिकवादवाले उसे पिता से पुत्र में आनेवाले आनुवंशिक संक्रमण द्वारा समझाते हैं। जो शून्य से उत्पत्ति होने का सिद्धान्त मानते हैं, वे तो किसी गिनती में नहीं हैं।

अब विवाद केवल पुनर्जन्मवादियों और भौतिकवादवालों में ही है—पुनर्जन्मवादी लोग यह मानते हैं कि सभी अनुभव प्रवृत्तियों के रूप में अनुभव करनेवाली जीवात्मा में सगृहीत रहते हैं और उस अविनाशी जीवात्मा के पुनर्जन्म द्वारा संक्रमित किये जाते हैं; भौतिकवादवाले मस्तिष्क को सभी कर्मों के आधार होने के और कोशिकाओं (cells) के द्वारा उनके संक्रमण का सिद्धान्त मानते हैं।

इस प्रकार हमारे लिए पुनर्जन्म का सिद्धान्त बहुत महत्त्वपूर्ण बन जाता है, क्योंकि पुनर्जन्म के और कोशिकाओं के द्वारा आनुवंशिक संक्रमण के मध्य जो विवाद है, वह यथार्थ में आध्यात्मिकता और भौतिकता का विवाद है। यदि कोशिकाओं द्वारा आनुवंशिक संक्रमण समस्या को हल करने के लिए पूर्णतः पर्याप्त है, तब तो भौतिकता ही अपरिहार्य है और आत्मा के सिद्धान्त की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि वह पर्याप्त नहीं है, तो प्रत्येक आत्मा अपने साथ इस जन्म में अपने भूतकालिक अनुभवों को लेकर आती है, यह सिद्धान्त पूर्णतः सत्य है। पुनर्जन्म या भौतिकता—इन दोनों में से किसी एक को मानने के सिवा और कोई गति नहीं है। प्रश्न यह है कि हम किसे मानें?

प्रोफ़ेसर मैक्सम्मूलर[1]

यद्यपि हमारे 'ब्रह्मवादिन्' के लिए कर्म का आदर्श सदैव ही यह रहेगा कि कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन अर्थात् 'कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है, उसके फल में कभी नहीं,' किन्तु फिर भी कोई सच्चा कर्मी बिना अपने को विज्ञात किये और बिना प्रकाश की कुछ किरणें पाये कर्मक्षेत्र से विदा नहीं होता।

हमारे कार्य का प्रारम्भ वहुत ही अच्छा हुआ है, और हमारे मित्रों ने इस विषय में जो दृढ़ उत्साह प्रदर्शित किया है, उसकी जितनी भी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। निष्कपट विश्वास एवं सदुद्देश्य निश्चय ही जय-लाभ करेंगे, और इन दोनों अस्त्रों से सुसज्जित होने पर अल्पसंख्यक लोग भी समस्त विघ्न-बाधाओं को पराजित करने में समर्थ होंगे।

अलौकिक ज्ञान का मिथ्या दावा करनेवालों से सर्वदा ही दूर रहना; बात यह नहीं है कि अलौकिक ज्ञान की प्राप्ति असम्भव है, पर, मेरे मित्रो, हमारे इस संसार में ऐसे व्यक्तियों में से नब्बे प्रतिशत के अन्दर काम, कांचन और यश-स्पृहा-रूप गुप्त कामना विद्यमान है, और शेष दस प्रतिशत में से नौ प्रतिशत व्यक्तियों की दशा तो पागलों जैसी है—वे डॉक्टरों तथा वैद्यों की चिंता के विषय हैं, दार्शनिकों के लिए नहीं।

हमारी प्रथम और प्रधान आवश्यकता है—चरित्र-गठन, जिसे हम 'प्रतिष्ठित प्रज्ञा' के नाम से अभिहित करते हैं। यह जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार व्यक्तियों के संघटित निकायों में भी इसकी आवश्यकता है। संसार हर एक नये प्रयत्न को, यहाँ तक की धर्म-प्रचार के नये उद्यम को भी सन्देह की दृष्टि से देखता है, अतः इससे तुम्हें विरक्त न हो जाना चाहिए। यह बेचारा संसार!—यह तो कितनी ही बार छला गया है! किसी नये सम्प्रदाय की ओर संसार जितना ही सन्देह की दृष्टि से देखेगा अथवा उसके प्रति वैमनस्य दिखलायेगा, वह उतना ही उस सम्प्रदाय के लिए कल्याणकारी है। यदि उस सम्प्रदाय में प्रचार के योग्य कोई सत्य हो, यदि वास्तव में किसी अभाव को हटाने के लिए

---

१. 'ब्रह्मवादिन्' पत्र के सम्पादक को भेजा हुआ लेख।

उसका जन्म हुआ हो, तो शीघ्र ही निन्दा प्रशंसा में परिवर्तित हो जाती है एवं घृणा प्रेम का स्वरूप धारण कर लेती है। आजकल लोग प्रायः धर्म को किसी प्रकार के सामाजिक अथवा राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के साधन के रूप में लेते हैं। इस विषय में सावधान रहना। धर्म का उद्देश्य धर्म ही है। जो धर्म केवल सांसारिक सुख का साधन मात्र है, वह अन्य चाहे जो कुछ भी हो, पर धर्म नहीं है। और यह कहना कि बेरोक-टोक इन्द्रिय-सुख-भोग के अतिरिक्त मनुष्य-जीवन का और कोई उद्देश्य नहीं है, नितान्त धर्म-विरुद्ध है—ईश्वर एवं मनुष्य-प्रकृति के विरुद्ध भयंकर अपराध है।

जिन लोगों में सत्य, पवित्रता और निःस्वार्थपरता विद्यमान हैं, उन्हें स्वर्ग, मर्त्य एवं पाताल की कोई भी शक्ति कोई क्षति नहीं पहुँचा सकती। इन गुणों के रहने पर, चाहे समस्त विश्व ही किसी व्यक्ति के विरुद्ध क्यों न हो जाय, वह अकेला ही उसका सामना कर सकता है।

सर्वोपरि, समझौता कर लेने से सावधान रहना। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि किसीके साथ विरोध करना होगा। किन्तु सुख में हो या दुःख में, अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ रहो, अपना संघ बढ़ाने के लोभ से दूसरों की लोकप्रिय धुनों से समझौता न करो। तुम्हारी आत्मा ही तो समस्त ब्रह्माण्ड का आश्रय-स्वरूप है, तुम्हारे लिए दूसरे के आश्रय का क्या प्रयोजन? धैर्य, प्रेम एवं दृढ़ता के साथ प्रतीक्षा करो, यदि इस समय सहायक नहीं मिले, तो उचित समय पर अवश्य मिलेंगे। शीघ्रता करने की क्या आवश्यकता है? सभी महान् कार्यों की वास्तविक क्रिया-शक्ति उसके असंवेद्य प्रारंभ में रहती है।

किसने सोचा था कि बंगाल के एक सुदूर गाँव में रहनेवाले एक निर्धन ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न बालक के जीवन और उपदेशों को इन कुछ ही वर्षों में ऐसे दूर देश के लोग जान सकेंगे, जिनके बारे में हमारे पूर्वजों ने कभी स्वप्न में भी न सोचा होगा? मैं भगवान् श्री रामकृष्ण के विषय में कह रहा हूँ। तुमने क्या यह सुना है कि प्रो० मैक्समूलर ने 'नाइन्टीन्थ सेन्चुरी' नामक अंग्रेज़ी पत्रिका में श्री रामकृष्ण के सम्बन्ध में एक लेख लिखा है, एवं यदि पर्याप्त सामग्री उन्हें मिले तो बड़े हर्ष से उनकी जीवनी तथा उपदेशों का एक और भी विस्तृत विवरणयुक्त ग्रन्थ लिखने के लिए वे प्रस्तुत हैं? प्रो० मैक्समूलर कितने असाधारण व्यक्ति हैं! मैं कुछ दिन पहले उनसे मिलने गया था। वास्तव में तो यह कहना उचित होगा कि मैं उनके प्रति अपनी श्रद्धा निवेदित करने गया था; क्योंकि जो कोई भी व्यक्ति श्री रामकृष्ण से प्रेम करता हो, वह स्त्री हो या पुरुष, वह चाहे जिस किसी भी सम्प्रदाय, मत अथवा जाति का हो, उसका दर्शन करने जाना मैं तीर्थयात्रा के समान

समझता हूँ। **मदभक्तानाञ्च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः**—'मेरे भक्तों के जो भक्त हैं, वे मेरे सर्वश्रेष्ठ भक्त हैं।' क्या यह सत्य नहीं है?

प्रोफ़ेसर महोदय ने पहले तो यह जानने में रुचि दिखलायी कि किस शक्ति के द्वारा ब्राह्म समाज के बड़े नेता स्वर्गीय केशवचन्द्र सेन के जीवन में सहसा महत्त्व-पूर्ण परिवर्तन घटित हुए और तभी से वे श्री रामकृष्ण देव के जीवन एवं उपदेशों के प्रशंसक और उत्साही विद्यार्थी हो गये हैं। मैंने कहा, "प्रोफ़ेसर, आजकल सहस्रों लोग श्री रामकृष्ण की पूजा कर रहे हैं।" प्रोफ़ेसर ने प्रत्युत्तर में कहा, "यदि लोग ऐसे व्यक्ति की पूजा नहीं करेंगे तो और किसकी करेंगे?" प्रोफ़ेसर स्वयं सहृद-यता की मूर्ति थे। उन्होंने स्टर्डी साहब को तथा मुझे अपने साथ भोजन करने के लिए कहा, और फिर उन्होंने हमें वोडलियन पुस्तकालय तथा ऑक्सफ़ोर्ड के कई कॉलेज दिखलाये। वे हम लोगों को रेलवे स्टेशन तक पहुँचाने के लिए भी आये, और जब हमने उनसे पूछा कि वे हमारे आराम और सुख के लिए इतना सब क्यों कर रहे हैं, तो उन्होंने उत्तर दिया, "श्री रामकृष्ण परमहंस के एक शिष्य के साथ हमारी प्रतिदिन भेंट तो नहीं होती!"

यह भेंट मेरे लिए एक अद्भुत अनुभव थी। एक सुन्दर उद्यान के बीच उनका वह मनोरम छोटा सा गृह, सत्तर वर्ष की आयु होते हुए भी वह स्थिर प्रसन्न मुख, बालकों का सा कोमल ललाट, रजतशुभ्र केश, ऋषि-हृदय के अन्तस्तल में कहीं स्थित गंभीर आध्यात्मिक निधि की अस्तित्वसूचक उनके मुख की प्रत्येक रेखा, उनकी शीलवती पत्नी, विरोध एवं निंदा पर विजय प्राप्त करके अंततः भारत के प्राचीन ऋषियों के विचारों के प्रति आदर भाव उत्पन्न करा सकनेवाले उनके दीर्घकालीन श्रमसाध्य उत्तेजक जीवन कार्य में हाथ बँटानेवाली उनकी सह-धर्मिणी—विटप, पुष्प, नीरवता और स्वच्छ आकाश—ये समस्त सम्मिलित हो मुझे कल्पना में भारत के उस प्राचीन गौरवशाली युग में, ब्रह्मर्षियों और राज र्षियों के, उच्चाशय वानप्रस्थियों तथा अरुन्धती और वशिष्ठादिकों के युग में खींच ले गये।

मैंने उन्हें एक भाषातत्त्वविद् अथवा पण्डित के रूप में नहीं देखा, वरन् मैंने उन्हें ब्रह्म के साथ नित्य एकरूपता अनुभव करनेवाली एक आत्मा और विश्वात्मा के साथ एकात्म होने के निमित्त प्रतिक्षण विस्तीर्ण होते हुए हृदय के रूप में ही देखा। जहाँ अन्य लोग शुष्क ब्योरों की मरुभूमि में स्वयं को खो देते हैं, वहाँ उन्होंने जीवन का स्रोत ढूंढ़ निकाला है। निस्सन्देह उनके हृदय के स्पंदनों ने उपनिषदों की लय पकड़ ली है—**तमेवैकं जानथ आत्मानं अन्या वाचो विमुञ्चथ**—'एक-मात्र आत्मा को ही जान लो और सब बातें त्याग दो।'

समग्र जगत् को हिला देनेवाले पण्डित एवं दार्शनिक होने पर भी उनके पाण्डित्य और दर्शन ने उन्हें उच्च से उच्चतर स्तर की ओर ले जाकर आत्म-दर्शन में समर्थ किया है। उनकी अपरा-विद्या वास्तव में उनके परा-विद्या-लाभ में सहायक हुई है। यही है सच्ची विद्या। विद्या ददाति विनयं—'ज्ञान से ही विनय की प्राप्ति होती है।' यदि ज्ञान हमें उस परात्पर के निकट न ले जाय, तो फिर ज्ञान की उपयोगिता ही क्या?

और फिर उनका भारत के प्रति अनुराग भी कितना है! मेरा अनुराग यदि उसका शतांश भी होता, तो मैं अपने को धन्य समझता! असाधारण और प्रखर क्रियाशील प्रतिभा से युक्त यह मनस्वी पचास या उससे भी अधिक वर्ष से भारतीय विचार-राज्य में निवास तथा विचरण कर रहे हैं; और उन्होंने इतनी श्रद्धा एवं हार्दिक प्रेम के साथ संस्कृत साहित्य के अनंत अरण्य में प्रकाश और छाया के तीक्ष्ण विनिमय का अवलोकन किया है कि अन्त में वह उनके हृदय में ही पैठ गया है एवं उनका सर्वांग ही उसमें रंग गया है।

मैक्समूलर वेदांतियों के भी वेदांती हैं। उन्होंने सचमुच वेदान्त की रागिनी की यथार्थ आत्मा को समस्वरता और विस्वरता की पूर्ण भूमिका में पहचाना है—उस वेदान्त की, जो पृथ्वी के समस्त सम्प्रदायों एवं विचारों को प्रकाशित करनेवाला एकमात्र आलोक है और समस्त धर्म जिसके भिन्न भिन्न रूप मात्र हैं। और श्री रामकृष्ण देव कौन थे?—वे थे इसी प्राचीन तत्त्व के प्रत्यक्ष उदाहरणस्वरूप, प्राचीन भारत के ज्वलन्त मूर्त स्वरूप, भविष्य-भारत के पूर्वाभास स्वरूप एवं समस्त जातियों के समक्ष आध्यात्मिक आलोकवाहक स्वरूप! यह एक मानी हुई बात है कि जौहरी ही रत्नों की परख कर सकता है। अतः यदि इस पाश्चात्य ऋषि ने भारतीय विचार-गगन में किसी नये नक्षत्र के उदित होने से—इसके पहले कि भारतवासी उसका महत्त्व समझ सकें—उसकी ओर आकृष्ट होकर उसकी विशेष पर्यालोचना की हो, तो क्या यह विस्मय की बात है?

मैंने उनसे कहा, "आप भारत में कब आ रहे हैं? भारतवासियों के पूर्वजों की चिन्ताराशि को आपने यथार्थ रूप में लोगों के सामने प्रकट किया है, अतः वहाँ का प्रत्येक हृदय आपका स्वागत करेगा।" वृद्ध ऋषि का मुख चमक उठा, उनके नेत्रों में आँसू जैसे भर आये और नम्रता से सिर हिलाकर उन्होंने धीरे धीरे कहा, "तब तो मैं वापस नहीं आऊँगा; तुम लोगों को मेरा दाह-संस्कार वहीं कर देना होगा।" आगे और अधिक प्रश्न करना मुझे मानव हृदय के पवित्र

रहस्यपूर्ण राज्य में अनधिकार प्रवेश करने की चेष्टा की भाँति प्रतीत हुआ। कौन जाने, कवि ने जो कहा था वह यही हो—

तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम्।
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥

—'वे निश्चय ही, अज्ञात रूप से हृदय में दृढ़-निबद्ध, पूर्व जन्म की मित्रता की बातें सोच रहे हैं।'

उनका जीवन संसार के लिए एक वरदान रहा है और मेरी प्रार्थना है कि उनके द्वारा अपनी सत्ता की प्रस्तुत भूमिका को परिवर्तित करने के पूर्व यह वरदान अनेक अनेक वर्षों तक चलता रहे।

डॉक्टर पॉल डॉयसन[1]

दस वर्ष से भी अधिक पहले की बात है, किसी एक साधारण आजीविका वाले जर्मन पादरी के परिवार में उनकी आठ सन्तानों में सबसे होनहार एक अल्प वयस्क बालक ने अपने विद्यार्थी-जीवन में एक दिन प्राध्यापक लासेन को एक नयी भाषा—संस्कृत—और उसके साहित्य के विषय में भाषण देते हुए सुना। उस समय संस्कृत भाषा और साहित्य यूरोपीय विद्वानों के लिए बिल्कुल ही नया था। इन भाषणों को सुनने में दाम तो लगते नहीं थे, क्योंकि यदि विश्वविद्यालय इस कार्य के लिए विशेष सहायता प्रदान न करता हो, तो अभी भी किसी व्यक्ति के लिए यूरोप के किसी विश्वविद्यालय में संस्कृत पढ़ाकर रुपया कमाना असम्भव है।

प्राध्यापक लासेन संस्कृत विद्वत्ता के अग्रणी वीरहृदय जर्मन पण्डितों के लगभग अन्तिम प्रतिनिधि थे। ये पण्डित लोग वास्तव में वीर पुरुष थे, क्योंकि विद्या के प्रति पवित्र और निःस्वार्थ प्रेम के अतिरिक्त उस समय जर्मन विद्वानों के भारतीय साहित्य की ओर आकृष्ट होने का और कौन सा कारण हो सकता था? वयोवृद्ध प्राध्यापक लासेन एक दिन कालिदासविरचित 'शाकुन्तल' के एक अध्याय की व्याख्या कर रहे थे; और उस दिन हमारा यह तरुण विद्यार्थी जिस ध्यान और उत्सुकता के साथ उनके द्वारा बतलायी गयी व्याख्या को सुन रहा था, उतना तन्मय श्रोता शायद वहाँ और कोई न था। व्याख्या का विषय अवश्य ही अत्यन्त हृदयग्राही एवं अद्भुत था, पर सबसे अधिक आश्चर्यजनक बात तो यह थी कि एक यूरोपीय व्यक्ति के अनभ्यस्त मुख से उच्चारित होने के कारण उस अपरिचित शब्दराशि के क्लिष्ट रूप धारण कर लेने पर भी उस बालक को उन शब्दों ने मन्त्रमुग्ध सा कर दिया था। वह अपने घर वापस गया, किन्तु उसने जो कुछ सुना था, उसे वह रात में नींद में भी भूल न सका। उसने मानो इतने दिनों के अज्ञात, अपरिचित देश का सहसा दर्शन पा लिया, और उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो वह देश उसके देखे हुए अन्य सब देशों की अपेक्षा अधिक उज्ज्वल अनेक रंगों से चित्रित है, तथा उसने उसमें जैसी

---

१. 'ब्रह्मवादिन्' पत्र के सम्पादक को भेजा हुआ लेख (१८९६)।

मोहनी-शक्ति पायी, वैसा उसके युवक-हृदय ने और कभी भी अनुभव नहीं किया था।

इस होनहार युवक के मित्र उत्कण्ठापूर्वक उस दिन की प्रतीक्षा कर रहे थे, जब इस युवक की स्वाभाविक प्रबल शक्तियाँ प्रस्फुटित हो उठेंगी तथा जिस दिन यह युवक किसी बौद्धिक व्यवसाय में प्रविष्ट होकर आदर और यश तथा सर्वोपरि प्रचुर वेतन और उच्च पद प्राप्त करेगा। किन्तु कहाँ से बीच में संस्कृत भाषा का यह झंझट आ खड़ा हुआ! अधिकांश यूरोपीय विद्वानों ने तो उस समय संस्कृत भाषा का नाम ही नहीं सुना था—और जहाँ तक इससे अर्थ-प्राप्ति की बात थी, मैंने पहले ही कहा है कि संस्कृत भाषा का विद्वान् होकर द्रव्योपार्जन पश्चिमी देशों में अभी एक असम्भव सा कार्य है। फिर भी हमारे इस युवक की संस्कृत सीखने की इच्छा बड़ी प्रबल हो उठी।

यह बड़े दुःख की बात है, हमें आधुनिक भारतीयों के लिए यह समझना अत्यन्त कठिन हो गया है कि ऐसा कैसे संभव हो सका। फिर भी, नवद्वीप, वाराणसी, एवं भारत के अन्यान्य स्थानों के पण्डितों में, विशेषकर संन्यासियों में हम आज भी ऐसे वृद्ध और युवक देख सकते हैं, जो विद्या के लिए ही विद्याभ्यास में रत हैं—ज्ञान के लिए ही ज्ञान-लाभ की तृष्णा में उन्मत्त हैं। ऐसे विद्यार्थी, जो आधुनिक यूरोपीय भावापन्न हिन्दुओं की विलास-सामग्रियों का अभाव होने पर भी तथा उनकी अपेक्षा अध्ययन के लिए सहस्र गुना कम सुविधाएँ उपलब्ध रहने पर भी रात पर रात तेल के दिए के अस्थिर धीमे प्रकाश में हस्तलिखित ग्रन्थों का इतनी एकाग्रता से अध्ययन करते रहते हैं, जिससे अन्य किसी भी देश के छात्रों की आँखों की दृष्टि-शक्ति सम्पूर्ण नष्ट हो सकती है; ऐसे विद्यार्थी, जो किसी दुर्लभ हस्तलिखित ग्रन्थ या किसी विख्यात अध्यापक की खोज में कोसों भिक्षा पर ही निर्वाह करते हुए पैदल चले जाते हैं एवं जो मन और शरीर की समुदय शक्ति अपने पाठ्य विषय में तब तक नियोजित करते रहते हैं, जब तक उनके बाल सफ़ेद नहीं हो जाते तथा उनका शरीर अधिक आयु होने के कारण क्षीण नहीं हो जाता—ऐसे विद्यार्थी ईश्वर की कृपा से अभी तक हमारे देश से बिल्कुल ही लुप्त नहीं हो गये हैं। आज भारत जिसको अपनी मूल्यवान सम्पत्ति कहकर गौरव अनुभव करता है, वह निश्चय ही अतीत काल की उसकी योग्य सन्तानों के इस प्रकार के परिश्रम का फलस्वरूप है; और इस कथन की सत्यता तुरन्त ही प्रकट हो जायगी, यदि हम प्राचीन युग के भारतीय पण्डितों के पाण्डित्य की गम्भीरता एवं उपयोगिता तथा उनके निःस्वार्थ भाव एवं उद्देश्य की एकाग्रता की तुलना आधुनिक भारतीय विश्वविद्यालयों की शिक्षा के परिणामों के साथ

करें। यदि भारतवासी अपने अतीत-युग के इतिहास की भाँति फिर से अन्यान्य जातियों के बीच अपने समुचित गौरव-पद पर आसीन होना चाहते हैं, तो उन्हें अपने जीवन में शुद्ध निष्कपट चिन्तनशक्ति तथा यथार्थ पाण्डित्य-लाभ के लिए स्वार्थहीन निष्कपट उत्साह को पुनः प्रबल रूप से जगाना पड़ेगा। इस प्रकार की ज्ञानस्पृहा ने ही जर्मनी को श्रेष्ठतम न सही, संसार के श्रेष्ठ राष्ट्रों की श्रेणी में स्थान दिया है।

मैं कह रहा था कि इस जर्मन छात्र के हृदय में संस्कृत शिक्षा के प्रति अनुराग बड़ा प्रबल हो उठा था। संस्कृत सीखना तो दीर्घ काल में सम्पन्न होनेवाला कार्य है, पहाड़ पर चढ़ने जैसा कठिन। इस जर्मन छात्र के जीवन का इतिहास भी जगत्प्रसिद्ध अन्य सफल विद्वानों की भाँति है; उन सब लोगों के समान यह युवक भी कठोर परिश्रम कर, अनेक कष्ट सहकर, अदम्य उत्साह के साथ अपने व्रत में दृढ़तापूर्वक लगा रहा और इसके फलस्वरूप वह यथार्थ वीरजनोचित सफलता के गौरवमुकुट से विभूषित हुआ। और अब, केवल यूरोप ही नहीं, वरन् समस्त भारत इस कील विश्वविद्यालय के दर्शन शास्त्र के आचार्य पॉल डॉयसन को जानता है। मैंने अमेरिका और यूरोप में संस्कृत के कई प्राध्यापकों को देखा है। उनमें से अनेक वेदान्त की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हैं। मैं उनके पाण्डित्य एवं निःस्वार्थ कार्य में जीवनोत्सर्ग को देखकर मुग्ध हो गया हूँ। परंतु पॉल डॉयसन (जो संस्कृत में स्वयं को देवसेन कहकर सम्बोधित होना पसन्द करते हैं) और वयोवृद्ध मैक्समूलर को मैं भारत तथा भारतीय विचारधारा का सर्वश्रेष्ठ मित्र समझता हूँ। कील शहर में इस उत्साही वेदान्ती, उनके भारत-भ्रमण की संगिनी उनकी मधुर प्रकृतिवाली सहधर्मिणी, तथा उनकी प्रिय छोटी कन्या से मेरी प्रथम भेंट; जर्मनी और हॉलैण्ड होकर एक साथ लन्दन की यात्रा, तथा लन्दन एवं उसके आसपास के स्थानों में हम लोगों के आनन्ददायक सम्मिलन---ये सब घटनाएँ मेरे जीवन की अन्य मधुर स्मृतियों के साथ चिरकाल तक बनी रहेंगी।

यूरोप के सर्वप्रथम संस्कृतज्ञ संस्कृत के अध्ययन में समीक्षात्मक योग्यता की अपेक्षा कल्पना के सहारे अधिक प्रवृत्त हुए थे। उनका ज्ञान तो अल्प था, किन्तु उस अल्प ज्ञान से वे आशा बहुत करते थे; और बहुधा वे जो कुछ थोड़ा-बहुत जानते, उससे कहीं अधिक प्रदर्शित करते थे। फिर, उन दिनों 'शाकुन्तल' के मूल्यांकन को ही भारतीय दर्शन-शास्त्र की पराकाष्ठा मानने का पागलपन भी उनमें समाया हुआ था। अतः स्वाभाविकतया प्रथम दल की प्रतिक्रिया के रूप में एक ऐसे प्रतिक्रियावादी छिछले समालोचक-सम्प्रदाय का अभ्युदय हुआ

जिसे न तो संस्कृत का ज्ञान ही था और न संस्कृत के अध्ययन से जिसे कुछ लाभ की आशा ही दीख पड़ती थी, और जो प्राच्यदेशीय सभी वस्तुओं का उपहास किया करता था। यद्यपि ये लोग प्रथम दल की अगम्भीर कल्पनाशीलता की, जिसके समक्ष भारतीय साहित्य की प्रत्येक वस्तु नन्दन कानन की भाँति प्रतीत होती थी, तीव्र आलोचना करते थे, परन्तु इनके स्वयं के सिद्धान्त प्रथम दलवालों के सिद्धान्तों की तरह ही समान रूप से परम दोषयुक्त एवं अत्यन्त दुःसाहस-पूर्ण थे। और इन लोगों के इस विषय में दुःसाहस के बढ़ जाने का नितान्त स्वाभाविक कारण यह था कि भारतीय विचार-धारा की ओर सहानुभूतिरहित और बिना समझे-बूझे हठात् सिद्धान्त बना डालनेवाले ये पण्डित और समालोचकगण इसकी चर्चा ऐसे श्रोताओं के सामने करते थे, जिनकी इस विषय में किसी प्रकार की राय प्रकट करने की यदि कोई योग्यता थी, तो वह थी उनकी संस्कृत भाषा के सम्बन्ध में पूर्ण अनभिज्ञता! इस प्रकार की समालोचनात्मक विद्वत्ता से यदि अनेक प्रकार के विरुद्ध सिद्धान्त निकलें, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है! सहसा बेचारे हिन्दू ने एक दिन सुबह जगकर देखा, उसका जो कुछ भी अपना था, वह आज नहीं है—एक अपरिचित जाति ने उसके पास से उसकी शिल्प-विद्या छीन ली है, एक दूसरी ने उसकी स्थापत्य-विद्या एवं एक तीसरी ने उसके समस्त प्राचीन विज्ञान को छीन लिया है; यहाँ तक कि उसका धर्म भी अब उसका अपना नहीं है! पहलवियों की स्वस्तिका के साथ उसका भी आयात भारत में हुआ था! इस प्रकार की उत्तेजनापूर्ण मौलिक गवेषणा की आपाधापी के युग के बाद अब अपेक्षाकृत अच्छा समय आया है। लोगों ने अब समझा है कि सच्ची और परिपक्व विद्वत्ता की पूंजी के बिना मात्र दुस्साहसिक अभियान, प्राच्यतत्त्व-गवेषणा के क्षेत्र में भी, केवल हास्यास्पद विफलता का जनक है, और भारतीय परंपराओं को छिछले तिरस्कार के साथ हटा देना कोई बुद्धिमानी का कार्य नहीं है, क्योंकि उनमें ऐसा बहुत कुछ हो सकता है, जिसे लोग स्वप्न में भी नहीं सोच सकते।

यह बड़े हर्ष की बात है कि यूरोप में आजकल एक नये प्रकार के संस्कृतज्ञ पण्डितों का अभ्युदय हो रहा है—ये श्रद्धालु सहानुभूतिपूर्ण तथा यथार्थ पण्डित हैं। ये श्रद्धालु हैं, क्योंकि ये अधिक श्रेष्ठ व्यक्ति हैं, एवं सहानुभूतिसम्पन्न हैं, क्योंकि ये विद्वान् है। और हमारे मैक्समूलर ही प्राचीन दल की श्रृंखला के साथ नये दल की श्रृंखला को जोड़नेवाली कड़ी के समान है। हम हिन्दू लोग पश्चिम-देशीय अन्य संस्कृतज्ञ पण्डितों की अपेक्षा निश्चय ही उनके प्रति अधिक ऋणी हैं, और जब मैं उनके उस महान् कार्य के बारे में सोचता हूँ, जिसे उन्होंने अदम्य उत्साह के साथ अपनी यौवनावस्था में हाथों में लेकर वृद्धावस्था में उसकी

सफलतापूर्वक परिसमाप्ति की, तब तो मैं दंग रह जाता हूँ। इनके बारे में एक बार जरा सोचो तो सही, किस प्रकार वे हिन्दुओं की आँखों से भी अति कठिनता से पढ़े जा सकनेवाले अस्पष्ट पुराने हस्तलिखित ग्रन्थों की दिन-रात छान-बीन कर रहे हैं!—और फिर ये लिपियाँ ऐसी भाषा में लिखी हुई हैं, जिन्हें भली प्रकार समझने में एक हिन्दू पण्डित का भी समस्त जीवन लग जायगा; उन्हें फिर ऐसे किसी अभावग्रस्त पण्डित की सहायता भी नहीं मिली है, जिसकी बुद्धि कुछ टकों पर खरीदी जा सके तथा 'अत्यन्त नयी गवेषणापूर्ण' किसी पुस्तक की भूमिका में जिसके नामोल्लेख द्वारा उस पुस्तक की ख्याति बढ़ायी जा सके। इस व्यक्ति के विषय में और भी ज़रा सोचकर तो देखो, किस तरह वे सायण-भाष्य के अन्तर्गत किसी शब्द या वाक्य का यथार्थ रीति से पाठ करने एवं ठीक ठीक अर्थ ढूंढ़ निकालने के लिए कभी दिन पर दिन और कभी महीनों व्यतीत कर (जैसा उन्होंने स्वयं मुझसे कहा है) अन्त में इस दीर्घकाल के अध्यवसाय के फलस्वरूप वैदिक साहित्यरूपी अरण्य में से होकर अन्य लोगों के जाने के लिए सुगम मार्ग बनाने में सफल हुए हैं; पहले इस व्यक्ति और इनके कार्य के सम्बन्ध में सोचकर देखो और फिर कहो कि वास्तव में इन्होंने हम लोगों के लिए कितना किया है! यह हो सकता है कि इन्होंने अपनी अनेक रचनाओं में जो कुछ कहा है, हम उस सबसे सहमत न हों,—और निश्चय ही इस प्रकार पूर्णतया सहमत होना असम्भव है। किन्तु हम सहमत हों या न हों, पर इस सत्य की कभी उपेक्षा नहीं की जा सकती कि हमारे पूर्व पुरुषों के साहित्य की रक्षा, उसका विस्तार एवं उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए हम सबमें जो कोई जितना करने की आशा कर सकता है, इस अकेले व्यक्ति ने उससे सहस्र गुना अधिक किया है और यह कार्य इन्होंने अत्यन्त श्रद्धा एवं प्रेमपूर्ण हृदय के साथ सम्पन्न किया है।

यदि मैक्समूलर को इस नये आन्दोलन का प्राचीन अग्रदूत कहा जाय, तो डॉयसन निश्चय ही उसके एक नवीन नेता हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं। हमारे प्राचीन शास्त्ररूपी खान में जो सब विचार एवं आध्यात्मिकता के अमूल्य रत्न निहित हैं, भाषा-तत्त्व की आलोचना की उत्सुकता ने बहुत दिनों तक उनको हमारी दृष्टि से ओझल रखा था। मैक्समूलर उनमें से कई विचारों को जनसाधारण की दृष्टि में लाये, एवं सर्वश्रेष्ठ भाषा-तत्त्व-विशारद होने के कारण उनके कथन की प्रामाणिकता इतनी अधिक थी कि जनसाधारण का ध्यान बरबस ही उन विचारों की ओर आकृष्ट हो गया। भाषा-तत्त्व की आलोचना की ओर डॉयसन की कोई रुचि न थी, वरन् वे दर्शन शास्त्र में पारंगत थे। वे प्राचीन ग्रीस तथा वर्तमान जर्मन तत्त्वालोचना-प्रणाली एवं उनके सिद्धान्तों से अच्छी तरह परिचित

थे। उन्होंने मैक्समूलर का अनुसरण करके अत्यन्त साहस के साथ उपनिषद् के गंभीर दार्शनिक तत्त्व-सागर में गोता लगाया, तब उन्होंने देखा कि उसमें किसी प्रकार की त्रुटि नहीं है, वरन् वह हमारी बुद्धिवृत्ति एवं हृदय की माँग पूर्णतया पूरी करता है,—और फिर उन्होंने उसी तरह साहस के साथ उस विषय को समस्त जगत् के सामने घोषित किया। पाश्चात्य पण्डितों में केवल डॉयसन ने ही वेदान्त के सम्बन्ध में अपनी राय बहुत स्वाधीनतापूर्वक प्रकट की है। अधिकांश पण्डित जिस प्रकार दूसरों की समालोचना के डर से भयभीत रहा करते हैं, उस प्रकार डॉयसन ने भी कभी किसी के मतामत की परवाह नहीं की। वास्तव में इस संसार में ऐसे साहसी लोगों की आवश्यकता है, जो निर्भीकता के साथ प्रकृत तत्व के सम्बन्ध में अपना मत प्रकट कर सकें; और विशेषतः इसकी आवश्यकता यूरोप में अधिक है, जहाँ के पण्डितगण—समाज-भय से हो अथवा इस प्रकार के अन्य किन्हीं कारणों से—ऐसे सभी विभिन्न धर्ममतों एवं आचार-व्यवहारों का किसी तरह उनकी त्रुटियों को छिपाकर समर्थन करने की चेष्टा कर रहे हैं, जिन सबमें शायद उन लोगों में से बहुतों का ही विश्वास नहीं है। अतएव मैक्समूलर तथा डॉयसन का इस प्रकार साहसपूर्ण एवं स्पष्ट रूप से सत्य का समर्थन वास्तव में विशेष रूप से प्रशंसनीय है। मेरी तो यही इच्छा है कि उन्होंने हमारे शास्त्रों के गुणों के प्रदर्शन में जिस साहस का परिचय प्रदान किया है, उसी प्रकार साहस के साथ वे उनके उन सब दोषों को भी प्रदर्शित करें, जो परवर्ती काल में भारतीय चिन्ता-प्रणाली में आकर भर गये हैं, विशेषतः उन त्रुटियों को, जो हमारी सामाजिक समस्याओं को हल करने के लिए उस चिन्ता-प्रणाली के प्रयोग के सम्बन्ध में आ गयी हैं। आज हमें इनके ही समान यथार्थ मित्रों की सहायता की अत्यधिक आवश्यकता है, जो भारत में क्रम-वर्धमान इन द्विविध गतिशील रोगों की गति का रोध कर सकें, जहाँ एक ओर तो प्राचीन प्रथा में पले हुए, दासत्व शृंखला में जकड़े हुए लोग ग्राम्य कुसंस्कारों को ही शास्त्रों का सार-सत्य समझकर उनसे चिपके रहना चाहते हैं और जहाँ दूसरी ओर हैं शास्त्रों की कटु निन्दा करनेवाले—जो हमारे और हमारे इतिहास में कुछ भी अच्छाई नहीं देख सकते, और जो यदि हो सके तो धर्म एवं दर्शन की लीलाभूमि हमारी इस प्राचीन जन्मभूमि के समस्त आध्यात्मिक एवं सामाजिक प्रतिष्ठानों को इसी क्षण तोड़-फोड़कर धूल में मिला देने को तत्पर हैं।

पवहारी बाबा

भगवान् बुद्ध ने धर्म के प्रायः सभी अन्यान्य पक्षों को कुछ समय के लिए दूर रखकर केवल दुःखों से पीड़ित संसार की सहायता करने के महान् कार्य को प्रधानता दी थी। परन्तु फिर भी स्वार्थपूर्ण व्यक्ति-भाव से चिपके रहने के खोखलेपन के महान् सत्य का अनुभव करने के निमित्त आत्मानुसन्धान में उन्हें भी अनेक वर्ष बिताने पड़े थे। भगवान् बुद्ध से अधिक निःस्वार्थ तथा अथक कर्मी हमारी उच्च से उच्च कल्पना के भी परे है। परन्तु फिर भी उनकी अपेक्षा और किसे समस्त विषयों का रहस्य जानने के लिए इतने विकट संघर्ष करने पड़े ?. यह चिरन्तन तथ्य है कि जो कार्य जितना महान् होता है, उसके पीछे सत्य के साक्षात्कार की उतनी ही अधिक शक्ति विद्यमान रहती है। किसी पूर्व निर्धारित महान् योजना को ब्योरेवार कार्यरूप में परिणत करने को आधार देने के लिए भले ही अधिक एकाग्र चिन्तन की आवश्यकता न पड़े, परन्तु प्रबल अंतःप्रेरणाएँ केवल प्रबल एकाग्रता का ही परिवर्तित रूप हैं। सामान्य चेष्टाओं के लिए सम्भव है यह सिद्धान्त पर्याप्त हो, परन्तु जिस हिलोर से एक छोटी सी लहर की उत्पत्ति होती है, वह हिलोर उस आवेग से अवश्य ही नितान्त भिन्न है, जो एक प्रचंड तरंग को उत्पन्न कर देता है। परन्तु फिर भी यह छोटी सी लहर उस प्रचंड तरंग को उत्पन्न करनेवाली शक्ति के एक अल्पांश का मूर्त रूप ही है।

इसके पूर्व कि हमारा मन क्रियाशीलता के निम्न स्तर पर प्रबल कर्म-तरंग उत्पन्न कर सके, आवश्यकता इस बात की है कि हम सच्चे तथा ठीक ठीक तथ्यों के निकट पहुँच जायँ, फिर वे भले ही विकट तथा भयप्रद क्यों न हों ; हम सत्य—शुद्ध सत्य को प्राप्त करें, चाहे उसके आन्दोलन में हमारे हृदय का प्रत्येक तार छिन्न-भिन्न ही क्यों न हो जाय; हम निःस्वार्थ तथा निष्कपट प्रेरणा को प्राप्त करें—चाहे उसकी प्राप्ति में हमारा अंग-प्रत्यंग ही क्यों न कट जायँ। सूक्ष्म वस्तु काल-स्रोत में प्रवाहित होते होते अपने चारों ओर स्थूल वस्तुओं को समेटती रहती है और अव्यक्त व्यक्त हो जाता है; अदृश्य दृश्य का स्वरूप धारण कर लेता है; जो बात सम्भव सी प्रतीत होती थी, वह

वास्तविक रूप धारण कर लेती है; कारण कार्य में तथा विचार शारीरिक कार्यों में परिणत हो जाते हैं।

कारण सहस्रों प्रतिकूल परिस्थितियों वश भले ही अवरुद्ध रहे, परन्तु कभी न कभी वह कार्यरूप में अवश्य ही परिणत होगा तथा इसी प्रकार एक सक्षम विचार भी, आज चाहे जितना क्षीण क्यों न हो, एक न एक दिन स्थूल क्रिया के रूप में अवश्य ही गौरवान्वित होगा। साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इन्द्रिय-सुख प्रदान करने की क्षमता की दृष्टि से किसी वस्तु का मूल्य आँकना भी उचित नहीं।

जो प्राणी जितना अधिक निम्न स्तर में रहता है, उतना ही अधिक वह इन्द्रियों में सुख अनुभव करता है तथा उतने ही अधिक परिमाण में वह इन्द्रियों के राज्य में निवास करता है। सभ्यता—यथार्थ सभ्यता का अर्थ वह शक्ति होना चाहिए, जो पशुभावापन्न मानव को इन्द्रिय-भोगों के जीवन के परे ले जा सके, उसे बाह्य सुख देकर नहीं, वरन् उच्चतर जीवन के दृश्य दिखलाकर, उसका अनुभव कराकर।

मनुष्य को इस बात का ज्ञान जन्मजात-प्रवृत्ति द्वारा प्राप्त रहता है, चाहे सभी अवस्थाओं में उसे इस बात का बोध स्पष्ट रूप से भले ही न रहता हो। विचारशील जीवन के सम्बन्ध में उसकी बहुत ही भिन्न धारणाएँ हो सकती हैं, पर फिर भी यह उसके हृदय में स्थित रहता है, वह तो हर हालत में प्रकट होने की ही चेष्टा करता रहता है—इसीलिए तो मनुष्य किसी बाजीगर, ओझा, जादूगर, पुरोहित अथवा वैज्ञानिक के प्रति सम्मान दर्शाये बिना नहीं रह सकता। जिस परिमाण में मनुष्य इन्द्रियपरायणता को छोड़कर उच्च भाव-जगत् में अवस्थान करने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है, जिस परिमाण में वह विशुद्ध चिन्तन रूपी प्राणवायु फेफड़ों के भीतर खींचने में समर्थ हो जाता है तथा जितने अधिक समय तक वह उस उच्च अवस्था में रह सकता है, केवल इसी आधार पर उसका विकास आँका जा सकता है।

जैसी स्थिति है, उसमें यह स्पष्ट रूप से दिखायी देता है कि संस्कृत व्यक्ति अपने जीवन-निर्वाह के लिए नितान्त आवश्यक चीज़ों के अतिरिक्त, तथाकथित ऐश-आराम में अपना समय गँवाना बिल्कुल पसन्द नहीं करता और जैसे जैसे वह उन्नत होता जाता है, वैसे वैसे आवश्यक कर्म करने में भी उसका उत्साह कम होता दिखायी देता है।

इतना ही नहीं, मनुष्य की विलासविषयक धारणाएँ भी विचारों तथा आदर्शों के अनुसार विन्यस्त होती जाती हैं। और उसका प्रयत्न यही रहता

है कि उनमें वही विचार-जगत् यथाशक्ति प्रतिविम्बित हों—और यही है कला।

'—जिस प्रकार एक ही अग्नि विश्व में प्रवेश कर प्रत्येक रूप में अपने को प्रकट करती है, और फिर भी जितनी वह व्यक्त हुई है, उससे वह कहीं अधिक होती है'[1]—हाँ, वह अनंत गुनी अधिक है! अनंत चैतन्य का केवल एक कण हमें सुख देने के लिए इस जड़ जगत् में अवतीर्ण हो सकता है। पर उसके शेष भाग को यहाँ लाकर उसके साथ स्थूल के समान हम मनमाना व्यवहार नहीं कर सकते। वह परम सूक्ष्म वस्तु हमारे दृष्टि-क्षेत्र से सर्वदा ही बाहर निकल जाती है तथा उसे हमारे स्तर पर खींच लाने की हमारी जो चेष्टा होती है, उसे देखकर वह हँसती है। इस विषय में हम यही कहेंगे कि 'मुहम्मद को ही पर्वत के निकट जाना होगा'—उसमें 'नहीं' कहने की गुंजाइश नहीं। मनुष्य के लिए अपने को उसी उच्च स्तर तक उठाना पड़ेगा, यदि वह चाहता है कि वह उस अतीन्द्रिय प्रदेश के सौन्दर्य का पान करे, उसके आलोक में अवगाहन करे तथा उसका जीवन विश्व-जीवन के मूल कारण के साथ एकात्म होकर स्पदिन्त हो।

ज्ञान ही आश्चर्य जगत् का द्वार खोलता है, ज्ञान ही पशु को देवता बनाता है और जो ज्ञान हमें उस ईश्वर के निकट पहुँचा देता है, 'जिसे जान लेने से सब कुछ ज्ञात हो जाता है'[2]—जो समस्त अन्यान्य ज्ञान (अपरा विद्या) का हृदयस्वरूप है, जिसके स्पन्दन से समस्त भौतिक विज्ञानों में प्राणों का संचार हो जाता है, वह धर्म-विज्ञान ही निःसंदेह सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि केवल वही मनुष्य को सम्पूर्ण तथा श्रेष्ठ विचारमय जीवन व्यतीत करने में समर्थ बना सकता है। धन्य है वह देश, जिसने उसे 'परा विद्या' नाम से संबोधित किया है।

यद्यपि व्यवहार में शायद ही तात्त्विक सिद्धान्त की पूर्ण अभिव्यक्ति दिखायी देती हो, परन्तु फिर भी आदर्श कभी ओझल नहीं होता। एक ओर हमारा यह कर्तव्य है कि हम अपने आदर्श को कभी ओझल न होने दें, चाहे हम उसकी ओर संवेद्य गति से अग्रसर हों अथवा असंवेद्य धीमी गति से रेंगते हुए जायँ; दूसरी ओर वस्तु-स्थिति यह है कि चाहे हम अपने हाथों को अपनी आँखों के सामने करके उसका प्रकाश ढँकने का जितना यत्न करें, सत्य सर्वदा हमारे सम्मुख अस्पष्ट रूप से विद्यमान रहता ही है।

व्यावहारिक जीवन आदर्श में ही है। हम चाहे दार्शनिक सिद्धान्त

---

१. कठोपनिषद् ॥२।२।९॥

२. कस्मिन्नुभगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति ॥ मुण्डकोपनिष ॥१।१।३॥

प्रतिपादित करें अथवा दैनिक जीवन के कठोर कर्तव्यों का पालन करें, हमारे सम्पूर्ण जीवन में आदर्श ही ओतप्रोत रूप से विद्यमान रहता है। इसी आदर्श की किरणें सीधी अथवा वक्र गति से प्रतिबिम्बित तथा पद्मावर्तित हो मानो हमारे जीवन-गृह में प्रत्येक रंध्र तथा वातायन से होकर प्रवेश करती रहती हैं और हमें जान अथवा अनजान में अपना प्रत्येक कार्य उसीके प्रकाश में करना पड़ता है, प्रत्येक वस्तु को उसीके द्वारा परिवर्तित, परिवर्द्धित अथवा विरूपित देखना पड़ता है। हम अभी जैसे हैं, वैसा आदर्श ने ही बनाया है अथवा भविष्य में जैसे होनेवाले हैं, वैसा आदर्श ही बना देगा। आदर्श की शक्ति ही ने हमें आवृत कर रखा है तथा अपने सुखों में अथवा दुःखों में, अपने महान् कार्यों में अथवा अपने नीच कार्यों में, अपने गुणों में अथवा अपने अवगुणों में हम उसी शक्ति का अनुभव करते हैं।

यदि व्यावहारिक जीवन पर आदर्श का इतना असर होता है, तो उसी प्रकार व्यावहारिक जीवन का भी हमारे आदर्श को गढ़ने में कुछ कम हाथ नहीं है। असल में आदर्श का सत्य तो व्यावहारिक जीवन में ही है। आदर्श का फल व्यावहारिक जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा ही प्राप्त होता है। आदर्श का अस्तित्व ही इस बात का प्रमाण है कि कहीं न कहीं अथवा किसी न किसी रूप में वह व्यावहारिक जीवन है। आदर्श कितना ही विशाल क्यों न हो, परन्तु वास्तव में वह व्यावहारिक जीवन के छोटे छोटे अंशों का विस्तृत रूप ही है। आदर्श अधिकांशतः संयोजित, सामान्यीकृत व्यावहारिक इकाइयाँ है।

व्यावहारिक जीवन में ही आदर्श की शक्ति है; व्यावहारिक जीवन में और उसके द्वारा ही वह हम पर क्रियाशील होता है। व्यावहारिक जीवन द्वारा ही हमें उसकी इन्द्रियानुभूति होती है तथा उसीके द्वारा वह आत्मसात किये जाने योग्य रूप धारण करता है। व्यावहारिक जीवन को ही सीढ़ी बनाकर हम आदर्श की ओर उठते हैं। उसी पर हम अपनी आशाएँ बाँधते हैं, वही हमें कार्य करने के लिए साहस देता है।

ऐसे करोड़ों लोगों की अपेक्षा, जो शब्दों द्वारा आदर्श को अत्यन्त सुन्दर रंगों में चित्रित कर सकते हैं, और सूक्ष्मातिसूक्ष्म सिद्धान्तों का निरूपण कर सकते हैं, वह व्यक्ति कहीं अधिक शक्तिमान है, जिसने अपने जीवन में आदर्श को अभि-व्यक्त कर लिया है।

दर्शन शास्त्र मानव-समाज के लिए उस समय तक निरर्थक से ही हैं अथवा अधिक से अधिक बौद्धिक व्यायाम मात्र हैं, जब तक कि वे धर्म के साथ संयुक्त नहीं होते, तथा एक ऐसा व्यक्ति समुदाय उन्हें प्राप्त नहीं हो जाता, जो उन्हें

न्यूनाधिक सफलता के साथ व्यावहारिक जीवन में परिणत कर दे। जिन मत-वादों से एक भी भावात्मक आशा नहीं थी, पर उन्हें भी जब व्यक्ति समुदायों ने अपनाकर कुछ व्यावहारिक बना दिया, तो उनके भी विशाल संख्या में अनुयायी हमेशा के लिए हो गये। परन्तु उसके अभाव में अनेक भावात्मक विचार-सिद्धान्त नष्ट हो गये।

हममें से अधिकांश लोग अपने कार्यों को अपने विचार-जीवन के समकक्ष नहीं रख पाते। केवल थोड़े ही धन्यभाग ऐसा कर सकते हैं। हममें से अधि-कांश व्यक्ति जब गम्भीर मनन करने लग जाते हैं, तो वे अपनी कार्यक्षमता खो बैठते हैं और जब अधिक कार्य में व्यस्त हो जाते हैं, तो गम्भीर मनन-शक्ति भी गँवा बैठते हैं। यही कारण है कि अधिकांश महान् विचारकों को अपने उच्च आदर्शों की व्यावहारिक परिणति का प्रश्न काल पर छोड़ देना पड़ता है। उनके विचारों को कार्यरूप में परिणत होने तथा प्रचारित होने के लिए और अधिक सक्रिय मस्तिष्कवालों की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। इन पंक्तियों को लिखते समय मानो हमारे सामने उस कवचधारी पार्थसारथि की झलक दिखायी पड़ जाती है, जो दोनों विरोधी सैन्यों के बीच अपने रथ पर खड़े होकर अपने बायें हाथ से दृप्त अश्वों को रोक रहे हैं, और वे अपनी गृद्ध दृष्टि से विशाल सेना को निहार रहे हैं तथा मानो अपनी जन्मजात-प्रवृत्ति द्वारा दोनों दलों की रण-सज्जा की प्रत्येक बात को तौल रहे हैं। साथ ही मानो उनके ओठों से भयाकुल अर्जुन को रोमांचित करनेवाला कर्म का वह अत्यद्भुत रहस्य निकल रहा है—

> कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
> स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ।। गीता ।। ४।१८ ।।

—'जो कर्म में अकर्म अर्थात् विश्राम या शांति, एवं अकर्म अर्थात् शांति में कर्म देखता है, वही मनुष्यों में बुद्धिमान है, वही योगी है, और उसीने सब कर्म किये हैं।'

यही पूर्ण आदर्श है। परन्तु बहुत ही कम लोग इस आदर्श को प्राप्त कर पाते हैं। अतएव परिस्थितियाँ जैसी भी हों, हमें उन्हें ग्रहण करना ही चाहिए तथा विभिन्न व्यक्तियों में विकसित मानव पूर्णता के भिन्न भिन्न पहलुओं को एकत्र करके संतोष करना चाहिए।

धर्म के क्षेत्र में चार प्रकार के साधक होते हैं—गंभीर चिन्तनशील (ज्ञान-योगी), दूसरों की सहायता के लिए प्रबल कर्मशील (कर्मयोगी), साहस और निर्भीकता के साथ आत्मानुभूति प्राप्त कर लेने में अग्रसर (राजयोगी) तथा शान्त एवं विनम्र (भक्तियोगी)।

जिस व्यक्ति का शब्द-चित्र हम यहाँ दे रहे हैं, वे अद्‌भुत विनयसम्पन्न तथा गम्भीर आत्मज्ञानी थे।

*   *   *

पवहारी बाबा (मृत्यु के बाद वे इसी नाम से विख्यात हुए) का जन्म बनारस ज़िले में गुज़ी नामक स्थान के निकट एक गाँव में ब्राह्मण वंश में हुआ। बाल्यावस्था में ही वे अपने चाचा के पास रहने तथा विद्यार्जन करने के लिए गाज़ीपुर आ गये थे।

वर्तमान काल में हिन्दू साधु प्रधानतः निम्नलिखित सम्प्रदायों में विभक्त हैं: संन्यासी, योगी, वैरागी तथा पंथी। संन्यासी श्री शंकराचार्य के मतावलम्बी अद्वैतवादी हैं। योगी यद्यपि अद्वैतवादी होते हैं, पर योग की भिन्न भिन्न प्रणालियों की साधना करने के कारण उनकी एक अलग श्रेणी मानी गयी है। वैरागी रामानुजाचार्य तथा अन्यान्य द्वैतवादी आचार्यों के अनुयायी होते हैं। पंथियों में द्वैती तथा अद्वैती दोनों का समावेश होता है, इनके सम्प्रदायों की स्थापना मुसलमानों के शासन-काल में हुई थी। पवहारी बाबा के चाचा रामानुज अथवा श्री सम्प्रदाय के अनुयायी थे; वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे अर्थात् उन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत लिया था। गाज़ीपुर से उत्तर दो मील की दूरी पर गंगा के किनारे उनकी छोटी सी ज़मीन थी और वहीं वे बस गये थे। उनके कई भतीजे थे। उनमें से वे एक (पवहारी बाबा) को अपने घर में ले गये और गोद ले लिया, जिससे वह उनकी सम्पत्ति तथा पद का उत्तराधिकारी हो।

पवहारी बाबा की इस समय की जीवन-घटनाओं के सम्बन्ध में हमें कोई विशेष जानकारी प्राप्त नहीं है और न हमें इसी बात का कुछ पता है कि जिन विशेष गुणों के कारण वे भविष्य में इतने विख्यात हुए थे, उनका उस समय उनमें कोई चिह्न भी विद्यमान था। लोगों को इतना ही स्मरण है कि उन्होंने व्याकरण, न्याय तथा अपने सम्प्रदाय के धर्मग्रन्थों का बड़े परिश्रम के साथ विशेष रूप से अध्ययन किया था। साथ ही वे फुर्तीले एवं विनोदप्रिय भी थे। कभी कभी उनकी विनोदप्रियता इतनी बढ़ जाती थी कि उनके सहपाठियों को उनकी शरारतों से परेशान होना पडता था।

इस प्रकार प्राचीन परम्परा के भारतीय विद्यार्थियों के दैनिक कर्तव्यों के बीच इस भावी सन्त का बाल्य जीवन व्यतीत होने लगा। उनके उस समय के सरल आनन्दमय तथा क्रीड़ाशील छात्र-जीवन में अपने अध्ययन के प्रति असाधारण अनुराग तथा भाषाएँ सीखने की अपूर्व प्रवृत्ति के अतिरिक्त और कोई ऐसी विशेष बात नहीं दिखायी देती थी कि उनके भावी जीवन की उस उत्कट

गम्भीरता का अनुमान किया जा सकता, जिसकी परिणति एक अत्यन्त अद्भुत तथा रोमांचकारी आत्माहुति में होनेवाली थी।

इसी समय एक ऐसी घटना हुई, जिससे इस बाल विद्यार्थी को सम्भवतः पहली ही बार जीवन के गम्भीर रहस्य की अनुभूति हुई। अब तक जो दृष्टि किताबों में ही गड़ी रही थी, उसे ऊपर उठाकर वह युवक अपने मनोजगत् का बारीकी के साथ निरीक्षण करने लगा। और धर्म का वह अंश जानने के लिए व्याकुल हो उठा, जो केवल किताबी ही न होकर वास्तव में सत्य है। इसी समय उसके चाचा की मृत्यु हो गयी—इस बाल हृदय का समस्त प्रेम जिस पर केन्द्रित था, वही चल बसा। दुःख से मर्माहत एवं सतप्त बालक शून्य को पूर्ण करने के लिए अब एक ऐसी चिन्तन वस्तु के अन्वेषण के लिए कटिबद्ध हो गया, जिसमें कभी परिवर्तन होता ही नहीं।

भारत में सभी विषयों के लिए हमें गुरु की आवश्यकता होती है। हम हिन्दुओं का ऐसा विश्वास है कि ग्रंथ रूपरेखा मात्र हैं। प्रत्येक कला में, प्रत्येक विद्या में, विशेषकर धर्म में जीवन्त रहस्यों की प्राप्ति शिष्य को गुरु द्वारा ही होनी चाहिए। अत्यन्त प्राचीन काल से ही भारत में जिज्ञासुओं ने बिना व्यतिक्रमों के अन्तर्जगत् के रहस्यों की खोज करने के लिए सदैव एकान्त का आश्रय लिया है और आज भी ऐसा एक भी वन, पर्वत अथवा पवित्र स्थान नहीं है, जिसके सम्बन्ध में यह किंवदन्ती न प्रचलित हो कि किसी न किसी महात्मा के निवास से वह स्थान पवित्र हुआ है।

यह कहावत प्रसिद्ध है :

रमता साधु, बहता पानी।
इनमें कभी ना मैल लखानी॥

—'जिस प्रकार बहता पानी शुद्ध और निर्मल होता है, उसी प्रकार भ्रमण करनेवाला साधु भी पवित्र तथा निर्मल होता है।'

भारत में जो लोग ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कर धार्मिक जीवन बिताते हैं, वे साधारणतया अपना अधिकांश जीवन देश के विभिन्न प्रदेशों में भ्रमण करने में तथा भिन्न भिन्न तीर्थों एवं पुण्य स्थानों के दर्शन करने में ही व्यतीत करते हैं। जिस चीज का सर्वदा व्यवहार होता रहता है, उसमें जंग कभी नहीं लगता; इसी प्रकार मानो भ्रमण करते रहने से उनमें मलिनता कभी प्रवेश नहीं कर पाती। इससे एक और लाभ होता है—उन महात्माओं द्वारा धर्म मानो प्रत्येक व्यक्ति के दरवाजे पर पहुँच जाता है। जिन्होंने संसार का त्याग किया है,

उनके लिए यह आवश्यक कतव्य माना गया है कि वे भारत की चारों दिशाओं में स्थित चारों मुख्य धामों (उत्तर में बदरी-केदार, पूर्व में पुरी, दक्षिण में सेतुवन्ध रामेश्वर और पश्चिम में द्वारका) का दर्शन करें।

सम्भव है; उपर्युक्त कारणों ने ही हमारे इस युवक ब्रह्मचारी को भारत-भ्रमण के लिए उद्यत किया हो, परन्तु यह हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि उनके भ्रमण का मुख्य कारण उनकी ज्ञान-तृष्णा ही थी। हमें उनके भ्रमण के सम्वन्ध में बहुत थोड़ी जानकारी है; तथापि जिन द्राविड़ भाषाओं में उनके सम्प्रदाय के अनेक ग्रन्थ लिखे हुए हैं, उन भाषाओं का उनका ज्ञान देखकर, तथा श्री चैतन्य सम्प्रदाय के वैष्णवों की प्राचीन वंगला भाषा से भी उनका पूर्ण परिचय देखकर हम अनुमान कर सकते हैं कि दक्षिण तथा वंगाल में वे काफ़ी समय तक रुके होंगे।

परन्तु उनके यौवन-काल के मित्रगण उनके एक विशिष्ट स्थान के प्रवास पर विशेष ज़ोर देते हैं। वे कहते हैं कि काठियावाड़ में गिरनार पर्वत की चोटी पर ही वे सर्वप्रथम व्यावहारिक योग के रहस्यों में दीक्षित हुए थे।

यही वह पर्वत है, जिसे बौद्ध इतना पवित्र मानते थे। इस पर्वत के नीचे वह विशाल शिला है, जिस पर 'राजाओं में परम धर्मशील' अशोक का पुरातत्व-वेत्ताओं द्वारा सर्वप्रथम पढ़ा हुआ धर्मानुशासन उत्कीर्ण है। उसके भी नीचे, सैकड़ों सदियों की विस्मृति के अंधकार में लीन, अरण्यों से ढँके हुए विशाल स्तूपसमूह थे, जिनके सम्वन्ध में लम्वे अरसे तक यह धारणा थी कि वे गिरनार पर्वत-श्रेणी के ही टीले हैं। अव भी वह सम्प्रदाय—जिसका बौद्ध धर्म आज एक संशोधित संस्करण समझा जाता है—इस पर्वत को कम पवित्र नहीं मानता और आश्चर्य की वात यह है कि उसके विश्वविजयी उत्तराधिकारी के आधुनिक हिन्दू धर्म में विलीन होने के पूर्व तक उसने स्थापत्य-क्षेत्र में विजय-लाभ करने का साहस नहीं किया।

महायोगी अवधूत गुरु दत्तात्रेय के प्रवास से पुनीत होने के कारण गिरनार पर्वत हिन्दुओं में प्रसिद्ध है और कहा जाता है कि इस पर्वत की चोटी पर किसी किसी भाग्यशाली व्यक्ति को अव भी महान तथा सिद्ध योगियों का दर्शन हो जाता है।

हमारे युवक ब्रह्मचारी ने अपने जीवन के दूसरे मोड़ में एक साधक संन्यासी का शिष्यत्व ग्रहण किया। ये संन्यासी कहीं वाराणसी के निकट गंगा के तट पर रहते थे। उनका निवास-स्थान गंगा की उच्च तटभूमि में खुदी हुई एक गुफा था। हमारे संत भी अपने भविष्य जीवन में गाज़ीपुर के निकट गंगा के किनारे

ज़मीन के नीचे बनायी हुई एक गहरी गुफा में वास करते थे। हम अनुमान कर सकते हैं कि उन्होंने यह बात अपने योगी गुरु से ही सीखी होगी। योगियों ने सदैव ऐसी ही गुफाओं अथवा स्थानों में रहना उचित कहा है, जहाँ का ताप-मान सम हो, कोलाहल मस्तिष्क को विचलित न कर सके। हमें यह भी ज्ञात हुआ है कि वे लगभग इसी समय वाराणसी के एक संन्यासी के पास अद्वैत दर्शन का अध्ययन कर रहे थे।

अनेक वर्षों तक भ्रमण, अध्ययन तथा साधना करने के उपरान्त युवक ब्रह्मचारी उस स्थान पर लौट आये, जहाँ उनका पालन-पोषण हुआ था। यदि उनके चाचा जी उस समय तक जीवित रहते, तो वे सम्भवतः उस युवक के मुखमण्डल पर वही ज्योति देखते, जो प्राचीन काल के एक महान् ऋषि ने अपने शिष्य के मुख पर देखी थी और कहा था, ब्रह्मविदिव वै सोम्य भासि[1]—'हे सोम्य, देख रहा हूँ—आज तुम्हारे मुख पर ब्रह्मज्योति झलक रही है। परन्तु घर लौटने पर जिन्होंने उनका स्वागत किया, वे थे केवल उनके बाल्य जीवन के मित्रगण। उनमें से अधिकांश संकीर्ण विचारों तथा शाश्वत संघर्ष के संसार में हमेशा के लिए प्रविष्ट हो चुके थे।

परन्तु फिर भी उन लोगों को अपनी पाठशाला के इस पुराने मित्र तथा खिलाड़ी के, जिसको समझने के वे आदी थें, चरित्र एवं आचरण में एक परि-वर्तन—एक रहस्यमय परिवर्तन दिखायी दिया, जो उनके लिए विस्मयजनक था। लेकिन अपने मित्र के सदृश बनने की इच्छा अथवा उसके समान सत्य की खोज करने की आकांक्षा उनमें जाग्रत न हो सकी। यह एक ऐसे व्यक्ति का रहस्य था, जो इस कष्टमय तथा भोगलोलुप संसार से पार जा चुका था, और बस इतनी ही भावना उनके लिए पर्याप्त थी। सहज ही इनके प्रति श्रद्धा-सम्पन्न हो, उन लोगों ने फिर और अधिक जिज्ञासा प्रकट नहीं की।

इसी समय इस संत की विशिष्टताएँ अधिकाधिक विकसित और प्रकट होने लगीं, काशी के निकट रहनेवाले अपने मित्र के सदृश उन्होंने भी ज़मीन में एक गुफा खुदवा ली थी और उसमें प्रवेश कर वे वहाँ अनेक घंटे बिताने लगे। इसके पश्चात् अपने आहार के संबंध में भी वे कठोर नियम का पालन करने लगे। दिन भर वे अपने छोटे से आश्रम में काम करते, अपने प्रेमास्पद श्री रामचंद्र जी की पूजा करते; उत्तम प्रकार के व्यंजन तैयार करते। (कहते हैं कि इस पाक-विद्या में वे असाधारण रूप से निपुण थे)। इन व्यंजनों को भगवान

---

१. छान्दोग्योपनिषद ॥ ४।९।२ ॥

का भोग लगाकर वे फिर उन्हें अपने मित्रों तथा दरिद्रनारायणों में प्रसाद रूप में बाँट देते और रात होने तक उनकी सेवा में लगे रहते। जब वे सब सो जाते, तब वे चुपके से गंगा जी में कूदकर तैरते हुए दूसरे किनारे पर चले जाते और वहाँ सारी रात साधन-भजन में बिताकर प्रातःकाल के पूर्व ही वे वापस लौट आते और अपने मित्रों को जगाकर फिर अपने उसी नित्य कर्म में लग जाते जिसे हम भारत में दूसरों की पूजा कहते हैं।

ऐसा करते करते उनका स्वयं का आहार दिनोंदिन कम होने लगा। हमने सुना है कि अंत में वे दिन भर में केवल एक मुट्ठी नीम के कड़वे पत्ते अथवा कुछ लाल मिर्च ही खाकर रह जाया करते थे। इसके बाद उन्होंने रात को गंगा जी के उस पार जंगल में जाना छोड़ दिया और वे अपना अधिकाधिक समय उस गुफा में ही बिताने लगे। हमने सुना है कि उस गुफा में वे कई कई दिन तथा महीनों तक ध्यानमग्न रहा करते और फिर बाहर निकलते। यह कोई भी नहीं जानता था कि वे इतने लम्बे समय तक वहाँ क्या खाकर रहते हैं; इसीलिए लोग उन्हें 'पव-आहारी' (पवहारी) अर्थात् वायु-भक्षण करनेवाले बाबा कहने लगे।

फिर उन्होंने अपने जीवन भर यह स्थान नहीं छोड़ा। एक समय वे अपनी गुफा में इतने अधिक समय तक रहे कि लोगों ने यह निश्चय कर लिया कि वे अब मर गये! किंतु बहुत समय के बाद वे फिर बाहर निकले और उन्होंने सैकड़ों साधुओं को भण्डारा दिया।

जब वे ध्यानमग्न नहीं रहते थे, तब अपनी गुफा के द्वार पर स्थित एक कमरे में बैठकर, दर्शन के निमित्त आये हुए लोगों से बातचीत करते थे। अब उनकी कीर्ति फैलने लगी और गाजीपुर-निवासी अफ़ीम-विभाग के अधिकारी राय-बहादुर श्री राय गगनचंद्र के द्वारा—जो अपने उदात्त आचरण तथा धर्म-परायणता के कारण लोकप्रिय थे—हमें इन संत से परिचित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

भारत के अन्य अनेक संतों के सदृश पवहारी बाबा के जीवन में भी कोई विशेष बाह्य क्रियाशीलता नहीं दीख पड़ती थी। 'शब्द द्वारा नहीं, बल्कि जीवन द्वारा ही शिक्षा देनी चाहिए, और जो व्यक्ति सत्य धारण करने के योग्य हैं, उन्हींके जीवन में वह प्रतिफलित होता है।'—उनका जीवन इसी भारतीय आदर्श का एक और उदाहरण था। इस श्रेणी के संत, जो कुछ वे जानते हैं, उसका प्रचार करने में पूर्णतया उदासीन रहते हैं; क्योंकि उनकी यह दृढ़ धारणा होती है कि शब्द द्वारा नहीं, वरन् केवल भीतर की साधना द्वारा ही

सत्य की प्राप्ति हो सकती है। उनके निकट धर्म सामाजिक कर्तव्यों की प्रेरक शक्ति नहीं है, वरन् इसी जीवन में सत्य का प्रखर अनुसंधान एवं सत्य की उपलब्धि है। वे काल के किसी एक क्षण में अन्यान्य क्षणों की अपेक्षा अधिक क्षमता स्वीकार नहीं करते। अतएव अनन्त काल के प्रत्येक क्षण के एक समान होने के कारण वे इस बात पर ज़ोर देते हैं कि मृत्यु की बाट न जोहकर इसी लोक में तथा प्रस्तुत क्षण में ही आध्यात्मिक सत्यों का साक्षात्कार कर लेना चाहिए।

लेखक ने एक समय इन संत से पूछा था कि संसार की सहायता करने के लिए वे अपनी गुफा से बाहर क्यों नहीं आते। पहले तो उन्होंने अपनी स्वाभाविक विनयशीलता तथा विनोदप्रियता के अनुरूप निम्नलिखित स्पष्ट उत्तर दिया :—

'एक दुष्ट मनुष्य कुछ दुष्कर्म करते समय पकड़ा गया और दंड के रूप में उसकी नाक काट ली गयी। अपना नकटा चेहरा दुनिया को दिखलाने में लज्जा का अनुभव करने के कारण वह अपने से विरक्त होकर एक जंगल में भाग गया। वहाँ उसने एक शेर की खाल बिछायी और जब वह देखता कि कोई आ रहा है, तो तुरन्त गंभीर ध्यान का ढोंग करके उस पर बैठ जाता। ऐसा करने से वह लोगों को दूर तो न रख सका, उलटे झुंड के झुंड लोग इस अद्भुत महात्मा को देखने तथा उसकी पूजा करने के लिए आने लगे। उसने देखा कि यह अरण्यवास तो फिर उसके लिए जीवन-निर्वाह का सरल साधन बन गया है। इस प्रकार कई वर्ष बीत गये। अंत में उस स्थान के लोग इस मौनव्रतधारी ध्यान-परायण साधु के मुख से कुछ उपदेश सुनने के लिए लालायित हुए और एक नवयुवक उस 'साधु' के संप्रदाय में सम्मिलित होने के निमित्त दीक्षा लेने के लिए विशेष रूप से उत्सुक हो उठा। अंत में ऐसी स्थिति पैदा हुई कि अधिक विलम्ब करने से साधु की प्रतिष्ठा भंग होने की आशंका हो गयी। तब तो एक दिन वह अपना मौन छोड़कर उस उत्साही युवक से बोला, 'बेटा, कल अपने साथ एक तेज़ धारवाला उस्तरा लेते आना।" इस आशा से कि उसके जीवन की महान् आकांक्षा शीघ्र ही पूर्ण हो जायगी, उस युवक को बड़ा आनन्द हुआ और दूसरे दिन सवेरा होते ही वह एक तेज़ छुरा लेकर साधु के पास जा पहुँचा। फिर यह नकटा साधु उस युवक को जंगल में एक दूर निर्जन कोने में ले गया और एक ही आघात में उसकी नाक काट ली और गंभीर आवाज़ में बोला, 'बेटा, इस संप्रदाय में मेरी दीक्षा इसी प्रकार हुई थी और वही आज मैंने तुझे दी है। अवसर पाते ही तू भी उत्साह के साथ दूसरों को इसी दीक्षा का दान देना!' लज्जा के कारण युवक अपनी इस अद्भुत

दीक्षा का रहस्य किसीके पास प्रकट नहीं कर सका और वह अपने गुरु के आदेश का पालन पूर्ण रूप से करने लगा। इस प्रकार होते होते देश में नकटे साधुओं का एक पूरा संप्रदाय वन गया! तुम्हारी क्या ऐसी इच्छा है कि मैं भी इसी प्रकार के एक और संप्रदाय की स्थापना करूँ?"

इसके उपरान्त बहुत दिनों बाद इसी विषय पर फिर प्रश्न पूछने पर उन्होंने गंभीर भाव से उत्तर दिया, "तुम्हारी क्या ऐसी धारणा है कि केवल स्थूल शरीर द्वारा ही दूसरों की सहायता हो सकती है? क्या शरीर के क्रियाशील हुए विना केवल मन ही दूसरों के मन की सहायता नहीं कर सकता?"

इसी प्रकार एक दूसरे अवसर पर जब उनसे पूछा गया कि ऐसे श्रेष्ठ योगी होते हुए भी वे होमादि क्रिया तथा श्री रघुनाथ की पूजा आदि कर्म—जो साधना की केवल प्रारंभिक अवस्था के लिए समझे जाते हैं—क्यों करते हैं, तो उन्होंने उत्तर दिया, "तुम यही क्यों समझ लेते हो कि प्रत्येक व्यक्ति अपने निज के कल्याण के लिए ही कर्म किया करता है? क्या एक मनुष्य दूसरों के लिए कर्म नहीं कर सकता?"

और फिर उनके बारे में चोरवाली वह कथा भी हर एक ने सुनी है। एक वार एक चोर उनके आश्रम में चोरी करने घुसा, परन्तु इन सन्त को देखते ही वह भयभीत हो, चुराये हुए सामान की गठरी वहीं फेंककर भागा। ये संत वह गठरी लिये उस चोर के पीछे मीलों दौड़कर उसके पास जा पहुँचे। उन्होंने वह गठरी उस चोर के पैरों पर रखकर हाथ जोड़कर प्रणाम किया और इस बात के लिए सजल नेत्रों से क्षमा-याचना की कि उसके उस चोरी के कार्य में वे वाधक हुए। फिर वे बड़ी कातरता के साथ उससे कहने लगे, 'तुम यह सब सामान ले लो, क्योंकि यह तुम्हारा ही है, मेरा नहीं।"

हमने विश्वस्त व्यक्तियों से यह कथा भी सुनी है कि एक वार एक काले साँप ने उन्हें काट लिया। उसके बाद उनके मित्रों ने कई घंटों तक यही सोचा कि वे मर गये, पर अन्त में वे होश में आ गये। जब उनके मित्रों ने उनसे इसके सम्वन्ध में पूछा तो उन्होंने यही कहा, "यह नाग तो हमारे प्रियतम का दूत था।"

और हम इस बात में सहज रूप से विश्वास भी कर सकते हैं, क्योंकि हम जानते हैं, उनका स्वभाव कैसे प्रगाढ़ प्रेम, विनय एवं नम्रता से भूषित था। सब प्रकार के शारीरिक दुःख उनके लिए अपने प्रियतम् के पास से आये दूत के समान ही थे और यद्यपि इन दुःखों से कभी कभी उन्हें अत्यन्त पीड़ा भी होती थी, पर यदि कोई दूसरा व्यक्ति इन दुःखों को किसी दूसरे नाम से सम्बोधित

करता, तो उन्हें बहुत असह्य हो जाता। उनका यह मौन प्रेम तथा हृदय की सरलता आसपास के सभी लोगों के हृदय पर अपनी छाप डाल चुकी थी और जिन्होंने आसपास के गाँवों में भ्रमण किया है, वे इस अद्भुत महात्मा के अवर्णनीय नीरव प्रभाव की साक्षी दे सकते हैं। अंतिम दिनों में उन्होंने लोगों से मिलना बंद कर दिया था। जब वे अपनी गुफा के बाहर आते, तब लोगों से बातचीत करते, पर बीच का दरवाज़ा बंद रखकर। उनके गुफा से बाहर निकलने का पता उनके ऊपरवाले कमरे में से होम के धुएँ के निकलने से अथवा पूजा की सामग्री ठीक करने की आवाज़ से चलता था।

उनकी एक विशेषता यह थी कि वे जिस समय जो काम हाथ में लेते थे, वह चाहे कितना ही तुच्छ क्यों न हो, उसमें वे पूर्णतया तल्लीन हो जाते थे। जिस प्रकार श्री रघुनाथ जी की पूजा वे पूर्ण अंतःकरण से करते थे, उसी प्रकार एकाग्रता तथा लगन के साथ वे एक ताँबे का क्षुद्र बरतन भी माँजते थे। उन्होंने हमें कर्म-रहस्य के सम्बन्ध में यह शिक्षा दी थी कि 'जस साधन तस सिद्धि', अर्थात् 'ध्येय-प्राप्ति के साधनों से वैसा ही प्रेम रखना चाहिए मानो वे स्वयं ही ध्येय हों।' और वे स्वयं इस महान् सत्य के उत्कृष्ट उदाहरण थे।

उनका विनम्र भाव उस प्रकार का नहीं था, जिसका अर्थ होता है कष्ट, पीड़ा और अपनी अवमानना। एक समय उन्होंने हमारे सम्मुख निम्नलिखित भाव की बड़ी सुंदर व्याख्या की थी, "हे राजन्, ईश्वर तो उन अकिंचनों का धन है, जिन्होंने सब वस्तुओं का त्याग कर दिया है—यहाँ तक कि अपनी आत्मा के सम्बन्ध में भी इस भावना का कि 'यह मेरी है', पूर्ण त्याग कर दिया है।" और इसी अनुभूति द्वारा उनमें विनय भाव सहज रूप से उत्पन्न हुआ था।

वे प्रत्यक्ष रूप से कभी उपदेश नहीं देते थे, क्योंकि ऐसा करना तो मानो आचार्यपद ग्रहण करना तथा स्वयं को मानो दूसरों की अपेक्षा उच्चतर आसन पर आरूढ़ कर लेने के सदृश हो जाता। परन्तु एक बार जब उनके हृदय का स्रोत खुल जाता था, तब उसमें से अनन्त ज्ञान की धारा निकल पड़ती थी। पर फिर भी उनके उत्तर सीधे न होकर संकेतात्मक ही हुआ करते थे।

देखने में वे अच्छे लम्बे-चौड़े तथा दोहरे शरीर के थे। उनके एक ही आँख थी और अपनी वास्तविक उम्र से वे बहुत कम प्रतीत होते थे। उनकी आवाज़ इतनी मधुर थी कि हमने वैसी आवाज़ अभी तक नहीं सुनी। अपने जीवन के शेष दस वर्ष या उससे भी कुछ अधिक समय से, वे लोगों को फिर दिखायी नहीं पड़े। उनके दरवाज़े के पीछे कुछ आलू तथा थोड़ा सा मक्खन रख दिया जाता था और रात को किसी समय जब वे समाधि में न होकर अपने ऊपरवाले कमरे

में होते थे, तो इन चीज़ों को ले लेते थे। पर जब वे गुफा के भीतर चले जाते थे, तब उन्हें इन चीज़ों की भी आवश्यकता नहीं रह जाती थी। इस प्रकार मौन योग-साधना में समाहित उनका वह नीरव जीवन, जिसे पवित्रता, विनय और प्रेम का जीवन्त दृष्टान्त कह सकते हैं, धीरे धीरे व्यतीत होने लगा।

हम पहले ही कह चुके हैं कि बाहर से धुआँ दीख पड़ने से ही मालूम हो जाता था कि वे समाधि से उठे हैं। एक दिन उस धुएँ में जलते हुए मांस की दुर्गन्ध आने लगी। आसपास के लोग इसके सम्बन्ध में कुछ अनुमान न कर सके कि क्या हो रहा है। अंत में जब वह दुर्गन्ध असह्य हो उठी और धुआँ भी अत्यधिक मात्रा में ऊपर उठता हुआ दिखायी देने लगा, तब लोगों ने दरवाज़ा तोड़ डाला और देखा कि उस महायोगी ने स्वयं को पूर्णाहुति के रूप में उस होमाग्नि को समर्पित कर दिया है। थोड़े ही समय में उनका वह शरीर भस्म की राशि में परिणत हो गया।

यहाँ पर हमें कालिदास की ये पंक्तियाँ याद आती हैं :

अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकम्। निन्दन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम्॥[1]

—अर्थात् मन्दबुद्धि व्यक्ति महात्माओं के कार्यों की निन्दा करते हैं, क्योंकि ये कार्य असाधारण होते हैं तथा उनके कारण भी सर्वसाधारण व्यक्तियों की विचार-शक्ति से परे होते हैं।

परन्तु उनके साथ हमारा यह परिचय होने के कारण उनके उक्त कार्य के सम्बन्ध में हम एक अनुमान लगाने का साहस कर सकते हैं कि उन्होंने यह जान लिया था कि उनके जीवन का अन्तिम क्षण समीप आ गया है और उनकी मृत्यु के पश्चात् भी किसीको कोई कष्ट न हो, इसीलिए उन्होंने पूर्ण स्वस्थ शरीर तथा मन से आर्यों का यह अन्तिम यज्ञ भी सम्पन्न कर डाला।

प्रस्तुत लेखक इस परलोकगत संत के प्रति परम ऋणी है। इस लेखक ने जिन श्रेष्ठतम आचार्यों से प्रेम किया है तथा जिनकी सेवा की है, उनमें से वे एक हैं। उनकी पवित्र स्मृति में मैं ये पंक्तियाँ चाहे जैसी भी अयोग्य हों, समर्पित करता हूँ।

---

१. कुमारसम्भवम्।

धर्म के मूल तत्व[1]

संसार के प्राचीन या आधुनिक, मृत या जीवंत सभी धर्मों की अवधारणा मेरी बुद्धि इस चतुष्खण्ड विभाग द्वारा सर्वोत्तम ढंग से कर पाती है :

१. प्रतीकवाद—मनुष्य की धार्मिक प्रवृत्ति को सुरक्षित रखने और विकसित करने के लिए विविध बाह्य सहायक उपकरणों का उपयोग।

२. इतिहास—हर धर्म के दैवी अथवा मानवी उपदेशकों के जीवन द्वारा चरितार्थ प्रत्येक धर्म के दर्शन शास्त्र का धर्म द्वारा स्वीकार किया जाना। इसमें पौराणिक गाथाएँ भी शामिल हैं; क्योंकि जो कुछ एक जाति या युग के लिए पुराण गाथा है, वही दूसरी जातियों या युगों के लिए इतिहास था या इतिहास हो जाता है। मानव उपदेशकों के सम्बन्ध में भी उनके अधिकांश इतिहास को परवर्ती पीढ़ियों द्वारा पुराण मान लिया जाता है।

३. दर्शन शास्त्र—प्रत्येक धर्म के सम्पूर्ण क्षेत्र का तर्काधार।

४. रहस्यवाद—विशेष व्यक्तियों द्वारा अथवा कुछ परिस्थितियों में सभी व्यक्तियों द्वारा इन्द्रिय ज्ञान और बुद्धि के परे किसी उच्चतर तत्त्व के अस्तित्व की प्रतिष्ठा। यह अन्य विभागों में भी व्याप्त है।

संसार के अतीत या वर्तमान सभी धर्मों में, इन चारों में से एक या अधिक तत्त्व पाये जाते हैं। अधिक विकसित धर्मों में चारों पाये जाते हैं।

फिर इन अधिक विकसित धर्मों में भी कुछ के पास एक या अनेक पवित्र ग्रंथ थे ही नहीं; और ऐसे धर्म लुप्त हो गये हैं; पर जो धर्म पवित्र ग्रन्थों पर आधारित थे, आज भी जीवित हैं। इस दृष्टि से आज संसार के समस्त महान् धर्म पवित्र धार्मिक ग्रन्थों पर आधारित हैं।

वैदिक धर्म (जिसका भ्रान्त नाम हिन्दू धर्म या ब्राह्मण धर्म रख दिया गया है) वेदों पर आधारित है।

अवैस्तिक धर्म अवेस्ता पर आधारित है।

मूसाई धर्म प्राचीन व्यवस्थान पर आधारित है।

बौद्ध धर्म त्रिपिटक पर आधारित है।

---

१. यह अपूर्ण लेख कुमारी एस० ई० वाल्डो के कागजों में मिला था।

ईसाई धर्म नव व्यवस्थान पर आधारित है।

मुसलमान धर्म क़ुरान पर आधारित है।

चीन के ताओ धर्म और कन्फ़्यूशन धर्म की भी पुस्तकें हैं, पर यह बौद्ध धर्म के साथ इतने अविच्छेद्य रूप से घुल-मिल गये हैं कि उन्हें तालिका में बौद्ध धर्म के साथ रखना ही ठीक है।

और फिर, यद्यपि शुद्ध अर्थों में एकान्त जातीय धर्म कोई भी नहीं है, फिर भी यह कहा जा सकता है कि इस उपर्युक्त समूह में से वैदिक, मूसाई और अवैस्तिक धर्म उन्हीं जातियों तक सीमित हैं, जिन जातियों को वह प्रारम्भ में प्राप्त थे; जब कि बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म और मुसलमान धर्म प्रारम्भ से ही प्रसरणशील धर्म रहे हैं।

विश्वविजय के लिए बौद्धों, ईसाइयों और मुसलमानों के बीच संघर्ष होगा, और जातीय धर्मों को भी अनिवार्यतः उस संघर्ष में सम्मिलित होना पड़ेगा। इनमें से प्रत्येक धर्म, चाहे वह जातीय हो और चाहे प्रसरणशील, पहले से ही विभिन्न शाखाओं में विभाजित हो चुका है और जाने या अनजाने अपने आपको सतत परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल बनाने के लिए व्यापक परिवर्तनों को स्वीकार करता रहा है। यही तथ्य सिद्ध करता है कि इनमें से कोई भी अकेला सम्पूर्ण मानव जाति का धर्म बनने के उपयुक्त नहीं है। प्रत्येक धर्म, जिस जाति से वह उत्पन्न हुआ, उस जाति की कुछ विशिष्टताओं का परिणाम है, और प्रतिफलस्वरूप उन्हीं विशिष्टताओं के संरक्षण और संवर्धन का कारण भी है; और इसीलिए इनमें से कोई भी सार्वभौम मानव प्रकृति के उपयुक्त नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, बल्कि प्रत्येक में एक अभावात्मक तत्त्व भी है। प्रत्येक मानव प्रकृति के एक विशिष्ट अंग की वृद्धि में सहायता देता है, पर उन अन्य सभी तत्त्वों को कुंठित कर देता है, जो उस जाति में नहीं थे, जिसमें उसकी उत्पत्ति हुई। इस प्रकार किसी एक धर्म का सार्वभौम हो जाना मनुष्य के लिए भयानक और पतनकारी होगा।

संसार का इतिहास यह स्पष्ट दर्शाता है कि एक विश्वव्यापी राजनीतिक साम्राज्य स्थापित करने और एक विश्वव्यापी धार्मिक साम्राज्य स्थापित करने के दो स्वप्न बहुत समय से मनुष्य जाति के सम्मुख रहे हैं; परन्तु महानतम विजेताओं की योजनाएँ, संसार का एक अल्पांश विजय कर पाने के पूर्व ही, बारंबार उनके अधीनस्थ प्रदेशों के विद्रोह-विच्छेद से, भंग हो गयीं; और इसी प्रकार प्रत्येक धर्म अपने पालने से भली भाँति बाहर निकलने भी न पाया और विभिन्न मतों-सम्प्रदायों में विभक्त हो गया।

फिर भी यह सत्य मालूम पड़ता है कि अनंत विविधता के साथ समस्त मानव जाति की सामाजिक और धार्मिक एकता प्रकृति की योजना है। और यदि अल्पतम प्रतिरोध का मार्ग ही सच्चा कर्म-पथ है, तो मुझे ऐसा मालूम होता है कि प्रत्येक धर्म का यह मतों-संप्रदायों में विभक्त हो जाना जड़ एकरूपता की प्रवृत्ति को परास्त करके धर्म को जीवन्त रखने की प्रक्रिया ही है और हमें इस बात का स्पष्ट निर्देश मिलता है कि हमें कौन सा मार्ग अपनाकर आगे बढ़ना चाहिए।

अतः ऐसा लगता है कि अन्ततः मतों-संप्रदायों का तिरोभाव न होकर उनकी वृद्धि ही तब तक होती जायगी, जब तक प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए एक संप्रदाय नहीं बन जाता। और फिर समस्त वर्तमान धर्मों के एक व्यापक दर्शन शास्त्र में विलय हो जाने पर ही एकता की पृष्ठभूमि प्रस्तुत होगी। पुराण-गाथाओं और कर्मकांडों में तो कभी भी एकता न आ सकेगी, क्योंकि हम भावक्षेत्र की अपेक्षा वस्तुक्षेत्र में एक दूसरे से अधिक विभेद रखते हैं। एक ही सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी लोग उसके प्रत्येक आदर्श उपदेष्टा की महत्ता के सम्बन्ध में मतभेद रखेंगे।

अतः इस विलयन से दर्शन की एकता की उपलब्धि होगी, जो मानव जाति की एकता का आधार होगी और प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रता देगी कि वह अपने गुरु अथवा अपने मान्य मत को—जो इस एकता के दृष्टांत हों—चुन ले। यह विलयन सहस्रों वर्षों से स्वाभाविक रूप से चलता रहा है; केवल पारस्परिक विरोध के कारण ही वह दुःखद रूप से अवरुद्ध रहा है।

अतः विरोध फैलाने के बजाय हमें विभिन्न जातियों के बीच एक दूसरे के उपदेशकों को भेजकर विचारों के पारस्परिक आदान-प्रदान में सहायता देनी चाहिए, जिससे कि मानव जाति को संसार के विविध धर्मों की शिक्षा दी जा सके; किन्तु हमें इस बात पर ज़ोर देना चाहिए कि हम दूसरों का उपहास न करें अथवा उनकी त्रुटियों और शिथिलताओं से अपने जीवन-यापन के लिए अनुचित लाभ न उठायें, बल्कि उनकी सहायता करें, उनके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करें और उन्हें ज्ञान दें, जैसा कि ईसा से दो शताब्दी पूर्व भारत के महान् बौद्ध सम्राट् अशोक ने किया था।

आजकल समूचे संसार में जिसे भौतिक ज्ञान कहा जाता है, उसके पक्ष में और आध्यात्मिक ज्ञान के विरोध मे दुहाई दी जा रही है। प्राप्त जीवन और जगत् को एक दृढ़तर आधार पर प्रतिष्ठित करने के लिए प्राप्त जीवन से जो परे है, आध्यात्मिक है, उसके विरुद्ध अभियान बड़ी तेज़ी से एक फ़ैशन बनता जा रहा है, जिसके सम्मुख धार्मिक उपदेशक भी एक के बाद एक बड़ी तेज़ी से घुटने

टेकते जा रहे हैं। विचार-शून्य समाज तो निस्सन्देह सर्वदा बाह्यतः रोचक या सुखकर पदार्थों का अनुगमन करता ही है; किन्तु जब वे लोग, जिनसे अधिक ज्ञान की अपेक्षा की जाती है, निरर्थक फ़ैशनों का अनुगमन करते हैं, भले ही वे दर्शनाभासित घोषित किये गये हों, तो स्थिति शोकजनक हो जाती है।

अब, इस बात को तो कोई भी अस्वीकार नहीं करता कि हमारी इन्द्रियाँ, जब तक अपनी प्रकृतावस्था में हैं, तब तक वे हमें प्राप्त सर्वाधिक विश्वसनीय पथ-प्रदर्शक हैं; और जिन तथ्यों का संग्रह उनके द्वारा होता है, वही हमारे समस्त मानव ज्ञान की संरचना की आधारशिला हैं। पर यदि इसका अर्थ कोई यह लेता है कि समस्त मानव ज्ञान इन्द्रियानुभूति मात्र है, तो हम उसे अस्वीकार करते हैं। यदि भौतिक विज्ञानों का अर्थ है ज्ञान की ऐसी शाखाएँ, जो केवल इन्द्रियानुभूति पर ही आधारित और निर्मित हैं, और इसके अतिरिक्त अन्य किसी तथ्य पर नहीं, तो हमारा दावा है कि ऐसा विज्ञान न तो कभी था और न कभी हो सकेगा। और न कोई ज्ञान की शाखा, जो केवल इन्द्रियानुभूति पर ही निर्मित हो, कभी कोई विज्ञान बन सकेगी।

इन्द्रियाँ निश्चय ही ज्ञान के उपादानों का संग्रह करती हैं और उनके साम्य और वैषम्य का निर्धारण करती हैं; पर यहीं पर उनकी गति रुक जाती है। पहली बात यह है कि तथ्यों के भौतिक संग्रह कुछ आध्यात्मिक धारणाओं—यथा देश-काल—के आश्रित हैं। दूसरे, तथ्यों का वर्गीकरण अथवा सामान्यीकरण किसी न किसी सूक्ष्म विचार की पृष्ठभूमि के अभाव में असम्भव है। सामान्यीकरण जितना उच्चतर होगा, उतनी ही अधिक आध्यात्मिक वह सूक्ष्म पृष्ठभूमि होगी, जिस पर निरपेक्ष तथ्यों का विन्यास किया जायगा। अब भूत-द्रव्य, शक्ति, मन, नियम, कारणता, और दिक्-काल जैसे विचार तो अत्युच्च अमूर्तीकरण के परिणाम हैं, और इनमें से किसी एक का भी किसीने कभी इन्द्रियानुभव नहीं किया। दूसरे शब्दों में, ये पूर्णतः आध्यात्मिक हैं। फिर भी इन आध्यात्मिक धारणाओं के बिना किसी भी भौतिक तथ्य का समझ सकना असम्भव है। इस प्रकार किसी गति का बोध तब होता है, जब किसी शक्ति से उसका संदर्भ जुड़ जाता है, कुछ विशिष्ट संवेदनाओं का बोध पदार्थ-संदर्भ से होता है, कुछ बाह्य परिवर्तनों का बोध नियम-सन्दर्भ से होता है, कुछ वैचारिक परिवर्तनों का बोध बुद्धि-संदर्भ से और किसी एकाकी व्यवस्था का बोध कारणता-संदर्भ से होता है—काल और विधान से सम्बद्ध होकर! फिर भी किसी भी व्यक्ति ने भूत-द्रव्य अथवा शक्ति, विधान अथवा कारणता, दिक् अथवा काल को न कभी देखा है, न कभी उनकी कल्पना की है।

यह तर्क किया जा सकता है कि इन विविक्त धारणाओं का कोई अस्तित्व ही नहीं है; और ये सारी कल्पनाएँ उन वर्गों से विलग या विच्छेद्य कुछ हैं ही नहीं, जिनके कि ये विशिष्ट गुण मात्र हैं।

भाव-कल्पनाएं सम्भव हैं या नहीं, अथवा सामान्यीकृत वर्गों के अतिरिक्त भी कुछ है या नहीं—ऐसे प्रश्नों से अलग इतना तो स्पष्ट है ही कि भूत-द्रव्य, शक्ति, दिक्, काल, कारणता, विधान अथवा मन को ऐसी इकाइयाँ माना गया है, जो सम्बन्धित वर्गों से भाव रूप में परिकल्पित की गयीं और (अपने आप में) स्वतन्त्र हैं; और यह कि जब उन्हें इस रूप में स्वीकार किया जाता है, तभी वे इन्द्रियानुभूत तथ्यों के व्याख्यात्मक समाधान बनकर सामने आती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि इन भावों-विचारों की सत्यता के अतिरिक्त इनके सम्बन्ध में दो तथ्य स्पष्ट रूप से सामने आते हैं—एक तो ये (तात्त्विक आध्यात्मिक) हैं; और दूसरे केवल तात्त्विक रूप में ही ये भौतिक तथ्यों की व्याख्या कर पाते हैं, अन्यथा नहीं।

बाह्य आन्तरिक के अनुरूप बनता है या आन्तरिक बाह्य के अनुरूप, भूत-द्रव्य मन की अनुरूपता स्वीकार करता है या मन भूत-द्रव्य की, परिवेश मानव मन को ढालता है या मानव मन परिस्थितियों को मोड़ देता है—यह एक प्राचीन, अति प्राचीन प्रश्न है, जो आज भी उतना ही नवीन और जीवन्त है, जितना कभी था। प्राथमिकता अथवा कारणता की समस्या से परे—और मन भूत-द्रव्य का कारण है या भूत-द्रव्य मन का, इस पहेली का समाधान ढूंढ़ने की चेष्टा किये बिना भी—इतना तो स्पष्ट है कि, बाह्य का निर्माण आन्तरिक द्वारा चाहे हुआ हो, चाहे न हुआ हो, पर हम बाह्य को समझने में समर्थ हो सकें—इसके लिए आवश्यक है कि बाह्य आन्तरिक की अनुरूपता स्वीकार करे। हम यह मान भी लें कि बाह्य जगत् ही आन्तरिक का कारण है, फिर भी हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हमारे मन के कारण-रूप में बाह्य जगत् अज्ञात और अज्ञेय है, क्योंकि हमारे मन को उतना ही ज्ञान, या बाह्य जगत् के उतने ही रूप का या दृश्य का ज्ञान, हो सकता है, जितना उसकी प्रकृति के अनुरूप या उसीकी प्रतिच्छाया हो। अब जो उसकी प्रतिच्छाया है—प्रतिबिम्ब है, वह उसका कारण तो नहीं हो सकता। और फिर इस व्यापक अस्तित्व का वह दृश्य जो मन के द्वारा समग्र से पृथक् कर लिया जाता है, अवगत किया जाता है—जाना जाता है, वह तो निश्चय ही मन का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि उसके अस्तित्व का ज्ञान ही मन में और मन के ही द्वारा होता है।

इस प्रकार भूत-द्रव्य से मन का निर्गमन असम्भव है। असम्भव ही नहीं,

असंगत भी है। क्योंकि यह तो एक प्रत्यक्ष तथ्य है कि अस्तित्व का वह अंश जो विचार और जीवन की विशिष्टताओं से विरहित है और जिसमें बाह्यत्व की विशिष्टता वर्तमान है, वही भूत-द्रव्य कहलाता है; और जो अंश बाह्यत्व से विरहित है और जिसे विचार और जीवन की विशिष्टताएँ उपलब्ध हैं, उसे मन कहा जाता है। अब मन से भूत-द्रव्य की अथवा भूत-द्रव्य से मन की उत्पत्ति सिद्ध करना प्रत्येक से उन गुण-धर्मों की अनुमिति करना है, जिनसे विरहित हम उन्हें मान चुके हैं; और इसलिए मन अथवा भूत-द्रव्य की कारणता के सम्बन्ध में चलनेवाला सारा संघर्ष एक शाब्दिक पहेली भर है, उससे अधिक कुछ नहीं। और फिर इन समस्त वितर्कों के बीच मन और भूत-द्रव्य—इन दोनों शब्दों के विविध अर्थों में प्रयुक्त करने की भ्रान्ति भी नियमित रूप से दिखायी देती है। मन शब्द का प्रयोग यदि एक स्थान पर भूत-द्रव्य से बाह्य और विरोधी तत्त्व के अर्थ में किया जाता है, तो दूसरे स्थान पर उसका प्रयोग ऐसे तत्त्व के अर्थ में किया जाता है, जो मन और भूत-द्रव्य दोनों को समेटे हुए है, अर्थात् जिसके बाह्य और आन्तरिक दोनों ही अंश भौतिक पक्ष के हैं; भूत-द्रव्य शब्द का प्रयोग कभी तो एक बाह्य तत्त्व के संकुचित अर्थ में किया जाता है, जिसकी हमें इन्द्रियानुभूति होती है। और कभी उसका अर्थ होता है—एक ऐसा तत्त्व, जो बाह्य और आन्तरिक समस्त गोचर सष्टि का कारण है। भौतिकवादी यह दावा करके आदर्शवादी को भयभीत कर देता है कि उसको अपने मन की उपलब्धि प्रयोगशाला के तत्त्वों से हुई है, जब कि उसका समस्त प्रयत्न प्रतिक्षण उस तत्त्व की अभिव्यक्ति के लिए होता है, जो समस्त तत्त्वों और अणुओं से परे है, वह तत्त्व जिसके परिणामस्वरूप बाह्य और आन्तरिक दोनों ही प्रकार के अस्तित्वों की स्थिति है और जिसे वह भूत-द्रव्य कहता है। दूसरी ओर आदर्शवादी भौतिकवादी के समस्त तत्त्वों और अणुओं को अपने विचार जगत् से ही उपलब्ध करना चाहता है, जब कि कभी कभी उस तत्त्व की भी झलक उसे मिलती है, जो मन और भूत-द्रव्य दोनों का ही कारण है और जिसे वह प्रायः ईश्वर कहकर पुकारता है। इसका अर्थ यह हुआ कि एक पक्ष इस समस्त विश्व की व्याख्या उसके उस अंश से करना चाहता है, जो बाह्य है और दूसरा पक्ष उस अंश से व्याख्या करना चाहता है, जो आन्तरिक है। ये दोनों ही प्रयत्न असम्भव हैं। मन और भूत-द्रव्य एक दूसरे की व्याख्या नहीं कर सकते—एक दूसरे का रहस्य नहीं खोल सकते। समस्या का एकमात्र समाधान उस तत्त्व में खोजना पड़ेगा, जो मन और भूत-द्रव्य दोनों को ही अपने में समाहित कर लेता है।

यह तर्क दिया जा सकता है कि मन के अभाव में विचार का अस्तित्व

असम्भव है, क्योंकि यदि हम यह कल्पना भी करें कि कोई ऐसा समय था, जब विचार का अस्तित्व नहीं था, तो निश्चय ही उस समय भूत-द्रव्य का भी—जैसा कि उसे हम जानते हैं, अस्तित्व नहीं हो सकता था। दूसरी ओर यह कहा जा सकता है कि चूँकि अनुभव के अभाव में ज्ञान असम्भव है और चूँकि अनुभव बाह्य विश्व की पूर्व कल्पना करता है, इसलिए मन का अस्तित्व—जैसा कि उसे हम जानते हैं—भूत-द्रव्य के अस्तित्व के अभाव में असम्भव है।

और न यही सम्भव है कि इन दो में से किसीका प्रारम्भ हुआ हो। सामान्यीकरण ज्ञान का सार-तत्त्व है। समताओं के एक कोष के अभाव में सामान्यीकरण असम्भव है। पूर्वानुभूति के अभाव में तुलना भी असम्भव है। इस प्रकार पूर्व ज्ञान के अभाव में ज्ञान भी असम्भव है—और चूँकि ज्ञान के लिए विचार और भूत-द्रव्य दोनों का अस्तित्व आवश्यक है, अतः ये दोनों ही अनादि हैं।

और फिर उस पृष्ठभूमि के अभाव में, जिस पर निरपेक्ष इन्द्रिय-ग्राह्य तथ्यों की एकता स्थापित होनी है, सामान्यीकरण, जो इन्द्रिय-ज्ञान का सार-तत्त्व है, असम्भव है। जैसे चित्र के लिए चित्रपट अनिवार्य है, वैसे ही समस्त बाह्य दृष्टिगोचर तथ्यों के संगठन से विश्व की एक धारणा का रूप ग्रहण करने के लिए भी एक पृष्ठभूमि अनिवार्य है। यदि बाह्य विश्व के लिए हमारा विचार या हमारा मन चित्रपट का काम करता है, तो विचार और मन के लिए भी किसी दूसरे चित्रपट की आवश्यकता है। मन चूँकि विविध भावनाओं और इच्छाओं की एक श्रृंखला है, न कि स्वयं एक इकाई, इसलिए उसे अपनी एकता की पृष्ठभूमि के लिए अपने अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व की आवश्यकता है। यहीं समस्त विश्लेषण रुक जाता है, क्योंकि एक यथार्थ एकत्व की उपलब्धि हो गयी है। किसी भी मिश्र तत्त्व का विश्लेषण तब तक नहीं रुकता, जब तक एक अविभाज्य इकाई की उपलब्धि नहीं हो जाती। फिर जो तत्त्व विचार और भूत-द्रव्य दोनों के ही लिए ऐसी अविभाज्य इकाई के रूप में उपलब्ध हो, वह निश्चय ही समस्त अस्तित्व का अन्तिम अविभाज्य आधार होगा, क्योंकि उससे आगे और विश्लेषण की हम कल्पना ही नहीं कर सकते; और न इससे आगे विश्लेषण की कोई आवश्यकता ही है; क्योंकि इसमें हमारी समस्त बाह्य और आन्तरिक ज्ञानानुभूति का विश्लेषण सम्मिलित है। इस प्रकार अब तक हमने यह देखा कि हमारे मानसिक और भौतिक जगत् की सम्पूर्ण समष्टि और उससे भी परे वह कुछ, जिस पर इन दोनों की लीला चल रही है—यही हमारी खोज का, हमारे विश्लेषण का परिणाम है।

अब यह जो 'कुछ' परे है, वह हमारे इन्द्रिय ज्ञान में सम्मिलित नहीं है : यह एक तर्कसिद्ध आवश्यकता है, और इसकी अनिर्वचनीय सत्ता की अनुभूति की

भावना हमारे समस्त इन्द्रिय ज्ञान में अन्तर्निहित है। हम यह भी अनुभव करते हैं कि अपने विवेक और सामान्यीकरण की अपनी शक्ति के प्रति हमारी सत्य-निष्ठा ही हमें इस अनिर्वचनीय 'कुछ' की ओर बरबस ले जाती है।

ज़ोर देकर यह कहा जा सकता है कि हमारे मानसिक और भौतिक जगत् के परे ऐसे किसी तत्त्व की स्वयंसिद्ध स्वीकृति की कोई आवश्यकता ही नहीं है। जगत् की सम्पूर्ण समष्टि ही वह सब कुछ है, जो हम जानते हैं अथवा जान सकते हैं; और उसकी व्याख्या करने के लिए उसके अतिरिक्त उससे परे और किसी तत्त्व की आवश्यकता नहीं है। इन्द्रियों से परे कोई भी विश्लेषण असम्भव है, और किसी भी ऐसी वस्तु का अनुभव जिसमें सबका अन्तर्भाव है—सबका निवास है, भ्रम मात्र है।

तो हम यह देखते हैं कि प्राचीनतम काल से विचारकों की दो शाखाएँ रही हैं। एक पक्ष का दावा यह है कि मानव मन की धारणाओं और कल्पनाओं के सर्जन की अनिवार्य आवश्यकता ही ज्ञानोपलब्धि की प्रकृत पथ-प्रदर्शिका है, और इस प्रक्रिया का तब तक विराम नहीं होता, जब तक हम जगतातीत नहीं हो जाते और हमें एक ऐसी धारणा की उपलब्धि नहीं होती, जो सर्वथा निरपेक्ष और देश, काल एवं निमित्त से परे हो। अब यदि इस परम धारणा की उपलब्धि समस्त वैचारिक एवं भूत-द्रव्य—जगत् का क्रमिक विश्लेषण करने पर ही हो सकती हो—स्थूल को लेकर सूक्ष्म और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर के विघटन की सिद्धि द्वारा; जब तक कि हमें उस तत्त्व की प्राप्ति न हो, जो अन्य सभी पदार्थों का समाधान हो—तो यह स्पष्ट है कि इस अंतिम परिणाम से परे जो कुछ भी है, वह सब इसीका क्षणिक परिवर्तित रूप है, इसलिए यह अंतिम परिणाम ही सत्य है और शेष सभी कुछ उसकी छाया मात्र है। अतः वास्तविकता या सत्य हमारी इन्द्रियों में नहीं, उनसे परे है। दूसरी ओर, दूसरे पक्ष का दावा है कि विश्व में एकमात्र वास्तविकता या सच्चाई वही है, जो हमारी इन्द्रियाँ हमें उपलब्ध कराती हैं; और यद्यपि हमारी समस्त इन्द्रियानुभूति पर किसी इन्द्रियातीत तत्त्व की भावना छायी रहती है, फिर भी वह केवल हमारे मन की प्रवंचना मात्र है और इसलिए अयथार्थ है।

इस प्रकार किसी अपरिवर्तनशील चिरन्तन तत्त्व की धारणा के अभाव में परिवर्तनशील पदार्थ कभी समझा ही नहीं जा सकता; और यदि तर्क किया जाय कि जिस अपरिवर्तनशील तत्त्व के साथ हम परिवर्तनशील का संदर्भ जोड़-कर उसे समझते हैं, वह स्वयं भी केवल सापेक्ष रूप में ही अपरिवर्तनशील है, अन्यथा वह स्वयं भी परिवर्तनशील है और इसलिए उसका संदर्भ किसी अन्य

अपरिवर्तनशील तत्त्व के साथ जोड़ना होगा और यह गति यथाक्रम चलती रहेगी, तो हमारा कहना यह है कि यह शृंखला चाहे जितनी लम्बी हो, किन्तु यह तथ्य ही कि हम अपरिवर्तनशील शक्तियों के अभाव में परिवर्तन को समझने में असमर्थ हैं, हमें विवश कर देता है कि हम समस्त परिवर्तनशील तत्त्वों की पृष्ठभूमि के रूप में एक अपरिवर्तनशील तत्त्व का अस्तित्व स्वयंसिद्ध मान लें। और किसी-को भी यह अधिकार नहीं है कि वह सम्पूर्ण के एक अंश को सही मान ले और दूसरे अंश को मनमाने ढंग से अस्वीकार कर दे। यदि कोई मुद्रा के एक पहलू को स्वीकार करता है, तो उसे उसके दूसरे पहलू को भी स्वीकार करना होगा, चाहे वह कितना ही नापसन्द उसे क्यों न हो।

और फिर अपनी प्रत्येक चेष्टा से मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा करता है। सर्वोच्च विचारक से लेकर घोर अज्ञानी व्यक्ति तक प्रत्येक जानता है कि वह स्वतन्त्र है। थोड़ा सा सोचने पर भी प्रत्येक मनुष्य यह अनुभव करता है कि उसके प्रत्येक कार्य के पीछे प्रेरक प्रयोजन और परिस्थितियाँ भी हैं, और उन्हीं प्रयोजनों और परिस्थितियों में उसके विशिष्ट कार्य की अनुमिति उतनी ही दृढ़ता से की जा सकती है, जितनी दृढ़ता से निमित्त-शृंखला में किसी दूसरे तथ्य की।

यहाँ फिर वही कठिनाई आ पड़ती है। मनुष्य की इच्छा कार्य-कारणवाद से उतनी ही दृढ़ता के साथ आबद्ध है, जिस दृढ़ता से किसी छोटे पौधे का बढ़ना अथवा किसी पत्थर का गिरना, और फिर भी इस समस्त बन्धन के बीच स्वतंत्रता का अविनश्वर विचार विद्यमान है। तो फिर यहाँ भी समष्टि-पक्ष यही घोषणा करेगा कि स्वतंत्रता का विचार भ्रम है और मनुष्य सर्वथा अनिवार्यता का दास है।

अब एक ओर तो, स्वतन्त्रता को भ्रम घोषित कर उसकी सत्ता की अस्वीकृति ोई समाधान नहीं है; दूसरी ओर, हम यह क्यों न कहें कि आवश्यकता अथवा बन्धन अथवा कारणता का विचार अज्ञानियों का एक भ्रम मात्र है। कोई भी सिद्धान्त जो विवेच्च तथ्यों में से उन सबको पहले काटकर अलग फेंक देता है, जो उसके अनुकूल नहीं पड़ते और तव अपने अनुकूल तथ्यों को लेकर समग्र की व्याख्या का दावा करता है, स्पष्टतः एक भ्रामक सिद्धान्त है—अशुद्ध सिद्धान्त है। अतः हमारे लिए एकमात्र शेष मार्ग यही है कि हम स्वीकार करें कि प्रथमतः न शरीर स्वतन्त्र है और न इच्छा ही, बल्कि मन और शरीर दोनों से परे निश्चय ही कोई ऐसा तत्त्व होगा जो स्वतन्त्र है और...

आर्य और तमिल

सचमुच एक विचित्र जातियों का अजायबघर! हाल ही में प्राप्त हुए सुमात्रा शृंखला के अर्द्ध-वानर (half-ape) का कंकाल खोजने पर यहाँ भी कहीं मिल जायगा। डोलमेनों की कमी नहीं है। पत्थर के औज़ार कहीं से भी खोद-कर निकाले जा सकते हैं। किसी समय झीलवासी—कम से कम सरितावासी लोगों की बहुतायत रही होगी। गुहावासी और पत्तियाँ पहननेवाले तो अब भी मिलते हैं। जंगलों में रहनेवाले आदिम आखेटक तो देश के विभिन्न भागों में आज भी दिखायी देते हैं। फिर और अधिक ऐतिहासिक विभेद हैं: हब्शी-कोलारी, द्रविड़ और आर्य। और समय समय पर इनमें समा गये हैं लगभग सभी ज्ञात और अनेक अब तक अज्ञात जातियों के धाव—विविध मंगोल वर्ग, मंगोल, तातार और भाषाविज्ञानियों के तथाकथित आर्य लोग। और फिर यहाँ हैं फ़ारसी, यूनानी, यूँची, हूण, चिन, सीदियन और अन्य अनेक जो घुल-मिलकर एक हो गये—यहूदी, पारसी, अरब, मंगोल आदि से लेकर समुद्री डाकुओं और जर्मनी के जंगलों के सरदारों के वंशज तक, जो अभी तक आत्मसात नहीं किये जा सके—मानवता का महासागर, इन जातीय ऊर्मियों से निर्मित जो उद्वेलित, उत्तेजित, उबलती हुई सतत परिवर्तित रूप में संघर्षरत धरातल तक उठती, फैलती और छोटी लहरों को उदरस्थ करती हुई फिर शान्त हो जाती हैं—यह है भारत का इतिहास!

प्रकृति के इस पागलपन के बीच प्रतिस्पर्द्धी पक्षों में से एक ने एक व्यवस्था खोज निकाली, और अपनी उच्चतर संस्कृति के बल से, भारतीय मानव-समाज के अधिकांश को अपने प्रभुत्व में ले आने में समर्थ हुआ।

इस उच्चतर जाति ने अपने को आर्य जाति कहा और उसकी व्यवस्था थी वर्णाश्रमाचार—तथाकथित जाति-व्यवस्था।

निस्सन्देह आर्य जाति के लोगों ने अपने लिए, जान-बूझकर या अनजाने ही, काफ़ी विशेषाधिकार सुरक्षित रखे; फिर भी जाति-व्यवस्था सर्वदा बड़ी लचीली रही है, कभी कभी तो इतनी लचीली कि सांस्कृतिक दृष्टि से अति निम्न स्तरीय लोगों के स्वस्थ अभ्युदय की उसमें सम्भावना ही नहीं रही।

कम से कम सैद्धान्तिक दृष्टि से जाति-व्यवस्था ने समूचे भारत को सम्पत्ति के और तलवार के प्रभुत्व में न ले जाकर बुद्धि के—आध्यात्मिकता द्वारा परिशुद्ध और नियंत्रित बुद्धि के—निर्देशन में रखा। भारत की प्रमुख जाति आर्यों की सर्वोच्च जाति—ब्राह्मण है।

बाह्य रूप में अन्य देशों की सामाजिक व्यवस्थाओं से भिन्न होते हुए भी, आर्यों की जाति-व्यवस्था सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर दो बातों के अतिरिक्त अन्य बातों में अधिक भिन्न नहीं है :

पहला भेद यह है : अन्य प्रत्येक देश में सर्वोच्च सम्मान क्षत्रिय को—जिसके हाथ में तलवार है, दिया गया है। रोम के पोप अपना वंशोद्भव राइन नदी के तट पर के किसी डाकू सरदार से सिद्ध करके प्रसन्न होंगे। भारत में सर्वोच्च प्रतिष्ठा शान्ति के उपासक को—श्रमण, ब्राह्मण, भगवत्पुरुष को—दी गयी है। भारत का महानतम सम्राट् भी यह सिद्ध करके प्रसन्न होगा कि उसका वंशोद्भव किसी पुरातन ऋषि से हुआ था, जो वनवासी, सम्भवतः विरागी था, जिसके पास कुछ भी न था, जो अपनी दैनिक आवश्यकताओं के लिए ग्रामवासियों पर निर्भर रहता था और जो आजीवन इस लौकिक जीवन और मृत्यु के उपरान्त पारलौकिक जीवन की समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करता रहा।

दूसरी बात है इकाई का विभेद। अन्य प्रत्येक देश का जाति-विधान एक व्यक्ति को—स्त्री हो या पुरुष—पर्याप्त इकाई मानता है। सम्पत्ति, शक्ति, बुद्धि अथवा सौन्दर्य किसी भी व्यक्ति के लिए अपने जन्म का जातीय स्तर त्याग कर कहीं भी ऊपर उठ जाने के लिए पर्याप्त साधन होते हैं।

यहाँ भारत में इकाई एक जातीय समुदाय के सभी सदस्यों को लेकर बनती है। यहाँ भी व्यक्ति को इस बात का पूरा अवसर है कि एक निम्न जाति से उठकर उच्च या उच्चतम जाति तक पहुँच जाय : केवल एक शर्त है, परमार्थवाद के जन्मदाता इस देश में, व्यक्ति को विवश किया गया है कि वह अपनी समची जाति को अपने साथ ऊपर उठाये।

भारत में अपनी सम्पत्ति, शक्ति अथवा अन्य किसी गुण के बल पर अपने जातीय बन्धुओं को पीछे छोड़कर अपने से उच्चतर लोगों के साथ तुम भाईचारा स्थापित नहीं कर सकते; जिन्होंने तुमको गुण या विशेषता के अर्जन में सहायता दी, उन्हें उसके सुफल से वंचित करके बदले में तुम केवल घृणा नहीं दे सकते। भारत में यदि तुम अपने से उच्चतर जाति के स्तर पर उठना चाहते हो, तो पहले तुमको अपनी समूची जाति को उठाना होगा, और तब तुम्हारी उन्नति के मार्ग में बाधा डालनेवाली, तुमको पीछे रोक रखनेवाली कोई बात नहीं रह जाती।

जातियों के सम्मिलन या सम्मिश्रण की यही भारतीय पद्धति है और अनादि काल से यह चली आ रही है; भारत में, किसी भी अन्य देश की अपेक्षा 'आर्य' और 'द्रविड़' जैसे शब्दों का केवल भाषाशास्त्रीय महत्त्व ही है, और तथाकथित कपालास्थिमूलक विभेद करने का तो कोई समुचित आधार ही नहीं मानता।

ठीक यही स्थिति 'ब्राह्मण' और 'क्षत्रिय' जैसे नामों की है। ये सभी नाम किसी एक समुदाय विशेष के सामाजिक पद का ही बोध कराते हैं, जो स्वतः सर्वोच्च पद पर पहुँच जाने पर भी, निरन्तर अस्थिर रहता है और निम्न समुदायों अथवा विदेशी लोगों को अपने में स्वीकार करने के लिए विवश होने पर निरन्तर विवाह-बन्धन आदि के विषय में निषेध द्वारा अपनी पृथक् विशिष्टता को स्थिर बनाये रखने का प्रयत्न करता रहता है।

'जिस किसी जाति में शस्त्र-बल आता है, वह क्षत्रिय हो जाती है; जिस किसी जाति में ज्ञान-बल आता है, वह ब्राह्मण हो जाती है; और जिस किसी जाति में धन-बल आता है, वह वैश्य हो जाती है।

जो भी समुदाय अपने वांछित लक्ष्य तक पहुँच जाता है, वह निश्चय ही अपने को नवागंतुकों से पृथक रखने का प्रयत्न करता है। इसके लिए वह अपने वर्ण में ही उपवर्णों की सृष्टि करता है। पर तथ्य यह है कि अन्ततः वे सब घुल-मिलकर एक हो जाते हैं। यह प्रक्रिया समूचे भारत में हमारी आँखों के सामने ही हो रही है।

स्वाभाविक है कि एक समुदाय अपनी उन्नति कर लेने पर अपने विशेषाधिकारों को अपने ही तक सीमित-सुरक्षित रखने का प्रयत्न करता है। अतः जब कभी किसी राजा की सहायता मिल सकना सम्भव हो सका, तभी उच्च वर्णों, विशेषकर ब्राह्मणों ने निम्न वर्णों की उच्चाकांक्षाओं को शस्त्र-बल से भी—यदि वैसा करना व्यावहारिक था—दबा देने का प्रयत्न किया। पर प्रश्न तो यह है कि क्या उन्हें सफलता मिली? अपने पुराणों और उपपुराणों का सूक्ष्म अवलोकन करो, विशेषकर बृहत्पुराणों के स्थानीय खण्डों का अध्ययन करो और जो कुछ तुम्हारे चतुर्दिक हो रहा है उस पर दृष्टिपात करो, तो तुमको इस प्रश्न का उत्तर मिल जायगा।

विविध जातियों के होते हुए भी और विवाह-सम्बन्ध के एक ही जाति की उपजातियों में सीमित रखने की आधुनिक प्रथा के होते हुए भी (यद्यपि यह प्रथा सार्वभौम नहीं है), हम हिन्दू लोग सभी सम्भव अर्थों में एक संकर जाति हैं।

'आर्य' और 'तमिल' शब्दों का जो कुछ भी भाषाशास्त्रीय महत्त्व हो, हम

यह स्वीकार भी कर लें कि भारतीय मानव-समाज के ये दो महान् उपभेद पश्चिमी सीमान्त के परे कहीं से आये थे, फिर भी तथ्य यह है कि इन दोनों के बीच की विभाजक रेखा प्राचीनतम काल से भाषा ही रही है, रक्त नहीं। वेदों में वर्णित दस्युओं की शारीरिक कुरूपता का चित्र खींचनेवाली जुगुप्सापूर्ण उपमाओं में से एक भी उपमा महान् तमिल जाति पर लागू नहीं होती। सचमुच यदि आर्यों और तमिल लोगों के बीच मुखश्री की प्रतियोगिता हो, तो कोई भी समझदार व्यक्ति परिणाम की भविष्यवाणी करने का साहस नहीं कर पायेगा।

भारत में किसी भी जाति की बलात् अधिकृत जन्मजात श्रेष्ठता कोरी कपोल कथा मात्र है; और हमें दुःख के साथ कहना पड़ता है कि भारत के अन्य किसी भाग में इस कपोल-कल्पना को प्रसार के लिए उतनी उर्वर भूमि नहीं मिली, जितनी भाषामूलक विभेदों के कारण, दक्षिण भारत में उसे मिली।

दक्षिण भारत के इस सामाजिक अत्याचार के विवरण में हम जान-बूझकर नहीं पड़ना चाहते, ठीक वैसे ही जैसे ब्राह्मणों तथा अन्य आधुनिक जातियों की उत्पत्ति के विवेचन में हम नहीं गये। हमारे लिए मद्रास प्रेसीडेन्सी के ब्राह्मणों एवं अब्राह्मणों के मध्य भावनाओं के अतिशय तनाव की स्थिति की ओर ध्यान देना ही पर्याप्त है।

हमारा विश्वास है कि भारतीय वर्ण-व्यवस्था भगवान् द्वारा मनुष्य को दी गयी सर्वोत्कृष्ट सामाजिक व्यवस्थाओं में से एक है। हमारा यह भी विश्वास है कि, यद्यपि अनिवार्य त्रुटियों ने, विदेशी बाधाओं और उपद्रवों ने, तथा सर्वाधिक रूप में, जो ब्राह्मण की उपाधि के योग्य भी नहीं हैं, ऐसे अनेक ब्राह्मणों के अतिशय अज्ञान और मिथ्याभिमान ने अनेक प्रकार से इस परम गौरवमयी भारतीय व्यवस्था को समुचित रूप से सफल होने में बाधा पहुँचायी है और उसे कुण्ठित कर दिया है, फिर भी इस व्यवस्था ने भारत का अद्भुत कल्याण किया है और निश्चय ही भारतीय मानव-समाज को अपने लक्ष्य तक पथ-प्रदर्शन करने का श्रेय इसी व्यवस्था के भाग्य में है।

हम दक्षिणापथ के ब्राह्मणों से प्रार्थना करते हैं कि वे भारत के आदर्श को—मूर्तिमान पवित्रता जैसे पवित्र और स्वयं भगवान् जैसे मंगलमय ब्राह्मणों के संसार निर्मित करने के आदर्श को—भुला न दें। महाभारत बताता है कि आदि ऐसा ही था और अन्त भी ऐसा ही होगा।

तो फिर जो अपने को ब्राह्मण कहलाने का दावा करता है, उसे अपना दावा प्रथमतः ब्राह्मण की आध्यात्मिकता का प्रकाश करके और दूसरे अन्य लोगों को अपने स्तर तक उठा करके सिद्ध करना चाहिए। प्रत्यक्ष तथ्य तो ऐसा लगता

है कि ब्राह्मणों में से अधिकांश केवल अपने जन्म या वंश के मिथ्याभिमान में फूले घूमते हैं; और कोई भी देशी या विदेशी छद्माचारी, जो उनके इस मिथ्याभिमान और जन्मजात आलस्य को भरपूर मिथ्या-प्रशस्ति से बढ़ावा देता है, वही उन्हें सर्वाधिक तुष्टि देता प्रतीत होता है।

ब्राह्मणो, सावधान!! यह मृत्यु का लक्षण है। उठो, और अपना पौरुष प्रकट करो। अपना ब्राह्मणत्व दीप्त करो, अपने आसपास के अब्राह्मणों को ऊपर उठाकर—प्रभु-भाव से नहीं, अन्धविश्वासों और पूर्व-पश्चिम के प्रपंचों के सहारे पनपनेवाले विकृत घातक अहंभाव से नहीं,— बल्कि सेवक की भावना के साथ दूसरों को ऊपर उठाकर ! क्योंकि सचमुच जो सेवा करना जानता है, वही शासन करना जानता है!

ब्राह्मणेतर समुदाय भी वर्ण-विद्वेष की आग भड़काने में अपनी शक्ति का अपव्यय करते रहे हैं, जो इस समस्या के हल के लिए व्यर्थ और निरर्थक है। और प्रत्येक अहिन्दू को इस आग में ईंधन डालते हुए अत्यधिक हर्ष होता है।

इन अन्तर्वर्ण-विद्वेषों, इन अन्तर्जातीय-संघर्षों से तो एक पग भी प्रगति नहीं की जा सकती, एक भी कठिनाई दूर नहीं की जा सकती; केवल इतना हो सकता है कि यदि यह आग भड़के और लपटें उठने लगें, तो घटना-चक्र की कल्याणप्रद प्रगति भी ठप्प हो जाय, शायद सदियों के लिए!!

यह तो बौद्धों की राजनीतिक महाभूलों की पुनरावृत्ति ही होगी।

इस अज्ञानजन्य कोलाहल और घृणा के वातावरण में पण्डित डी० सवरिरॉयन को एकमात्र उपयुक्त, युक्तिसंगत और विवेकपूर्ण मार्ग का अनुसरण करते देखकर हमें बड़ा हर्ष होता है। मूर्खतापूर्ण निरर्थक झगड़ों में अपनी अमूल्य शक्ति का अपव्यय करने के बजाय पण्डित सवरिरॉयन ने 'सिद्धान्त-दीपिका' में 'आर्य और तमिल लोगों का सम्मिश्रण' शीर्षक अपने लेखों में, अति साहसिक पाश्चात्य भाषाशास्त्र द्वारा उत्पन्न किये गये व्यापक भ्रम को दूर करने का ही प्रयत्न नहीं किया, वरन् दक्षिण भारत की जाति अथवा वर्णमूलक समस्या के स्वस्थ ज्ञान का मार्ग भी प्रशस्त किया है।

भीख माँगने से कभी किसीको कुछ नहीं मिला। मिलता हमें वही है, जिसके हम पात्र होते हैं। योग्यता की पहली सीढ़ी है अभिलाषा; और हम सफल अभिलाषा उसी पदार्थ की करते हैं, जिसके योग्य हम अपने आपको अनुभव करते हैं।

अतः तथाकथित आर्य-सिद्धान्त और उसकी घातक स्वयंसिद्धियों द्वारा बुने मकड़ी के जालों का मृदु पर स्पष्ट उन्मूलन नितान्त आवश्यक है,—दक्षिण

भारत के लिए तो विशेष रूप से। और उतनी ही आवश्यक है उचित आत्म-सम्मान की भावना, जो आर्य जाति के महान् पूर्वजों में से एक तमिल लोगों के अतीत गौरव से उत्पन्न हुई हो।

पाश्चात्य सिद्धान्तों के बावजूद भी हम 'आर्य' शब्द की उस परिभाषा को ही स्वीकार करते हैं, जो हमारे धर्मग्रन्थों में दी हुई है और जिसके अनुसार वही लोग आर्य हैं, जो आजकल हिन्दू कहलाते हैं। यह आर्य जाति, जो स्वयं संस्कृत-भाषी और तमिल-भाषी दो महान् जातियों का सम्मिश्रण है, समस्त हिन्दुओं को समान रूप से अपने वृत्त में ले लेती है। इस बात का कोई अर्थ नहीं—कोई महत्त्व नहीं कि कुछ स्मृतियों में शूद्रों को इस उपाधि से वंचित रखा गया है, क्योंकि शूद्र उस समय सम्भाव्य आर्य थे और आज भी प्रारम्भिक दीक्षावस्था में आर्य हैं।

यद्यपि हम यह जानते हैं कि पण्डित सवरिरॉयन की प्रस्थापनाएँ अपेक्षाकृत दुर्बल भित्ति पर हैं, यद्यपि वैदिक नामों और जातियों की जो व्याख्याएँ उन्होंने व्यापक रूप से दी हैं, उनसे हम असहमत हैं, फिर भी हमें प्रसन्नता है कि उन्होंने —यदि हम संस्कृत-भाषी जाति को भारतीय सभ्यता का जनक मानें तो—उस जाति की संस्कृति के सम्बन्ध में उपयुक्त अनुसन्धान प्रारम्भ करने का कार्य हाथ में लिया है, जो महान् भारतीय सभ्यता की जननी है।

हमें इस बात की प्रसन्नता है कि वह साहसपूर्वक प्राचीन तमिल लोगों की अक्कादो-सुमेरीय जातीय एकता का सिद्धान्त आगे बढ़ा रहे हैं। और इससे हमें उस महान् सभ्यता के रक्त पर गर्व होता है, जो अन्य सभी सभ्यताओं से पहले फली-फूली—जिसकी प्राचीनता की तुलना में आर्य और सेमेटिक सभी बच्चे मालूम होते हैं।

हम तो यह भी कहना चाहेंगे कि मलाबार मिस्रवासियों का 'पन्ट' देश ही नहीं था, बल्कि एक जाति के रूप में समस्त मिस्रवासी वस्तुतः मलाबार से ही सागर पार करके नील नदी के मुहाने में प्रविष्ट हुए और नील नदी के मार्ग का अनुसरण करते हुए उत्तर से दक्षिण फैले; और इसी 'पन्ट' देश को वे लोग पुण्यात्माओं के लोक के रूप में लालसापूर्वक सर्वदा स्मरण करते रहे हैं।

यह सही दिशा में उठाया गया क़दम है। तमिल बोलियों और संस्कृत साहित्य, दर्शन और धर्म में उपलब्ध तमिल तत्त्वों के अधिक सुष्ठु अध्ययन से निश्चय ही अधिक विवरणात्मक और अधिक सतर्क कार्य भविष्य में सम्पन्न होगा। और जो लोग तमिल मुहावरों को मातृभाषा के रूप में सीखते हैं, उनसे अधिक समर्थ इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए और कौन है?

और जहाँ तक हम वेदान्तियों और संन्यासियों की बात हैं, हमें वेदों के अपने संस्कृत-भाषी पूर्वजों पर गर्व है; हमें अपने तमिल-भाषी पूर्वजों पर अभिमान है, जिनकी सभ्यता ज्ञात सभ्यताओं में सबसे प्राचीन है; हमें अपने कोलारी पूर्वजों पर गर्व है, जो इन दोनों से ही प्राचीन थे—जो जंगलों में रहते थे और आखेट करते थे; हमें अपने उन पूर्वजों पर अभिमान है, जो पत्थर के आयुध प्रयोग में लाते थे—मानव जाति के वे प्रथम पुरुष; और यदि विकासवाद का सिद्धान्त सत्य है, तो हमें अपने अन्य जीवधारी पूर्वजों पर अभिमान है, क्योंकि वे स्वयं मनुष्य से ही पूर्ववर्ती हैं। हमें गर्व है कि हम समस्त चेतन या अचेतन विश्व के उत्तराधिकारी वंशज हैं। हमें गर्व है कि हम जन्म लेते हैं, कर्म करते हैं और यातनाएँ झेलते हैं; हमें और भी अधिक गर्व है कि अपना कार्य समाप्त हो जाने पर हम मृत्यु को प्राप्त होते हैं और सदा सर्वदा के लिए उस लोक में प्रवेश करते हैं, जिसमें फिर और कोई मायाजाल नहीं है।

सामाजिक सम्मेलन भाषण

'ईश्वर ने देशी लोगों को उत्पन्न किया, ईश्वर ने यूरोपीय लोगों को उत्पन्न किया, किन्तु वर्णसंकर लोगों को किसी अन्य व्यक्ति ने उत्पन्न किया',—एक भयंकर पाखण्डी अंग्रेज़ को ऐसा कहते हमने सुना था।

हमारे सम्मुख न्यायाधीश रानाडे का उद्घाटन भाषण है, जिसमें भारतीय 'समाज-सम्मेलन' की सुधारवादी उत्कण्ठा व्यक्त की गयी है। इस भाषण में प्राचीन काल के अन्तर्जातीय विवाहों के उदाहरणों की एक लम्वी तालिका है, प्राचीन क्षत्रियों की उदार भावना की पर्याप्त चर्चा है, विद्यार्थियों के लिए कल्याणकारी गंभीर परामर्श है; और यह सब सत्यनिष्ठ सद्भावना के साथ, भाषा की इतनी शिष्टता के साथ व्यक्त किया गया है, जो सचमुच स्तुत्य है।

फिर भी भाष्ण का अन्तिम भाग, जिसमें पंजाव में प्रवल नवीन आन्दोलन के प्रचार के लिए, जिसे हम निश्चय ही आर्य समाज मानते हैं, जिसकी स्थापना एक संन्यासी ने की है, उपदेशकों के एक दल की स्थापना का सुझाव दिया गया है, हमें आश्चर्य में डाल देता है और हम अपने से यह प्रश्न पूछते रह जाते हैं। ऐसा लगता है कि भगवान् ने ब्राह्मणों को उत्पन्न किया, भगवान् ने क्षत्रियों को उत्पन्न किया, किन्तु संन्यासियों को किसने उत्पन्न किया?

प्रत्येक ज्ञात धर्म में संन्यासी होते रहे हैं और हैं। हिन्दू संन्यासी हैं, बौद्ध संन्यासी हैं, ईसाई पादरी हैं और इस्लाम को भी अपनी इस प्रथा की कठोर अस्वीकृति छोड़नी पड़ी और भिक्षु, फ़क़ीरों या संन्यासियों की एक सम्पूर्ण शृंखला स्वीकार करनी पड़ी।

सम्पूर्ण मुंडित, आंशिक मुंडित, दीर्घकेशी, अल्पकेशी, जटाधारी और विविध अन्य रुक्ष बालोंवाले संन्यासियों की कोटियाँ हैं।

दिगम्बर हैं, चीथड़े लपेटनेवाले हैं, गेरुआधारी हैं, पीताम्बरधारी हैं, काले वस्त्रधारी ईसाई हैं और नीलाम्वरधारी मुसलमान हैं। फिर कुछ ऐसे हुए हैं, जिन्होंने अपने शरीर को विविध यातनाएँ दी हैं और कुछ ऐसे हुए हैं, जो अपने शरीर को सुखी और स्वस्थ ही रखने में विश्वास करते थे। प्राचीन काल में प्रत्येक देश में सैनिक वृत्ति के संन्यासी भी होते थे। यही भावना ऐसी ही अभिव्यक्तियों में समानान्तर रूप से स्त्रियों में—संन्यासिनियों में भी पायी गयी है।

श्री रानाडे महोदय न केवल भारतीय समाज-सम्मेलन के अध्यक्ष हैं, बल्कि एक शूर-वीर सज्जन भी हैं : श्रुतियों और स्मृतियों की तपस्विनियाँ उनको पूर्ण सन्तोष प्रदान करती प्रतीत होती हैं। प्राचीन कुमारी ब्रह्मवादिनियाँ, जो एक से दूसरे राजदरबार में दार्शनिकों को चुनौती देती घूमती थीं, श्री रानाडे को विधाता की केन्द्रीय योजना—जाति के संवर्धन को बाधित करती नहीं मालूम होतीं; मानव-अनुभूति की विविधता और पूर्णता का भी इन तापस बालाओं में, श्री रानाडे की राय में, कोई अभाव नहीं दिखायी देता, जैसा कि उसी मार्ग पर चलनेवाले पुरुष वर्ग में उन्हें दिखायी देता है।

अतः हम प्राचीन तपस्विनियों और उनकी वर्तमान आध्यात्मिक उत्तराधिकारिनियों को परीक्षा में उत्तीर्ण हुई मानकर छोड़ देते हैं।

मुख्य अपराधी—केवल पुरुष को ही श्री रानाडे की आलोचना की सारी चोट बरदाश्त करनी पड़ती है। आओ, देखें, वह इस चोट से उबर पाता है या नहीं!

विद्वन्मण्डली की कुछ ऐसी सम्मति जान पड़ती है कि मठों या आश्रमों की यह विश्वव्यापी व्यवस्था सर्वप्रथम हमारे इस अद्‌भुत देश में ही प्रचलित हुई थी, जिसमें 'सामाजिक सुधार' की इतनी अधिक आवश्यकता जान पड़ती है।

विवाहित और ब्रह्मचारी गुरु दोनों ही उतने ही प्राचीन हैं, जितने वेद। इस समय यह निश्चित करना कठिन है कि पहले सब प्रकार के अनुभव से युक्त सोमपायी विवाहित ऋषि का आविर्भाव हुआ था अथवा मानव-अनुभव से शून्य ब्रह्मचारी ऋषि ही इस परम्परा का आदिम रूप था। सम्भवतः श्री रानाडे ही, तथाकथित पाश्चात्य संस्कृत-विद्वानों की सुनी-सुनायी बातों से मुक्त स्वतंत्र रूप में इस समस्या का हल हमें सुझायेंगे; तब तक तो यह हमारे लिए मुरग़ी और मुरग़ी के अण्डेवाली पुरानी पहेली ही बनी रहेगी।

पर उत्पत्ति-क्रम कुछ भी हो, श्रुतियों और स्मृतियों के ब्रह्मचारी गुरु विवाहित गुरुओं से सर्वथा पृथक् धरातल पर थे और यह पार्थक्य था पूर्ण पवित्रता का, ब्रह्मचर्य का!

यदि वेदों के कर्मकाण्ड का मूलाधार यज्ञ है, तो उनके ज्ञानकाण्ड की आधारशिला ब्रह्मचर्य है।

रक्त बहाकर यज्ञ करानेवाले, उपनिषदों के व्याख्याता क्यों नहीं हो सके—आख़िर क्यों?

एक ओर तो विवाहित ऋषि था—अपने अर्थहीन, झक्की—नहीं, भयानक अनुष्ठानों से युक्त—और जिसके सम्बन्ध में और अधिक न कहकर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि नैतिकता की उसे एक धूमिल धारणा भर थी। और

दूसरी ओर थे ब्रह्मचारी संन्यासी, जो मानव-अनुभव की कमी के बावजूद आध्यात्मिकता और नैतिकता के उन स्रोतों को खोज रहे थे, जिनसे संन्यासी जिनों और बुद्धों से लेकर शंकर, रामानुज, कबीर और चैतन्य तक ने छककर पान किया और अपने आश्चर्यजनक आध्यात्मिक और सामाजिक सुधारों के प्रचार की शक्ति प्राप्त की; और जो आज हमारे समाज-सुधारकों को पश्चिम से तीसरी-चौथी किश्त की जूठन के रूप में मिलने पर भी इतनी शक्ति दे रहे हैं कि वे संन्यासियों की भी आलोचना करते हैं!

सम्प्रति हमारे समाज-सुधारकों को मिलनेवाले वेतन और विशेषाधिकार की तुलना में भारत में हमारे संन्यासियों को कितनी सहायता, कितना वेतन मिलता है? और संन्यासियों के नीरव निःस्वार्थ प्रेममय सेवा-कार्य की तुलना में हमारा समाज-सुधारक क्या काम करता है?

पर संन्यासियों ने आत्म-विज्ञापन का आधुनिक ढंग नहीं सीखा!!

हिन्दू अपनी माँ के दूध के साथ ही यह धारणा ग्रहण कर लेता है कि यह जीवन कुछ नहीं है—एक स्वप्न है! इस बात में वह पाश्चात्य लोगों के समान है; पर पाश्चात्य लोग इस जीवन के परे नहीं देखते और उनका निष्कर्ष चार्वाक का निष्कर्ष है—बहती गंगा में हाथ धो लेना। 'यह संसार तो एक दुःख-सागर है, तो फिर सुख के जो भी अंश उपलब्ध हों, उनका भरपूर उपभोग कर लिया जाय।' इसके विपरीत हिन्दू की दृष्टि में ईश्वर और आत्मा ही केवल सत्य हैं, इस संसार से अनन्त गुना अधिक सत्य; और इसलिए वह सर्वदा इस संसार को उनकी प्राप्ति के लिए त्यागने को तैयार रहता है।

जब तक जातीय मनश्चेतना की यह प्रवृत्ति बनी रहती है, यह दृष्टिकोण रहता है—और हम प्रार्थना करते हैं कि यह सर्वदा बना रहे—तब तक भारतीय पुरुषों और स्त्रियों की 'विश्व-कल्याण और आत्ममुक्ति के लिए' सब कुछ त्याग देने की सहज प्रवृत्ति को रोकने की कितनी आशा हमारे ये आंग्लीकृत देश-बन्धु कर सकते हैं?

और संन्यासी के विरुद्ध उस मुरदा तर्क की सड़ी हुई लाश, जिसे पहले-पहल यूरोप के प्रोटेस्टेन्टों ने प्रयुक्त किया, जिसे बंगाली सुधारकों ने उधार लिया और अब बम्बई के बन्धु जिसे गले लगा रहे हैं कि संन्यासी अपने ब्रह्मचर्य के कारण जीवन की 'परिपूर्ण और सर्वांगीण अनुभूति' से वंचित रहता ही है!—हम आशा करते हैं कि इस बार यह लाश सदा सर्वदा के लिए, विशेषकर इन प्लेग के दिनों में, यहाँ की ब्राह्मण जाति में अपने तीव्र गन्धवाले पूर्वजों के प्रति जो पितृप्रेम कल्पित किया जा सकता है,—यदि पौराणिक गाथाओं का कोई

मूल्य पूर्वजों की खोज में है तो—उसके बावजूद भी, अरब सागर में बहा दी जायगी!

लगे हाथ यह भी देख लें कि यूरोप में इन संन्यासी और संन्यासिनियों ने ही अधिकांश ऐसे बच्चों का पालन-पोषण और शिक्षण किया है, जिनके माता-पिता, विवाहित होते हुए भी, 'जीवन के सर्वांगीण अनुभव' का स्वाद लेने के सर्वथा अनिच्छुक थे।

दूसरा तर्क बेशक यह है कि परमात्मा ने हमें सभी इन्द्रियाँ किसी न किसी उपयोग के लिए ही दी हैं। अतः संन्यासी जाति की वृद्धि न करके भूल करता है—पापी है! ठीक है; पर इसी प्रकार हमें क्रोध, काम, निर्दयता, चोरी, लूट, और प्रतारणा आदि की मनःशक्तियाँ भी तो दी गयी हैं; और इनमें से प्रत्येक, सुधरे हुए या विना सुधरे हुए, सामाजिक जीवन के स्थायित्व के लिए परम अनिवार्य है। इनके वारे में क्या किया जाय? 'जीवन के सर्वांगीण अनुभव' वाले सिद्धान्त का अनुगमन करते हुए, इन्हें भी पूर्ण प्रवेग से प्रचलित रहने देना चाहिए या नहीं? निश्चय ही सर्वशक्तिमान परमात्मा के घनिष्ठ परिचित और उसके उद्देश्य के जानकार समाज-सुधारक इस प्रश्न का उत्तर सकारात्मक ही देंगे! क्या हमें विश्वामित्र, अत्रि तथा दूसरों की क्रूरता का, और विशेषकर वशिष्ठ-परिवार के नारी-जाति सम्बन्धी 'परिपूर्ण व्यापक अनुभव' का, अनुगमन करना होगा? क्योंकि विवाहित ऋषियों में से अधिकांश जब कभी और जहाँ कहीं सम्भव हुआ, तब तहाँ बच्चे उत्पन्न करने में उतने ही ख्यातनामा थे, जितने प्रसिद्ध वे ऋचा-गान और सोमपान के लिए थे। अथवा हमें ब्रह्मचारी ऋषियों का अनुगमन करना चाहिए, जो ब्रह्मचर्य को आध्यात्मिकता की अनिवार्य आवश्यकता मानते थे?

फिर प्रायः कुछ पथभ्रष्ट विरागी संन्यासी भी होते हैं, जिनकी पर्याप्त निन्दा होनी ही चाहिए—दुर्बल, दुराचारी, जो अपने संन्यास के आदर्श से च्युत हो जाते हैं।

पर यदि आदर्श सरल और स्वस्थ है, तो, 'गिरते हैं शहसवार ही मैदाने जंग में' वाली कहावत के अनुसार, पथ-भ्रष्ट संन्यासी देश के किसी भी गृहस्थ से कहीं अधिक उच्चतर भूमि पर है।

उस कायर की तुलना में, जिसने कभी प्रयत्न ही नहीं किया, वह शूरवीर है।

यदि हमारे समाज-सुधार केन्द्रों की आन्तरिक कार्य-पद्धति पर सूक्ष्म निरीक्षण की दृष्टि डाली जाय, तो संन्यासियों और गृहस्थों के बीच पथ-भ्रष्ट लोगों का प्रतिशत देवदूत ही निकाल पायेंगे; और लेखा रखनेवाला देवदूत हमारे हृदय में ही है।

किन्तु तब इस एकान्त महत्त्व की, समस्त सहायता का तिरस्कार करने की, जीवन की आँधियों का सामना करने और बिना किसी प्रकार के प्रतिफल या कर्तव्य-पूर्ति की भावना के कर्म करने की अद्भुत अनुभूति का क्या होगा?—सारे जीवन आनन्दपूर्वक मुक्त रहकर कर्म करने की अनुभूति; क्योंकि दासों की भाँति मिथ्या मानव-प्रेम अथवा महत्त्वाकांक्षा के अंकुशों से कर्म करने की यह प्रेरणा नहीं है!

इसे तो केवल संन्यासी ही प्राप्त कर सकता है। धर्म का क्या होगा? वह रहेगा या उसे समाप्त होना है? यदि उसे रहना है, तो उसे अपने विशेषज्ञों, अपने सैनिकों की आवश्यकता है। संन्यासी धार्मिक विशेषज्ञ है; क्योंकि उसने धर्म को ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य बना लिया है। वह भगवान् का सैनिक है। कौन सा धर्म तब तक मर सकता है, जब तक उसमें श्रद्धालु संन्यासियों का समुदाय बना रहता है?

प्रोटेस्टेन्ट इंग्लैण्ड और अमेरिका कैथोलिक संन्यासियों की प्रगति से क्यों काँप रहे हैं?

श्री रानाडे और समाज-सुधारको, जिन्दाबाद! पर ओ अभागे भारत! आंग्लीभूत भारत! भोले बच्चे! मंत भूलो कि इस समाज में कुछ ऐसी भी समस्याएँ हैं, जिन्हें अभी न तो तुम समझ सकते हो, न तुम्हारे पाश्चात्य गुरु ही—उन्हें हल करना तो दूर की बात है!

विश्व को भारत का सन्देश

[निम्नलिखित टिप्पणियाँ स्वामी विवेकानन्द के काग़ज़ों में प्राप्त हुई थीं। वे एक ग्रन्थ लिखना चाहते थे और उसके लिए उन्होंने ये बयालीस सूत्र लिख लिये थे, जो उसके सारांश रूप में थे। पर इनमें से केवल कुछ सूत्रों की उन्होंने भूमिका रूप में व्याख्या की थी और शेष क़ार्य अपूर्ण ही रह गया। प्रतिलिपि जैसी प्राप्त हुई, नीचे दी जा रही है।]

विषय-सूची

१. पाश्चात्य लोगों के लिए मेरा सन्देश ओजस्वी रहा है। उससे भी अधिक ओजस्वी अपने देशवासियों के लिए।

२. विस्मयकारी पाश्चात्य देशों में मेरे चार वर्ष के प्रवास ने भारत को और भी अधिक स्पष्ट रूप से समझने में ही सहायता की है। छायाएँ अधिक गहरी और प्रकाश अधिक चटक हो गया है।

३. सर्वेक्षण यह है—यह सत्य नहीं है कि भारतीयों का पतन हो चुका है।

४. समस्या यहाँ भी वही रही है, जो अन्य सभी स्थानों में रही है—विभिन्न जातियों को आत्मसात करना। पर अन्यत्र कहीं भी समस्या इतनी विराट् नहीं रही, जितनी यहाँ।

५. भाषा, शासन और सर्वोपरि धर्म की एकता ही समन्वय की शक्ति रही है।

६. दूसरे देशों में समन्वय बलात् लाने का प्रयत्न किया गया है; अर्थात् किसी एक ही जाति की संस्कृति को शेष अन्य जातियों पर लादकर। उसके फलस्वरूप एक अल्पकालीन शक्तिपूर्ण राष्ट्रीय जीवन की उत्पत्ति हुई; और फिर विघटन हो गया।

७. इसके विपरीत भारत में समस्या जितनी ही विराट् रही, प्रयत्न उतना ही सौजन्यपूर्ण रहा; और अति प्राचीन काल से ही विभिन्न समुदायों के रीति-रिवाज़ों, और विशेषकर धर्मों के प्रति सहिष्णुता बरती गयी।

८. जहाँ समस्या अल्प और एकता स्थापित करने के लिए पर्याप्त शक्ति थी, वहाँ वस्तुतः परिणाम यह हुआ कि प्रमुख जाति को छोड़कर शेष में अन्य

स्वस्थ जातियों का आदान अंकुरित होते ही विनष्ट हो गया। बुद्धियुक्त व्यक्तियों के केवल एक समुदाय ने विशाल बहुसंख्यक समाज का उपयोग अपने हित में किया, और इस प्रकार सम्भाव्य विकास के अधिकांश से वंचित रह गया। और इस प्रकार उस प्रमुख तत्त्व (जाति) के क्षीण हो जाने पर वह अभेद्य प्रतीत होनेवाला दुर्ग ढह कर खँडहर हो गया; उदाहरण हैं, यूनान, रोम और नार्मन लोग।

९. एक जातीय भाषा अत्यन्त वांछनीय है; पर इस पर भी वही आलोचना लागू होती है—विविध विद्यमान भाषाओं की जीवनी शक्ति का विनाश।

१०. केवल एक ही हल सम्भव था—एक ऐसी महान् और पवित्र भाषा को खोजना—शेष सभी भाषाओं को, जिसकी विविध अभिव्यक्तियाँ माना जा सके, —और वह भाषा संस्कृत में उपलब्ध हुई।

११. द्राविड़ भाषाएँ मूलतः संस्कृतपरक रही हों या न रही हों, पर आज समस्त व्यावहारिक दृष्टियों से वह संस्कृतपरक हैं और प्रतिदिन वे, अपनी पृथक् जीवन्त विशिष्टताओं को रखते हुए भी, संस्कृत के आदर्श के समीप ही आ रही हैं।

१२. एक जातीय पृष्ठभूमि भी उपलब्ध हुई—आर्य।

१३. यह अनुमान कि मध्य एशिया से बाल्टिक सागर तक कोई विशिष्ट पृथक् जाति, जिसे आर्य कहा जाता था, रहती थी या नहीं।

१४. तथाकथित प्रकार। जातियाँ सर्वदा मिश्रित रही हैं।

१५. 'गौरी' और 'श्यामा' जातियाँ।

१६. तथाकथित ऐतिहासिक कल्पना को छोड़कर हम सामान्य व्यावहारिक ज्ञान के धरातल पर उतरें। अपने प्राचीनतम अभिलेखों के अनुसार आर्य लोग तुर्किस्तान, पंचनद और उत्तरी-पश्चिमी तिब्बत के मध्यवर्ती भूखण्ड में रहते थे।

१७. इसका परिणाम होता है, विभिन्न स्तर की संस्कृतिवाली जातियों-उपजातियों के सम्मिश्रण-समन्वय का प्रयत्न।

१८. जैसे भाषा सम्बन्धी समस्या का हल बनी संस्कृत, ठीक वैसे ही जाति सम्बन्धी समस्या का हल बनी आर्य जाति। और वैसे ही विभिन्न स्तर की उन्नति और संस्कृति तथा सभी सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं का हल निकला ब्राह्मणत्व!

१९. भारत का महान् आदर्श—ब्राह्मणत्व।

२०. सम्पत्तिहीन, निःस्वार्थ, नैतिक विधान के अतिरिक्त अन्य किसी शासक या क़ानून के अधीन नहीं।

२१. जन्म से ब्राह्मणत्व—विभिन्न जातियों ने अतीत में और वर्तमान काल में भी ब्राह्मणत्व के अधिकार की माँग की है और प्राप्त किया है।

२२. पर महान् कार्यों के संपन्न करनेवाले कभी कोई माँग नहीं करते; माँग तो केवल आलसी निकम्मे मूर्खों द्वारा की जाती है।

२३. ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्व का पतन। पुराणों ने कहा था कि कलियुग में केवल अ-ब्राह्मण ही होंगे; और यह सत्य है, प्रतिदिन अधिकाधिक सत्य होता जा रहा है। फिर भी कुछ ब्राह्मण शेष रहते हैं, और केवल भारत में।

२४. क्षत्रियत्व—ब्राह्मण बनने के लिए यह सोपान पार करना होगा। अतीत में कुछ ने पार कर लिया होगा, पर वर्तमान के लोगों को तो प्रत्यक्ष दिखाना होगा।

२५. पर इस समस्त आयोजना की विवृत्ति तो धर्म में ही मिलेगी।

२६. एक ही जाति के विभिन्न क़बीले एक ही जैसे देवताओं की उपासना करते हैं, जिनका एक सामान्य जाति-नाम होता है, जैसे बेबिलोनवासियों के देवता 'बाल', अथवा हिब्रू लोगों के देवता 'मोलोक'।

२७. बेबिलोनिया में सभी 'बाल' देवों को एक देव 'बाल-मेरोदक्' में विलय करने का प्रयत्न। इस्राइलवालों का सभी 'मोलोक' देवों को एक 'मोलोक यवह' अथवा 'याहु' में विलय करने का प्रयत्न।

२८. बेबिलोनवासियों का विनाश ईरानियों ने किया; और बेबिलोन की पौराणिक परम्परा को अपनाने और उसे अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल ढालनेवाले हिब्रू लोगों को एक कठोर एकेश्वरवादी धर्म की स्थापना करने में सफलता मिली।

२९. निरंकुश राजतंत्र की भाँति एकेश्वरवाद भी आदेश-पालन में तेज़ और केन्द्रीकरण में सहायक शक्ति होता है। पर इससे आगे उसका विकास नहीं होता और उसकी सबसे बड़ी बुराई है, उसकी क्रूरता और अत्याचार। उसके प्रभाव में आनेवाली सभी जातियाँ कुछ वर्षों के ज्वलंत जीवन के बाद बहुत शीघ्र नष्ट हो जाती हैं।

३०. भारत में वही समस्या उठ खड़ी हुई—उसका समाधान मिला—एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।

यही उस सबका मूल स्वर है जो बाद में हुआ—भवन की आधारशिला।

३१. इसका फल है वेदान्तियों की अद्भुत सहिष्णुता।

३२. इसलिए सबसे बड़ी समस्या है इन विविध तत्त्वों का, बिना उनका विशिष्ट व्यक्तित्व नष्ट किये हुए, समन्वय करना—उन्हें एक सूत्र में बाँध देना।

३३. किसी भी ऐसे धर्म में, जो व्यक्तियों पर आधारित है, वे व्यक्ति चाहे इस धरती के हों और चाहे स्वर्ग के, इस कार्य को सम्पादित करने की सामर्थ्य नहीं है।

३४. यही अद्वैत दर्शन की महिमा है, जो एक तत्त्व का उपदेश देता है, व्यक्ति का नहीं; और फिर भी, लौकिक और अलौकिक, दोनों ही प्रकार के व्यक्तियों को कार्य करने का पूर्ण अवसर देता है।

३५. ऐसा निरंतर होता रहा है; और इस अर्थ में हम सर्वदा प्रगतिशील रहे हैं। मुसलमान शासन-काल में पैग़म्बर।

३६. यह प्रगति प्राचीन काल में पूर्णरूपेण सजग और सशक्त रही है; पर कुछ समय से अब उसमें कमी आ गयी है; केवल इसी अर्थ में हमारा पतन हुआ है।

३७. भविष्य में यह होने जा रहा है। यदि शेष समस्त समुदायों के श्रम का उपयोग करनेवाली एक जाति की शक्ति की अभिव्यक्ति कम से कम एक विशेष अवधि में आश्चर्यजनक फल उत्पन्न कर सकती है, तो फिर यहाँ उन समस्त जातियों का संचयन और केन्द्रीकरण होने जा रहा है, जिनके विचारों का और रक्त का सम्मिश्रण मंद गति से, पर अनिवार्य रूप से होता आ रहा है; और मैं अपने मानस-चक्षुओं से उस भावी विराट् पुरुष को धीरे धीरे परिपक्व होता देख रहा हूँ—धरती के समस्त राष्ट्रों में कनिष्ठतम, सर्वाधिक महिमा-मण्डित और ज्येष्ठतम भारत का भविष्य।

३८. इसका मार्ग—हमें कर्मरत होना होगा। सामाजिक रीति-रिवाज़ बाधक हैं; कुछ तो स्मृतियों पर आधारित हैं। पर श्रुतियों पर आधारित कोई नहीं है। स्मृतियां को यथाकाल बदलना ही होगा। यही स्वीकृत विधान है।

३९. वेदान्त के सिद्धान्तों का उपदेश न केवल भारत में सर्वत्र होना चाहिए, बल्कि भारत के बाहर भी। प्रत्येक राष्ट्र की मनश्चेतना में हमारे विचारों का प्रवेश होना चाहिए, लेखों-ग्रन्थों द्वारा नहीं, बल्कि व्यक्तियों द्वारा।

४०. कलियुग में दान ही एकमात्र कर्म है।[1] जब तक कर्म द्वारा शुद्ध न हो, तब तक किसीको ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।

४१. आध्यात्मिक और लौकिक ज्ञान का दान।

४२. राष्ट्र की पुकार—त्याग, त्यागी पुरुष।

---

१. दानमेकं कलौ युगे। महाभारत।

भूमिका

मेरे प्रिय देशवासियो, पाश्चात्य लोगों के लिए मेरा सन्देश ओजस्वी रहा है; तुम्हारे लिए मेरा सन्देश उससे भी अधिक ओजस्वी है। मैंने यथाशक्ति प्रयत्न किया है कि नवीन पश्चिमी राष्ट्रों के लिए पुरातन भारत का सन्देश मुखरित करूँ—भविष्य निश्चित रूप से बतायेगा कि मैंने यह कार्य सम्यक् रूप से सम्पन्न किया या नहीं; पर उस अनागत भविष्य के सशक्त-सबल स्वरों का कोमल पर स्पष्ट मर्मर अभी से सुनायी देने लगा है—भावी भारत का सन्देश वर्तमान भारत के लिए; और जैसे जैसे दिन बीतते हैं, यह मर्मर ध्वनि सबलतर-स्पष्टतर होती जाती है।

जिन विविध जातियों के देखने-समझने का सौभाग्य मुझे मिला, उनके बीच मैंने अनेक आश्चर्यजनक संस्थाओं, प्रथाओं, रीति-रिवाज़ों और शक्ति तथा बल की अद्भुत अभिव्यक्तियों का अध्ययन किया है; पर इन सबमें सर्वाधिक विस्मयकारी यह उपलब्धि थी कि रहन-सहन, प्रथाओं, संस्कृति और शक्ति की इन बाह्य विभिन्नताओं—इन ऊपरी विभेदों के अंतराल में, एक ही प्रकार के दुःख-सुख से, एक ही प्रकार की शक्ति और दुर्बलता से अनुप्रेरित वही महौजस मानव हृदय स्पंदित है।

शुभ और अशुभ सर्वत्र है, और दोनों के पलड़े अद्भुत रूप से बराबर हैं। पर सर्वत्र सर्वोपरि है मनुष्य की महिमामयी आत्मा, जो उसकी ही भाषा में बोलनेवाले किसी भी व्यक्ति को समझने में कभी नहीं चूकती। हर जगह ऐसे नर-नारी हैं, जिनका जीवन मानव जाति के लिए वरदान है और जो दिव्य सम्राट् अशोक के इन शब्दों को सत्य सिद्ध करते हैं : 'प्रत्येक देश में ब्राह्मणों और श्रमणों का निवास है।'

केवल शुद्ध और निष्काम आत्मा द्वारा ही सम्भव प्रेम के साथ मेरा स्वागत-सत्कार करनेवाले उन अनेक सहृदय पुरुषों के लिए मैं पाश्चात्य देशों का आभारी हूँ। पर मेरे जीवन की निष्ठा तो मेरी इस मातृभूमि के प्रति अर्पित है। और यदि मुझे हज़ार जीवन भी प्राप्त हों, तो प्रत्येक जीवन का प्रत्येक क्षण, मेरे देशवासियो, मेरे मित्रो, तुम्हारी सेवा में अर्पित रहेगा।

क्योंकि मेरा जो कुछ भी है—शारीरिक, मानसिक और आत्मिक—सबका सब इसी देश की देन है; और यदि मुझे किसी अनुष्ठान में सफलता मिली है, तो कीर्ति तुम्हारी है, मेरी नहीं। मेरी अपनी तो केवल दुर्बलताएँ और असफलताएँ हैं; क्योंकि जन्म से ही जो महान् शिक्षाएँ इस देश में व्यक्ति को अपने चतुर्दिक

बिखरी और छायी मिलती हैं, उनसे लाभ उठाने की मेरी असमर्थता से ही इन दुर्बलताओं और असफलताओं की उत्पत्ति हुई है।

और कैसा है यह देश! जिस किसीके भी पैर इस पावन धरती पर पड़ते हैं वही, चाहे वह विदेशी हो, चाहे इसी धरती का पुत्र, यदि उसकी आत्मा जड़-पशुत्व की कोटि तक पतित नहीं हो गयी तो, अपने आपको पृथ्वी के उन सर्वोत्कृष्ट और पावनतम पुत्रों के जीवन्त विचारों से घिरा हुआ अनुभव करता है, जो शताब्दियों से पशुत्व को देवत्व तक पहुँचाने के लिए श्रम करते रहे हैं और जिनके प्रादुर्भाव की खोज करने में इतिहास असमर्थ है। यहाँ की वायु भी आध्यात्मिक स्पंदनों से पूर्ण है। यह धरती दर्शन शास्त्र, नीति-शास्त्र और आध्यात्मिकता के लिए, उन सबके लिए जो पशु को बनाये रखने के हेतु चलने-वाले अविरत संघर्ष से मनुष्य को विश्राम देता है, उस समस्त शिक्षा-दीक्षा के लिए जिससे मनुष्य पशुता का जामा उतार फेंकता और जन्म-मरणहीन सदानन्द अमर आत्मा के रूप में आविर्भूत होता है,—पवित्र है। यह वह धरती है, जिसमें सुख का प्याला परिपूर्ण हो गया था और दुःख का प्याला और भी अधिक भर गया था; अंततः यहीं सर्वप्रथम मनुष्य को यह ज्ञान हुआ कि यह तो सब निस्सार है; यहीं सर्वप्रथम यौवन के मध्याह्न में, वैभव-विलास की गोद में, ऐश्वर्य के शिखर पर और शक्ति के प्राचुर्य में मनुष्य ने माया की शृंखलाओं को तोड़ दिया। यहीं, मानवता के इस महासागर में, सुख और दुःख, शक्ति और दुर्बलता, वैभव और दैन्य, हर्ष और विषाद, स्मित और आँसू तथा जीवन और मृत्यु के प्रबल तरंगाघातों के बीच, चिरंतन शान्ति और अनुद्विग्नता की घुलनशील लय में, त्याग का राजसिंहासन आविर्भूत हुआ! यहीं इसी देश में जीवन और मृत्यु की, जीवन की तृष्णा की, और जीवन के संरक्षण के निमित्त किये गये मिथ्या और विक्षिप्त संघर्षों की—महान् समस्याओं से सर्वप्रथम जूझा गया और उनका समाधान किया गया—ऐसा समाधान जो न भूतो न भविष्यति—क्योंकि यहाँ पर, और केवल यहीं पर इस तथ्य की उपलब्धि हुई कि जीवन भी स्वतः एक अशुभ है, किसी एकमात्र सत् तत्त्व की छाया मात्र। यही वह देश है जहाँ, और केवल जहाँ पर धर्म व्यावहारिक और यथार्थ था; और केवल यहीं पर नर-नारी लक्ष्य-सिद्धि के लिए—परम पुरुषार्थ के लिए साहसपूर्वक कर्मक्षेत्र में कूदे, जैसे अन्य देशों में लोग अपने से दुर्बल अपने ही बंधुओं को लूटकर जीवन के भोगों को प्राप्त करने के लिए विक्षिप्त होकर झपटते हैं। यहाँ, और केवल यहीं पर मानव-हृदय इतना विस्तीर्ण हुआ कि उसने केवल मनुष्य-जाति को ही नहीं, वरन् पशु, पक्षी और वनस्पति तक को भी अपने में समेट लिया—सर्वोच्च देवताओं से

लेकर बालू के कण तक, महानतम और लघुतम सभी को मनुष्य के विशाल और अनन्त वर्द्धित हृदय में स्थान मिला। और केवल यहीं पर मानवात्मा ने इस विश्व का अध्ययन एक अविच्छिन्न एकता के रूप में किया, जिसका हर स्पंदन उसका अपना स्पंदन है।

हम सभी भारत के पतन के सम्बन्ध में बहुत कुछ सुनते हैं। एक समय था, जब मैं भी इसमें विश्वास करता था। पर आज अनुभव की अग्रभूमि पर खड़े होकर, बाधात्मक पूर्व परिकल्पनाओं से दृष्टि को मुक्त करके, और सर्वोपरि, अन्य देशों के अतिरंजित चित्रों को प्रत्यक्ष सम्पर्क द्वारा उचित प्रकाश और छायाओं में देखकर मैं, अत्यन्त विनम्रता के साथ, स्वीकार करता हूँ कि मैं ग़लत था। आर्यों के ऐ पावन देश! तू कभी पतित नहीं हुआ। राजदण्ड टूटते रहे और फेंक दिये जाते रहे हैं. शक्ति का कन्दुक एक हाथ से दूसरे हाथ में उछलता रहा है, पर भारत में राजदरबारों और राजाओं का प्रभाव सर्वदा थोड़े से लोगों को छू सका है—उच्चतम से निम्नतम तक जनता की विशाल राशि अपनी अनिवार्य जीवनधारा का अनुगमन करने के लिए मुक्त रही है, और राष्ट्रीय जीवनधारा कभी मन्द और अर्द्ध चेतन गति से और कभी प्रबल और प्रबुद्ध गति से प्रवाहित होती रही है। उन बीसों ज्योतिर्मय शताब्दियों की अटूट शृंखला के सम्मुख मैं तो विस्मयाकुल, खड़ा हूँ, जिनके बीच यहाँ-वहाँ एकाध धूमिल कड़ी है, जो अगली कड़ी को और भी अधिक ज्योतिर्मय बना देती है और इनके बीच इनकी गति में अपने सहज महिमामय पदक्षेप के साथ प्रगतिशील है मेरी यह जन्म-भूमि—अपने यशोपूरित लक्ष्य की सिद्धि के लिए—जिसे धरती या आकाश की कोई शक्ति रोक नहीं सकती—पशु-मानव को देव-मानव में रूपांतरित करने के लिए।

हाँ, मेरे बन्धुओ, यही गौरवमय भाग्य (हमारे देश का है), क्योंकि उपनिषद्-युगीन सुदूर अतीत में, हमने इस संसार को एक चुनौती दी थी : **न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः**—'न तो संतति द्वारा और न सम्पत्ति द्वारा, वरन् केवल त्याग द्वारा ही अमृतत्व की उपलब्धि होती है।' एक के बाद दूसरी जाति ने इस चुनौती को स्वीकार किया और अपनी शक्ति भर संसार की इस पहेली को कामनाओं के स्तर पर सुलझाने का प्रयत्न किया। वे सबकी सब अतीत में तो असफल रही हैं—पुरानी जातियाँ तो शक्ति और स्वर्ण की लोलुपता से उद्भूत पापाचार और दैन्य के बोझ से दबकर पिस-मिट गयीं, और नयी जातियाँ गर्त में गिरने को डगमगा रही हैं। इस प्रश्न का तो हल करने के लिए अभी शेष ही है कि शान्ति की जय होगी या युद्ध की, सहिष्णुता की विजय होगी या असहिष्णुता की, शुभ की विजय होगी या अशुभ की, शरीर की विजय होगी या बुद्धि की,

सांसारिकता की विजय होगी या आध्यात्मिकता की। हमने तो युगों पहले इस प्रश्न का अपना हल ढूंढ़ लिया था और सौभाग्य या दुर्भाग्य के मध्य हम अपने उस समाधान पर दृढ़ारूढ़ हैं और कालान्त तक उस पर दृढ़ रहने का संकल्प किये हुए हैं। हमारा समाधान है : असांसारिकता--त्याग।

भारतीय जीवन-रचना का यही प्रतिपाद्य विषय है, उसके अनन्त संगीत का यही दायित्व है, उसके अस्तित्व का यही मेरुदण्ड है, उसके जीवन की यही आधार-शिला है, उसके अस्तित्व का एकमात्र हेतु--मानव जाति का आध्यात्मीकरण। अपने इस लम्बे जीवन-प्रवाह में भारत अपने इस मार्ग से कभी भी विचलित नहीं हुआ, चाहे तातारों का शासन रहा हो और चाहे तुर्कों का, चाहे मुग़लों ने राज्य किया हो और चाहे अंग्रेज़ों ने।

और मैं चुनौती देता हूँ कि कोई भी व्यक्ति भारत के राष्ट्रीय जीवन का कोई भी ऐसा काल मुझे दिखा दे, जिसमे यहाँ समस्त संसार को हिला देने की क्षमता रखनेवाले आध्यात्मिक महापुरुषों का अभाव रहा हो। पर भारत का कार्य आध्यात्मिक है; और यह कार्य रण-भेरी के निनाद से या सैन्यदलों के अभियानों से तो पूरा नहीं किया जा सकता। भारत का प्रभाव धरती पर सर्वदा मृदुल ओस-कणों की भाँति बरसा है, नीरव और अव्यक्त, पर सर्वदा धरती के सुन्दरतम सुमनों को विकसित करनेवाला। प्रकृत्या मृदुल होने के कारण विदेशों में जाने--प्रभविष्णु होने के लिए इसे परिस्थितियों के एक सुयोगपूर्ण संघटन की प्रतीक्षा करनी होगी; यद्यपि अपने देश की सीमा के भीतर इसकी सक्रियता कभी बन्द नहीं हुई। इसीलिए प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति जानता है कि जब कभी साम्राज्य-निर्माता तातार या ईरानी, या यूनानी अथवा अरब लोग इस देश को बाह्य संसार के सम्पर्क में लाये, तभी व्यापक आध्यात्मिक प्रभाव की एक लहर यहाँ से समूचे संसार पर फैल गयी। ठीक वही परिस्थितियाँ एक बार फिर आकर हमारे सम्मुख खड़ी हो गयी हैं। धरती और सागर पर अंग्रेज़ों के यातायात, मार्ग और उस छोटे से द्वीप के निवासियों द्वारा प्रदर्शित अद्भुत शक्ति ने एक बार फिर भारत को शेष संसार के सम्पर्क में ला दिया है, और वही काम फिर से प्रारम्भ हो चुका है। मेरे शब्दों पर ध्यान दो--यह तो केवल अल्प प्रारम्भ मात्र है; महान् सिद्धियाँ बाद में उपलब्ध होंगी; यह तो मैं निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि भारत के बाहर हमारे वर्तमान कार्य का परिणाम क्या होगा, पर इतना तो मैं निश्चित रूप से जानता हूँ कि प्रत्येक सभ्य देश में लाखों--मैं जान-बूझकर कहता हूँ--लाखों व्यक्ति उस सन्देश की प्रतीक्षा कर रहे हैं, जो उन्हें भौतिकता के उस घृणित गर्त में गिरने से बचा लेगा, जिसकी ओर आधुनिक अर्थोपासना उन्हें आँख मूँदकर

ढकेल रही है; और नवीन सामाजिक आन्दोलनों के अनेक अग्रणी पहले ही से समझ चुके हैं कि केवल वेदान्त ही अपने सर्वोच्च रूप में उनकी सामाजिक आकांक्षाओं को आध्यात्मिकता प्रदान कर सकता है। अन्त में मुझे इस विषय की ओर लौटना होगा। इसलिए मैं दूसरा महान् विषय उठाता हूँ—देश के भीतर कर्तव्य कर्म।

समस्या के दो पहलू हैं : जिन विविध तत्त्वों से राष्ट्र निर्मित है उनका न केवल आध्यात्मीकरण, बल्कि उनको आत्मसात करना भी। प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में विभिन्न जातियों का आत्मसात किया जाना—समन्वय—एक सामान्य समस्या रही है।

थियोसॉफ़ी पर कुछ स्फुट विचार[1]

इस वर्ष थियोसॉफ़िस्ट अपनी जयन्ती मना रहे हैं और उनकी २५ वर्ष की गतिविधि और कार्यकलापों की कई एक विज्ञापिकाएँ हमारे सम्मुख हैं।

अब किसीको यह कहने का अधिकार नहीं है कि हिन्दू एक दोष की सीमा तक उदार नहीं हैं। युवक हिन्दुओं का एक गुट, थपकियों और धक्कों के सर्वांगीण कवच से आरक्षित और महात्मीय गोलियों से आगे-पीछे आघात-प्रतिघात करने-वाली अमेरिकन प्रेतात्मवाद की इस क़लम का स्वागत करने के लिए मिल गया है।

थियोसॉफ़िस्टों का दावा है कि उन्हें इस विश्व का आदिम दिव्य ज्ञान प्राप्त है। हमें यह जानकर प्रसन्नता हुई है; यह जानकर और भी अधिक प्रसन्नता हुई है कि वे अपने इस ज्ञान को बड़ी दृढ़ता के साथ एक रहस्य बनाये रखना चाहते हैं। अभाग्य और दुर्दिन होगा हम दीन मर्त्य लोगों का, और विशेषकर हिन्दुओं का, यदि यह सारा ज्ञान एक साथ धावा बोल दे! वर्तमान थियोसॉफ़ी का अर्थ है श्रीमती बेसेन्ट। ब्लैवेटेस्कीवाद और ऑल्कटवाद[2] तो लगता है पीछे रह गये हैं। श्रीमती बेसेन्ट का उद्देश्य कम से कम अच्छा है—और कोई भी व्यक्ति उनके धैर्य और उत्साह को अस्वीकार नहीं कर सकता।

बेशक छिद्रान्वेषी आलोचक भी हैं। जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है, हमें थियोसॉफ़ी में अच्छाई के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखायी देता—उसमें भी अच्छाई जो स्पष्टतः कल्याणकारी है, उसमें भी अच्छाई जिसे लोग अपकारक कहते हैं, पर जिसे हम अप्रत्यक्ष शुभ कहते हैं—विभिन्न स्वर्गों और अन्य स्थानों तथा उनके निवासियों का गहन भौगोलिक ज्ञान; और सजीव थियोसॉफ़िस्टों के साथ प्रेतात्माओं के सम्वाद का सहगामी दृश्य जगत् पर सूक्ष्म अंगुलि-क्षेप—यही सब कुछ। क्योंकि जहाँ तक हम जानते हैं, थियोसॉफ़ी ही वह सर्वोत्कृष्ट सीरम (serum) है, जिसका इंजेक्शन अपने को स्वस्थ कहलाने की चेष्टा करनेवाले कुछ मस्तिष्कों में जो अद्भुत कीट-पतंग बसते हैं, उन्हें विकसित करने में कभी भी असफल नहीं होता।

---

१. स्वामी विवेकानन्द के काग़ज़ों में प्राप्त।

२. थियोसॉफ़ी के अग्रणी मैडम ब्लैवेटेस्की और श्री ऑल्कट के सिद्धान्त।

थियोसॉफ़ी समाज अथवा अन्य किसी समाज द्वारा किये गये अच्छे कार्य की उपेक्षा या अवमानना करने की हमारी कोई इच्छा नहीं है। फिर भी, अतीत काल में अतिशयोक्ति हमारी जाति के लिए घातक रही है और यदि थियोसॉफ़ी के कार्य के सम्बन्ध में लखनऊ के 'एडवोकेट' में प्रकाशित कई लेखों को लखनऊ की मनःस्थिति का मानदण्ड मान लिया जाय, तो कुछ न कहते हुए हम इतना कहेंगे कि जिनका प्रतिनिधित्व ये लेख करते हैं, उनके लिए हमें अफ़सोस है। मूर्खतापूर्ण अवमूल्यन दुष्टता है, किन्तु अतिशय प्रशंसा भी कम कुत्सित नहीं होती।

अमेरिकन प्रेतात्मवाद की इस हिन्दुस्तानी क़लम में—जिसमें कुछ संस्कृत शब्दों ने प्रेतात्मवादी शब्दजाल का स्थान ले लिया है—प्रेतों की थपकियों और धक्कों का स्थान महात्मीय क्षेप्यास्त्रों ने और प्रेतबाधा का स्थान महात्मीय अन्तःप्रेरणा ने ले लिया है।

'एडवोकेट' में प्रकाशित लेखों के लेखक में इस सबके ज्ञान का आरोप हम नहीं कर सकते; पर लेखक महोदय को अपने थियोसॉफ़िस्ट भाइयों और स्वयं अपने को हिन्दू जाति के साथ एक समझने की भूल नहीं करनी चाहिए; अधिकांश हिन्दू जाति ने प्रारम्भ से ही थियोसॉफ़ी के घटनाचक्र को अच्छी तरह समझ लिया था और वह, महान् स्वामी दयानन्द सरस्वती के नेतृत्व में, जिन्होंने ब्लैवे-टस्कीवाद की वास्तविकता पहचानते ही उसके ऊपर से अपनी छत्र-छाया हटा ली थी, थियोसॉफी से दूर ही रही।

और फिर उपर्युक्त लेखक महोदय का जो भी पक्षपात हो, आज इस कलियुग में भी हिन्दुओं के बीच उनके अपने धार्मिक उपदेशक और धार्मिक शिक्षाएँ पर्याप्त मात्रा में हैं, और उन्हें रूसियों और अमेरिकनों के मृत प्रेतों की कोई आवश्यकता नहीं है।

उपर्युक्त लेख हिन्दुओं पर और उनके धर्म पर अपमानजनक आरोप हैं। उपर्युक्त लेखक को और उस जैसे अन्य लोगों को हमेशा के लिए समझ लेना चाहिए कि हम हिन्दुओं को पश्चिम से धर्म का आयात करने की न तो आवश्यकता ही है और न इच्छा ही। अन्य प्रत्येक वस्तु का आयात करने में ही हमारा पतन बहुत काफ़ी हो चुका है।

हमारा विश्वास है कि धर्म के आयात का कार्य पश्चिम के लोगों की ओर से ही होना चाहिए; और हमारा कार्य सर्वदा इसी दिशा में होता रहा है। पश्चिम के थियोसॉफ़िस्टों द्वारा हिन्दुओं के धर्म को जो एकमात्र सहायता प्राप्त हुई है वह तैयार खेत मिल जाने जैसी सहायता नहीं है, वरन् उनकी जादूगरी के करतबों द्वारा जनित, वर्षों का कठोर परिश्रम ही उनकी देन है। लेखक महोदय को

यह ज्ञात होना चाहिए था कि श्री मैक्समूलर जैसे विद्वानों और श्री एडविन आॅर्नल्ड जैसे कवियों का पल्ला पकड़कर और साथ ही इन्हीं लोगों पर कीचड़ उछालते हुए—तथा स्वयं अपने आपको विश्व ज्ञान का एकमात्र पात्र बताते हुए थियोसाॅफ़िस्ट लोग पश्चिम के समाज के हृदय में रेंगकर घुस जाना चाहते थे। और हम तो राहत की साँस लेते हैं कि यह अद्‌भुत ज्ञान एक रहस्य बनाकर ही रखा जाता है। भारतीय चिन्तन, मायावी-पाखण्ड और हाथ पर आम उगानेवाली फ़क़ीरी विद्या—यह सब पश्चिम के शिक्षित लोगों के दिमाग़ में एक ही बन गये थे। थियोसाॅफ़िस्टों द्वारा हिन्दू धर्म की सहायता बस केवल इतनी ही है।

थियोसाॅफ़ी द्वारा हर देश में जो तात्कालिक प्रत्यक्ष महान् कल्याण हमारी दृष्टि से हुआ है, वह है यक्ष्मा के रोगी के फेफड़ों में दिये जानेवाले प्रोफेसर कोच (Prof. Koch) के इंजेक्शनों की भाँति, स्वस्थ, आध्यात्मिक, कर्मठ और देशभक्त लोगों को पाखंडियों, अस्वस्थ और आध्यात्मिक होने का ढोंग करनेवाले पतनशील व्यक्तियों से अलग कर देना।

बुद्धि, श्रद्धा और प्रेम

[स्वामी जी के कार्य-क्षेत्र का केंद्र अमेरिका के अटलांतिक तट की ओर पूर्व दिशा में जाने के पहले सन् १८९४ ई० के पूरे वर्ष भर के लगभग उन्होंने हेल परिवार के निवास-स्थान को अपना प्रधान कार्यालय बनाया था। श्री जार्ज डब्ल्यू० हेल के पत्र लिखने के काग़ज़ों पर, और इस प्रकार सम्भवतः उनके घर में अपने किसी आवास-काल में, स्वामी जी ने पेंसिल से ही बुद्धि, श्रद्धा और प्रेम के सम्वन्ध में कुछ टिप्पणियाँ सी लिख डाली थीं, जो अभी हाल ही में प्रकाश में आयीं। दुर्भाग्यवश इस पाण्डुलिपि की तिथि निश्चयपूर्वक निर्धारित नहीं की जा सकती।]

बुद्धि—उसकी सीमाएँ हैं—उसका आधार है—
उसका पतन है। उसके चतुर्दिक् प्राचीर हैं—
अज्ञेयवाद। अनीश्वरवाद। पर रुकना नहीं है;
प्रतिक्षण परात्पर सक्रिय है, हमें प्रभावित कर रहा है—
यह आकाश, ये तारे, जो अदृश्य हैं वह भी हम पर प्रभाव डाल रहे हैं।
अतः हमें इस सबके पार जाना ही है। अकेली बुद्धि नहीं जा सकती!
ससीम असीम को नहीं पा सकता।
अकेली श्रद्धा भ्रष्ट हो जाती है—
कट्टरता—धर्मान्धता—साम्प्रदायिकता। अतः
सतत संकीर्ण ससीम असीम को नहीं पा सकता!
कभी गम्भीरता आ जाती है, तो विस्तार खो जाता है।
और स्वमताग्रही एवं धर्मान्धों में तो
अपने ही गर्व और मिथ्या अहं की उपासना में परिणत हो जाती है!
तो क्या अन्य कोई मार्ग ही नहीं है?—प्रेम है!
जो कभी भ्रष्ट नहीं होता!—शान्त, कोमलतादायक
सतत वितानी—यह विश्व उसकी व्याप्ति के लिए अत्यन्त छोटा है!
हम उसकी परिभाषा नहीं दे सकते, उसके विकास विधान के माध्यम से
हम केवल उसका रेखांकन कर सकते हैं और उसके परिवेश का वर्णन
कर सकते हैं।

पहले तो वह वही है, जो बहिर्जगत् में गुरुत्वाकर्षण है—
एकीकरण की—मिलन की प्रवृत्ति।—विधि-विधान और रूढ़िबद्धता तो उसकी मृत्यु हैं।
जब तक विधि-विधानों, पद्धतियों, प्रार्थना-विधियों में उपासना जकड़ी है, तब तक प्रेम नहीं।
जब प्रेम आता है, तब पद्धतियाँ तिरोहित हो जाती हैं।
मानव-भाषा और मानव-आकार—पितृ-रूप ईश्वर,
मातृ-रूप ईश्वर, प्रिय-रूप ईश्वर—सुरत-वर्धनम् आदि
सालोमन का महागान—परतंत्रता और स्वतंत्रता—
बन्धन और मुक्ति—
प्रेम, प्रेम!!
पावन पत्नी-रूप प्रेम—अनुसूया, सीता—
रूक्ष-कठोर कर्तव्य-रूप नहीं, वरन्
सतत आह्लादकारी प्रेम—सीता की पूजा—
प्रेम का उन्माद—भगवत्प्रेमोन्मत्त मानव—
राधा का रूपक—ग़लत समझा गया
नियंत्रण और भी बढ़ जाता है—
काम प्रेम की मृत्यु है,
अहम् प्रेम की मृत्यु है,
व्यक्ति से सामान्य की ओर,
मूर्त से अमूर्त की ओर—परात्पर की ओर।
प्रार्थनारत मुसलमान और बालिका,
सहानुभूति—कबीर—
वह ईसाई तपस्विनी जिसके हाथों से रक्त बह चला,
मुसलमान सन्त!
प्रत्येक परमाणु अपने पूरक की खोज में रत—
जब उसे पा जाता है, शान्त हो जाता है।
प्रत्येक मनुष्य सुख और स्थिरता की खोज में।
खोज तो सत्य है
पर उसके लक्ष्य तो वे स्वयं ही हैं।
फिर भी इन लक्ष्यों की खोज में
कम से कम क्षणिक सुख तो उन्हें मिलता ही है!

एकमात्र ध्रुव लक्ष्य और मानवात्मा को प्रकृति और अभीप्सा का
एकमात्र पूरक ईश्वर ही है!
अपना पूरक, अपनी स्थायी साम्यावस्था—अपनी
अनन्त शान्ति की प्राप्ति के लिए मानवात्मा का
संघर्ष ही प्रेम है—

छः संस्कृत आदर्श-वाक्य[1]

१. अजरामरवत् प्राज्ञः विद्याम्
अर्थं च चिन्तयेत्।
ग्रहीत इव केशेषु मृत्युना
धर्मं आचरेत्॥

विद्या और विभव की खोज में अपने को जरा-मरण से मुक्त समझकर आचरण करो और धर्माचरण में अपनी शिखा काल के हाथों में समझकर तत्पर रहो।

२. एक एव सुहृद्धर्मं
निधनेप्यनुयाति यः।

धर्म ही एकमात्र सखा है, जो मृत्यु के बाद भी साथ जाता है।
शेष सब मृत्यु के साथ समाप्त हो जाता है।

विवेकानन्द।

३. एक अनन्त परम पावन प्रभु
गिरा-ज्ञान-गो-गुणातीत प्रभु
तुमको मेरा नमस्कार है।

स्वामी विवेकानन्द।

४. समता सर्वभूतेषु
एतन्मुक्तस्य लक्षणम्॥

जीव मात्र में समभाव—यही मुक्तात्मा का लक्षण है।

विवेकानन्द।

---

१. 'स्वामी विवेकानन्द इन अमेरिका : न्यू डिस्कवरीज' (अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द : नवीन खोजें) नामक ग्रन्थ से उद्धृत। ये आदर्श-वाक्य और इनके अंग्रेजी अनुवाद स्वामी जी ने अपने ६ चित्रों पर लिखे थे।

५. त्वमेकं शरण्यम्, त्वमेकं वरेण्यम्...

इस विश्व की एकमात्र निधि तुम्हीं हो।

विवेकानन्द।

६. त्वमेव माता च पिता त्वमेव...

तुम्हीं पिता हो, तुम्हीं स्वामी हो;
तुम्हीं माता, तुम्हीं पति और तुम्हीं प्रेयसी हो।

स्वामी विवेकानन्द।

दिव्य प्रज्ञा का सन्देश

[अधोलिखित तीन अध्याय स्वामी विवेकानन्द के काग़ज़ों में प्राप्त हुए थे। स्पष्टत: स्वामी जी एक ग्रन्थ लिखना चाहते थे और उसके लिए कुछ टिप्पणियाँ लिखी थीं।]

१. बन्धन २ विधान ३. परब्रह्म (परात्पर) और मुक्ति-प्राप्ति

१

बन्धन

१. कामना असीम है, उसकी पूर्ति सीमित। कामना प्रत्येक व्यक्ति में असीम है; पर उसकी पूर्ति की शक्ति भिन्न है। इस प्रकार जीवन में कुछ लोग दूसरों की अपेक्षा अधिक सफल होते हैं।

२. यह सीमा—असमर्थता ही वह बन्धन है, जिसके विरुद्ध हम आजीवन संघर्ष करते हैं।

३. हम केवल सुखद की कामना करते हैं, दु:खद की नहीं।

४. पर हमारी कामना के सभी लक्ष्य मिश्रित होते हैं—सुखद और दु:खद मिले हुए।

५. लक्ष्यों के दु:खद अंशों को हम देखते नहीं अथवा देख नहीं सकते, केवल सुखद अंशों पर ही हम मुग्ध होते हैं; और इस प्रकार सुखद को सहेजने में हम अनजाने ही दु:खद को भी समेट लेते हैं।

६. कभी कभी हम झूठी आशा करते हैं कि हमारे पल्ले केवल सुखद अंश ही आयेगा और दु:खद अंश छूट जायगा, जो कभी नहीं होता।

७. हमारी कामनाएँ भी सतत परिवर्तनशील हैं—जिसे आज हम बहुमूल्य मानते हैं, कल उसीको ठुकरा देते हैं। वर्तमान का सुख भविष्य का दु:ख बन जायगा। जो आज का प्रेमास्पद है, कल घृणास्पद हो जायगा—इत्यादि।

८. हम एक झूठी आशा यह भी करते हैं कि हम भावी जीवन में दु:खद को वर्जित कर केवल सुख देनेवाले को ही सँजो लेंगे।

९. पर भविष्य तो वर्तमान का ही विस्तार है। ऐसा कभी हो ही नहीं सकता !

१०. जो कोई भी पदार्थों में सुख की खोज करता है सुख उसे मिलेगा; पर उसे साथ में दुःख भी स्वीकार करने होंगे।

११. समस्त पदार्थमूलक सुख अन्ततोगत्वा दुःख लाता है, और इसका कारण है परिवर्तन या मृत्यु।

१२. समस्त पदार्थों का लक्ष्य है मृत्यु; समस्त पार्थिव वस्तुओं की प्रकृति है परिवर्तन !

१३. जैसे कामना बढ़ती है, वैसे ही सुख की शक्ति बढ़ती है और उसीके अनुरूप दुःख की शक्ति भी !

१४. जितनी ही सूक्ष्मतर जीव-रचना, जितनी ही उच्च संस्कृति—उतनी ही प्रबल सुख-भोग की शक्ति और उतनी ही तीक्ष्ण व्यथा-वेदना !!

१५. मानसिक सुख शारीरिक सुख की अपेक्षा कहीं अधिक उच्च है; और मानसिक पीड़ा शारीरिक यातनाओं से कहीं अधिक मर्मवेधी !

१६. सुदूर भविष्य में देख सकने की विचार-शक्ति और वर्तमान में अतीत पुनः प्रस्तुत कर सकनेवाली स्मरण-शक्ति हमारे लिए स्वर्गिक जीवन सुलभ बना देती है; वही हमें नरक का जीवन बिताने को भी विवश कर देती है।

१७. अपने इर्द-गिर्द सुखद पदार्थों को महत्तम परिमाण में संगृहीत कर सकनेवाला व्यक्ति अनपवाद रूप से इतना कल्पनाशून्य होता है कि वह उनका उपभोग ही नहीं कर पाता। प्रचुर कल्पना से युक्त व्यक्ति हानि की गहन भावना से, या हानि के भय से अथवा दोष-दर्शन से ही अभिभूत रहता है।

१८. पीड़ा पर विजय पाने के लिए हम घोर संघर्ष करते हैं; प्रयास में सफल होते हैं; और साथ ही नयी पीड़ाओं की सृष्टि करते हैं।

१९. हम सफलता पाते हैं और असफलता से पराभूत होते हैं; हम सुख के पीछे दौड़ते हैं और दुःख हमारा पीछा करता है।

२०. हम कहते हैं 'हम करते हैं', पर हमसे कर्म कराया जाता है। हम कहते हैं 'हम काम करते हैं', पर हमसे मजदूरी करायी जाती है। हम कहते हैं 'हम जीते हैं'; पर हमें प्रतिक्षण मरते रहने के लिए विवश किया जाता है। हम तो भीड़ में हैं, रुक नहीं सकते, चलते ही जाना है;—इसमें शाबाशी की क्या बात है? यदि ऐसा न होता तो आनन्द के एक कण के लिए—जो, अफ़सोस !—अधिकांश के

लिए आशा बनकर ही रह जाता है—कितनी भी शाबाशी हमसे वेदना और दैन्य का यह बोझ उठवा न पाती!

२१. हमारा निराशावाद एक भयानक सत्य है; हमारी आशावादिता एक क्षीण जयध्वनि—रपट पड़े की 'हर गंगा'!

२

नियम

१. नियम कभी घटनाचक्र से, सिद्धान्त कभी व्यक्ति से, भिन्न नहीं होता।

२. अपनी सीमा के भीतर, प्रत्येक पृथक् पदार्थ की, क्रिया अथवा निष्क्रिय सम स्थिति की विधि ही नियम कही जाती है।

३. नियम का ज्ञान हमें घटित होनेवाले परिवर्तनों के समुच्चय और संधान मे मिलता है। इन परिवर्तनों से परे नियम हमें नहीं दिखायी देता। घटनाओं से पृथक् नियम की अवधारणा तो एक मानसिक अमूर्तन मात्र है—शब्दों का सुकर प्रयोग, और कुछ नहीं। नियम अपनी सीमा में होनेवाले प्रत्येक परिवर्तन का अंग और अपने से शासित होनेवाले पदार्थों में निहित पद्धति है। पदार्थों में निहित शक्ति, प्रत्येक पदार्थ की हमारी अवधारणा का, एक अंग है—अन्य किसी पदार्थ पर उस शक्ति की क्रिया एक विशिष्ट प्रकार से होती है—यही हमारा नियम है।

४. नियम पदार्थों की यथास्थिति में है—इस विधि से कि पदार्थ एक दूसरे के प्रति कैसे क्रियमाण होते हैं; न कि कैसे उन्हें होना चाहिए। अच्छा होता यदि अग्नि जलाती नहीं और जल भिगोता नहीं; किन्तु वे ऐसा करते हैं, यही नियम है। और यदि यह सच्चा नियम है, तो वह अग्नि जो जलाती नहीं और वह जल जो भिगोता नहीं, न अग्नि है, न जल।

५. आध्यात्मिक नियम, नैतिक नियम, सामाजिक नियम, राष्ट्रीय नियम—तभी नियम हैं जब वे प्रस्तुत आत्मिक और मानव-इकाइयों के अंग हों और इन नियमों से शासित मानी जानेवाली प्रत्येक इकाई के कर्म की अनिवार्य अनुभूति हों।

६. हमारा निर्माण नियम द्वारा और हमारे द्वारा नियम का निर्माण—यह चक्र चलता है। कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में मनुष्य अनिवार्यतः क्या करता है, इस संबंध में सामान्य निष्कर्ष—एक उन परिस्थितियों के सम्बन्ध में मनुष्य पर लागू होनेवाला नियम है। अचल, सार्वभौम मानवीय व्यापार ही मनुष्य का नियम है, जिससे कोई भी व्यक्ति बच नहीं सकता—किंतु यह भी सत्य है कि अलग अलग व्यक्तियों के कार्यों का योग ही सार्वभौम नियम है। पूर्ण योग, या सार्वभौम

अथवा असीम ही व्यक्ति का निर्माण कर रहा है और व्यक्ति अपनी क्रिया से उस विधान को सजीव बनाये हुए है। इस अर्थ में नियम सार्वभौम का ही दूसरा नाम है। सार्वभौम व्यक्ति पर निर्भर है, व्यक्ति सार्वभौम पर निर्भर है। यह अनन्त सान्त अंशों से निर्मित है, संख्यामूलक अनन्त—यद्यपि सान्त अंशों के योग से अनन्त के निर्माण की कठिनाई है—फिर भी व्यावहारिक स्तर पर यह तथ्य हमारे समक्ष विद्यमान है। और, क्योंकि नियम, अथवा पूर्ण, अथवा अनन्त नष्ट नहीं किया जा सकता—और अनन्त के एक अंश का विनाश असम्भव है;—क्योंकि हम अनन्त में न कुछ जोड़ सकते हैं और न घटा सकते हैं[1]—अतः प्रत्येक अंश सर्वकाल-स्थायी है।

७. मानव-शरीर जिन पदार्थों से निर्मित है, उनसे सम्बन्धित नियम खोज निकाले गये हैं और काल-प्रवाह में इन पदार्थों का स्थायित्व भी सिद्ध कर दिया गया है। शत सहस्राब्द पूर्व जिन तत्त्वों से मानव-शरीर निर्मित हुआ था, उनका कहीं न कहीं आज भी अस्तित्व है, यह सिद्ध किया जा चुका है। जो विचार प्रक्षिप्त किये जा चुके हैं, वे भी अन्य मस्तिष्कों में जीवित हैं।

८. पर कठिनाई तो है, शरीर से परे, मानव के सम्बन्ध में नियम खोजने की।

९. आध्यात्मिक और नैतिक नियम प्रत्येक मनुष्य की क्रिया-पद्धति नहीं है। शीलाचार, नैतिकता और राष्ट्रीय नियमों के पालन की अपेक्षा उनका उल्लंघन ही अधिक किया जाता है। यदि ये सब नियम होते, तो भंग कैसे किये जा सकते ?

१०. प्रकृति के नियमों के विपरीत जाने की सामर्थ्य किसी भी व्यक्ति में नहीं है। तो फिर ऐसा क्यों है कि हम सर्वदा मनुष्य द्वारा नैतिक और राष्ट्रीय नियमों के भंग किये जाने की शिकायत सुनते हैं ?

११. राष्ट्रीय नियम, अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में, राष्ट्र के बहुमत की इच्छा के मूर्त रूप हैं—सर्वदा एक काम्य स्थिति, न कि यथार्थ स्थिति !

१२. आदर्श नियम तो यह हो सकता है कि कोई भी व्यक्ति दूसरे की सम्पत्ति का लोलुप न हो; पर यथार्थ नियम यह है कि बहुत से लोग लोलुप होते हैं।

१३. इस प्रकार प्राकृतिक नियमों के सम्बन्ध में प्रयुक्त 'नियम' शब्द का अर्थ सामान्यतः नीति शास्त्र और मानव-क्रियाओं की भूमिका में बहुत बदल जाता है।

---

१. ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

१४. संसार के नैतिक नियमों का विश्लेषण करने पर और यथार्थ स्थिति से उनकी तुलना करने पर दो नियम सर्वोपरि ठहरते हैं। एक है अपने से प्रत्येक वस्तु के विकर्षण का नियम—हर व्यक्ति से अपने को पृथक् करना—जिसका परिणाम होता है, अन्ततः दूसरां की सुख-सुविधा की बलि देकर भी अपने अभ्युदय की सिद्धि! दूसरा है आत्म-बलिदान का विधान—अपनी चिन्ता से सर्वथा मुक्ति—सर्वदा केवल दूसरों का ध्यान रखना। दोनों ही की उत्पत्ति सुख का खोज से होती है—एक, दूसरों की क्षति पहुँचाने में सुख की खोज से; केवल अपनी इन्द्रियों में ही उस सुख की अनुभूति की क्षमता में सुख की खोज है। दूसरा, औरों की मंगल-साधना में सुख की खोज से—दूसरों की इन्द्रियों के माध्यम से सुखानुभूति की क्षमता में सुख की खोज से! संसार में महान् और सत्पुरुष वे हैं, जिनमें यह दूसरी क्षमता प्रबल होती है। फिर भी ये दोनों शक्तियाँ साथ साथ संयुक्त रूप से काम कर रही हैं; प्रायः प्रत्येक व्यक्ति में वह मिली हुई पायी जाती हैं, एक या दूसरी प्रमुख होती है। चोर चोरी करता है; पर, शायद, किसी दूसरे के लिए जिसे वह प्यार करता है।

२

ब्रह्म (परात्पर) और मुक्ति-प्राप्ति

१. ॐ तत्सत्—वह सत्-चित्-आनन्द।

(क) एकमात्र सत्सत्ता, केवल उसीका अस्तित्व है—अन्य हर एक पदार्थ का अस्तित्व उसी मात्रा में है, जिस मात्रा में वह इस सत्सत्ता को प्रतिभासित करता है।

(ख) वही एकमात्र ज्ञाता है—एकमात्र स्वयंप्रकाश—चेतना की ज्योति! अन्य प्रत्येक पदार्थ उसीसे प्राप्त, उधार ली हुई ज्योति से ज्योतित हैं। अन्य हर पदार्थ उतना ही ज्ञान प्राप्त कर पाता है, जितना वह उस सत् के ज्ञान को प्रतिबिम्बित करता है।

(ग) वही एकमात्र आनन्द है—क्योंकि उसमें कोई अभाव नहीं है। वह सर्वज्ञ है, सर्वव्यापी है—सबका सार तत्त्व है।

वह सच्चिदानन्द है।

(घ) वह अविकल है, गुणातीत है, सुख-दुःख विनिर्मुक्त है; न वह जड़ है, न चेतन! वह सर्वोपरि है, अनन्त है, निर्गुण आत्मा हर वस्तु में व्याप्त है, विश्व की अनन्त आत्मा है।

(ङ) मुझमें, आपमें और प्रत्येक पदार्थ में जो कुछ सत्य है, वही है;—अतः 'तुम वही हो'—तत्त्वमसि।

२. बुद्धि उसी निर्गुण की अवधारणा इस विश्व के स्रष्टा, पालनकर्ता शासक और संहारक के रूप में, उसके उपादान और निमित्त कारण के रूप में, परम शासक के रूप में—जीवनमय, प्रेममय, परम सौन्दर्यमय के रूप में करती है।

(क) परम सत् की सर्वोपरि अभिव्यक्ति ईश्वर अथवा सर्वोच्च शासक के रूप में, सर्वोच्च और सर्वशक्तिमान जीवन या ऊर्जा के रूप में हुई है।

(ख) परम ज्ञान अपनी सर्वोच्च अभिव्यक्ति परम प्रभु के प्रति अनन्त प्रेम में कर रहा है।

(ग) परम आनन्द की अभिव्यक्ति परम प्रभु में अनन्त सौन्दर्य के रूप में होती है। आत्मा का सर्वोपरि आकर्षण वही है।

सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम्।

वह परात्पर या ब्रह्म, वह सच्चिदानन्द निर्गुण और यथार्थ अनन्त है।

उच्चतम से लेकर निम्नतम प्रत्येक सत्ता अपनी अपनी कोटि के अनुरूप ऊर्जा (उच्चतर जीवन में), आकर्षण (उच्चतर प्रेम में) और साम्यावस्था के लिए संघर्ष की (उच्चतर आनन्द में) अभिव्यक्ति करता है। पर परम ऊर्जा-प्रेम-सौन्दर्य (सत्य-शिव-सुन्दर) एक शरीरी है, व्यक्ति है—इस विश्व की अनन्त जननी है—देवाधिदेव—परम प्रभु, सर्वव्यापी, फिर भी विश्व से पृथक्—परम आत्मा, फिर भी प्रत्येक आत्मा से पृथक्—इस विश्व की जननी, क्योंकि उसीने इसे उत्पन्न किया है—विश्व-नियंत्रिका, क्योंकि वही इसकी परम प्रेममय निर्देशिका और अन्ततः हर वस्तु को स्वयं में पुनः ले आनेवाली है। उसीके आदेश से सूर्य-चन्द्र प्रकाशमान हैं, मेघ बरसते हैं और मृत्यु धरती पर अदृश्य विचरण करती है।

यही महाशक्ति समस्त कारण-श्रृंखला में निहित बल है। प्रत्येक कारण को निश्चयपूर्वक परिणाम उत्पन्न करने की ऊर्जा वही प्रदान करती है। उसकी इच्छा ही एकमात्र नियम है और, क्योंकि उससे कभी चूक हो नहीं सकती, अतः, प्रकृति के नियम—उसकी इच्छा—कभी बदली नहीं जा सकती। कर्म-विधान अथवा कारण-विधान का प्राण वही है। प्रत्येक कर्म को फलप्रद बनानेवाली वही है। उसीके निर्देशन में हम अपने कर्मों द्वारा अपने अपने जीवनों का निर्माण कर रहे हैं।

मुक्ति ही इस विश्व की प्रेरक है और मुक्ति ही इसका लक्ष्य है। प्रकृति के नियम ऐसी पद्धतियाँ हैं, जिनके द्वारा हम जगदंबा के निर्देशन में, उस मुक्ति तक पहुँचने का संघर्ष करते हैं। मुक्ति के लिए इस विश्वव्यापी संघर्ष की सर्वोच्च अभिव्यक्ति मनुष्य में मुक्त होने की सजग अभिलाषा के रूप में होती है।

यह मुक्ति तीन-प्रकार से प्राप्त होती है—कर्म, उपासना और ज्ञान से।

(क) कर्म—दूसरों की सहायता करने और दूसरों को प्रेम करने का सतत अविरत प्रयत्न।

(ख) उपासना—प्रार्थना-वन्दना, गुणगान और ध्यान।

(ग) ज्ञान—जो ध्यान से उत्पन्न होता है।

बेलूड़ मठ : एक अपील

हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों का प्रसार करने और पाश्चात्य देशों में अत्यधिक निन्दित अपने धार्मिक विश्वासों के लिए कुछ आदर भाव उत्पन्न करने के प्रयत्न में श्री रामकृष्ण परमहंस के शिष्यों को जो सफलता मिली है, उससे यह आशा उत्पन्न हुई है कि कुछ युवा संन्यासियों को देश के भीतर और बाहर धर्म-प्रचार का कार्य करने की प्रशिक्षा दी जा सकती है। और प्रयत्न किया जा रहा है कि गुरु-शिष्य-सम्पर्क के वैदिक सिद्धान्त के अनुसार कुछ युवकों को शिक्षित किया जाय।

कुछ यूरोपीय और अमेरिकी मित्रों की कृपा से कलकत्ता के निकट गंगा-तट पर एक मठ पहले ही स्थापित किया जा चुका है।

अल्प समय में कुछ प्रत्यक्ष कार्य कर दिखाने के लिए इस अनुष्ठान को धन की आवश्यकता है; और इसीलिए यह अपील उन लोगों से की जा रही है, जिन्हें हमारे इस अनुष्ठान से सहानुभूति है।

मठ के कार्य-क्षेत्र को इस प्रकार विस्तृत करने का विचार है कि, हमारे कोष के सामर्थ्य के अनुसार, अधिकाधिक युवकों को पाश्चात्य विज्ञान और भारतीय अध्यात्म-शास्त्र दोनों की शिक्षा दी जाय, ताकि विश्वविद्यालय की शिक्षा से होनेवाले लाभों के साथ साथ उन्हें, अपने गुरुजनों के सम्पर्क में रहकर, एक पुरुषोचित अनुशासन की भी शिक्षा मिले।

कलकत्ता के समीप का केन्द्रीय मठ, जैसे जैसे साधन और साधक उपलब्ध होते जायँगे, देश के अन्य भागों में, क्रमशः अपनी शाखाएँ स्थापित करता जायगा।

यह एक ऐसा काम है, जिसका कोई स्थायी परिणाम निकलने में समय लगेगा; और हमारे युवकों को और जिनके पास सहायता के साधन हैं, उनको काफ़ी बलिदान करना पड़ेगा।

हमारा विश्वास है कि साधक उपलब्ध हैं, इसलिए हमारी प्रार्थना उनसे है, जिन्हें अपने धर्म और अपने देश से प्रेम है और जिनके पास इस उद्देश्य में सहायक बनकर अपनी सहानुभूति को व्यावहारिक रूप से व्यक्त करने के साधन हैं।

विवेकानन्द।

अद्वैत आश्रम, हिमालय[1]

यह विश्व किसमें अवस्थित है, विश्व में कौन विराजमान है, विश्व-रूप कौन है; आत्मा की स्थिति किसमें है, आत्मा में कौन है, मनुष्य की आत्मा है कौन; उसका—और इसीलिए इस विश्व का—अपनी आत्मा के रूप में ज्ञान ही समस्त भय का विनाश और क्लेश का अन्त करता है और अनन्त मुक्ति की उपलब्धि कराता है। जहाँ कहीं भी प्रेम का विस्तार हुआ है अथवा व्यक्ति या समुदाय के कल्याण की वृद्धि हुई है, इस शाश्वत सत्य—'समस्त प्राणी का एकत्व' के ज्ञान, अनुभव और व्यवहार द्वारा ही हुई है। 'पराधीनता दैन्य है। स्वाधीनता ही सुख है।' अद्वैत ही एकमात्र दर्शन है, जो मनुष्य को अपनी पूर्ण उपलब्धि कराता है—अपना स्वामी बना देता है; समस्त पराधीनता और उससे सम्बन्धित अन्धविश्वास को उतार फेंकता है और इस प्रकार हमें कष्ट झेलने में वीर, कर्म करने में वीर बनाता है और अन्ततः परम मुक्ति-लाभ करा देता है।

अब तक द्वैतवादात्मक दुर्बलताओं से पूर्णतः मुक्त रूप में इस मंगलमय सत्य का उपदेश सम्भव नहीं हो सका; हमारा विश्वास है कि एकमात्र इसी कारण यह अधिक प्रभविष्णु और मानव जाति के लिए उपयोगी नहीं हो सका।

व्यक्तियों के जीवन के उदात्त और मनुष्य जाति को संप्रेरित करने के अभियान में इस सत्य को अधिक मुक्त और अधिक पूर्ण अवसर प्रदान करने के उद्देश्य से हम इसकी आदि स्फुरण-भूमि, हिमालय के शिखरों पर इस अद्वैत आश्रम की स्थापना कर रहे हैं।

आशा है कि यहाँ अद्वैत दर्शन को समस्त अन्धविश्वासों और दुर्बलताजनक दूषणों के संस्पर्श से मुक्त रखा जा सकेगा। यहाँ एकमात्र शुद्ध सरल एकत्व सिद्धान्त के अतिरिक्त और कुछ न पढ़ाया जायगा, न व्यवहार में लाया जायगा; और अन्य सभी दर्शनों से हमारी पूर्ण सहानुभूति होते हुए भी, यह आश्रम अद्वैत—केवल अद्वैत के लिए ही समर्पित है।

---

१. अद्वैत आश्रम, मायावती, अल्मोड़ा, हिमालय को परिचय-पत्रिका में सम्मिलित किये जाने के लिए मार्च, १८९९ में स्वामी जी ने ये पंक्तियाँ एक पत्र में लिख भेजी थीं।

रामकृष्ण सेवाश्रम, बनारस : एक अपील[1]

प्रिय---

कृपया रामकृष्ण सेवाश्रम, बनारस का गत वर्ष का यह विवरण-पत्र आप स्वीकार करें, जिसमें उन विनम्र प्रयासों का एक संक्षिप्त लेखा है, जिनके द्वारा उस दैन्यपूर्ण स्थिति के, जिसमें इस नगर के हमारे अनेक भाई-बन्धु, प्रायः वृद्ध स्त्री-पुरुष, कष्ट झेल रहे हैं, यत्किंचित् सुधार की चेष्टा की गयी है।

बौद्धिक जागरण और सतत जागरूक जनमत के इस युग में हिन्दुओं के तीर्थस्थान, उनकी स्थिति और उनकी कार्य-प्रणाली भी आलोचकों की तीक्ष्ण दृष्टि से बच नहीं सके; और समस्त हिन्दू जाति की इस पावनं पावनानां काशी नगरी को भी आलोचना का अपना पूरा पूरा भाग मिला है।

अन्य तीर्थस्थानों में लोग पाप से आत्म-शुद्धि की खोज में जाते हैं और इन स्थानों से उनका सम्बन्ध यदा-कदा संयोगवश और कुछ दिनों का होता है। यहाँ, आर्य-धर्म-चर्चा के इस प्राचीनतम और जीवंत केन्द्र में नर-नारी, अनपवाद रूप से वृद्ध और जरा-जर्जर दुर्बल लोग, भगवान् विश्वनाथ के मन्दिर की छाया तले परम पवित्रता दायक साधन मृत्यु द्वारा अनन्त मुक्ति-प्राप्ति की कामना से उसकी प्रतीक्षा करने आते हैं।

और फिर कुछ ऐसे लोग हैं, जिन्होंने विश्व-कल्याण के लिए सब कुछ त्याग दिया है और अपने रक्त-मांस के अंश---अपने पिता-माता, बाल-बच्चों और बाल सहचरों की सहायता से सदा-सर्वदा के लिए रहित हो गये हैं।

उन पर भी मानव जाति के सामान्य भाग्य-चक्र का प्रहार होता ही है; रोग के रूप में देह-दुर्विपाक भोगना ही पड़ता है।

यह बात सही हो सकती है कि कुछ दोष नगर की प्रबन्ध-व्यवस्था का भी है। यह सही हो सकता है कि पंडों-पुरोहितों की जो आलोचना इतने मुक्त रूप से की जाती है, वे उसके पात्र हों; फिर भी हमें इस महान् सत्य को न भुला देना

---

१. फ़रवरी, १९०२ में, रामकृष्ण सेवाश्रम, बनारस के प्रथम विवरण-पत्र के साथ प्रकाशित किये जाने के लिए स्वामी जी द्वारा लिखा गया पत्र।

चाहिए कि—जैसा समाज वैसे ही पुरोहित-पुजारी! यदि लोग हाथ पर हाथ रखे, दर्शक बन कर, अपने द्वार पर ही दैन्य की प्रखर धार में आबालवृद्ध नर-नारियों को; गृहस्थों और संन्यासियों को बिलखते-बहते असहाय दुःख के आवर्त में गिरते देख, किसी एक को भी उबार लेने का प्रयत्न नहीं करते, बल्कि तमाशा देखते हैं; और केवल तीर्थस्थानों के पुरोहित-पुजारियों के दुष्कृत्यों का राग अलापते हैं, तो इस दैन्य का एक कण भी कभी कम नहीं हो सकता, किसी एक की भी कभी सहायता नहीं हो सकती।

क्या हम चाहते हैं कि इस सनातन शिवधाम को मुक्ति-प्रदाता मानने का हमारे पूर्वजों का विश्वास अचल रहे?

यदि हम चाहते हैं, तो प्रतिवर्ष प्राण त्याग के लिए यहाँ आनेवालों की संख्या में वृद्धि देखकर हमें प्रसन्नता होनी चाहिए।

और धन्य है भगवान् के नाम को कि दीन जनों में सदा की भाँति मुक्ति की यह उत्कट कामना जागरूक है।

जो दीन जन यहाँ मृत्यु के हेतु आते हैं, वे स्वेच्छा से अपने जन्मस्थान में सुलभ सारी सेवा-सहायता से अपने को वंचित कर लेते हैं; और, एक हिन्दू के नाते हम यह सोचना तथा उसका परिहार करना आपकी कल्पना और अंतरात्मा पर छोड़ते हैं कि व्याधिग्रस्त होनें पर उनकी क्या दुर्दशा होती है।

बन्धु, अंतिम अवसान की साधना-भूमि इस अद्‌भुत नगरी का विलक्षण आकर्षण क्या आपको स्तब्ध और विचार-विमुग्ध नहीं बना देता? मृत्यु-द्वार से मुक्ति-धाम को प्रस्थान करता हुआ तीर्थयात्रियों का यह सनातन अनन्त प्रवाह क्या आपको एक रहस्यपूर्ण श्रद्धा से अभिभूत नहीं कर देता?

यदि हाँ, तो फिर आइए, हमारा हाथ बटाइए।

इसकी चिन्ता मत करिए कि आपका योगदान केवल एक कण भर है, आपकी सहायता अत्यल्प भले ही हो, लेकिन पुरानी कहावत है कि तिनकों से बटा हुआ रस्सा महामत्त गजराज को भी बन्धन में रखने में समर्थ होता है।

विश्वेश्वरपादाश्रित, सदा आपका,
विवेकानन्द।

रचनानुवाद : पद्य - १

पद्य – १

समाधि

सूर्य भी नहीं है, ज्योति—सुन्दर शशांक नहीं,
छाया-सा व्योम में यह विश्व नज़र आता है।
मनोआकाश अस्फुट, भासमान विश्व वहाँ
अहंकार-स्रोत ही में तिरता डूब जाता है।
धीरे धीरे छायादल लय में समाया जब
धारा निज अहंकार मन्दगति बहाता है।
बन्द वह धारा हुई, शून्य में मिला है शून्य,
'अवाङ्मनसगोचरम्' वह जाने जो ज्ञाता है।

सखा के प्रति

स्वास्थ्य रोग में, दुःख में सुख है,-अन्धकार में जहाँ प्रकाश,
शिशु के प्राणों का साक्षी है रोदन[1] जहाँ वहाँ क्या आश
सुख की करते हो तुम मति मन ?—छिड़ा हुआ है रण अविराम
घोर द्वन्द्व का, यहाँ पुत्र को भी न पिता देता है स्थान,
गूँज रहा रव घोर स्वार्थ का, कहाँ शान्ति का शुचि आकार
कहाँ ? नरक प्रत्यक्ष, स्वर्ग है[2], कौन छोड़ सकता संसार ?
कर्मपाश से बँधा गला, वह क्रीत दास जाये किस ठौर ?

---

१. जहाँ रोना ही शिशु के जीवन के अस्तित्व का प्रमाणस्वरूप है, वहाँ बुद्धिमान व्यक्ति कभी भी सुख की आशा नहीं करता, क्योंकि यह संसार माया का राज्य है, इसलिए सब विपरीत रूप से देखा जाता है—जैसे दुःख में सुख का अनुभव इत्यादि। यहाँ बुरी वस्तु अच्छी प्रतीत होती है।

२. नरक बहुत ही कदर्य या जघन्य स्थान है—दुःख का आगार होने पर भी स्वर्ग, सुन्दर स्थान, आनन्द-भूमिस्वरूप प्रतीत होता है। इसमें भी वही भाव है—'दुःख में सुख' इत्यादि।

(सोचा, समझा है मैंने, पर एक उपाय न देखा और)
योग-भोग, जप-तप, धन-अर्जन, गृह-आश्रम, कठोर संन्यास,
त्याग-तपस्या-व्रत सब देखा, पाया है जो मर्माभास
मैंने, समझा है, न कहीं सुख है, यह तनुधारण ही व्यर्थ,
उतना ही दुःख है, जितना ही ऊँचा है तव हृदय समर्थ।
हृदयवान निःस्वार्थ प्रेम के! इस भव में न तुम्हारा स्थान,
लौह-पिण्ड जो चोटें सहता, मर्म के अति कोमल प्राण
उन चोटों को सह सकते क्या? होओ जड़वत्, नीचाधार,
मधु-मुख गरल-हृदय, निजता-रत, मिथ्यापर, देगा संसार
जगह तुम्हें तव। विद्यार्जन के लिए प्राणपण से अतिपात
अर्ध आयु का किया, फिरा फिर पागल सा फैलाये हाथ
प्राणरहित छाया के पीछे लुब्ध प्रेम का; विविध निषेध
विधियाँ की थीं धर्म-प्राप्ति को, गंगातट, श्मशान गतखेद,
नदी तीर, पर्वत गह्वर, फिर भिक्षाटन में समय अपार
पार किया असहाय, छिन्न कौपीन, जीर्ण अम्बर तनुधार
द्वार द्वार फिर, उदर-पूर्ति कर, भग्न शरीर तपस्या-भार
धारणा से, पर अर्जित क्या पाया सब मैंने अन्तर-सार—
सुनो, सत्य जो जीवन में मैंने समझा है यह संसार
घोर तरंगाघात क्षुब्ध, बस एक नाव जो करती पार—
तन्त्र, मन्त्र, नियमन प्राणों का, मत अनेक, दर्शन विज्ञान,
त्याग, भोग, भ्रम घोर बुद्धि का, 'प्रेम-प्रेम' धन लो पहचान।
जीव, ब्रह्म, नर-ईश्वर, निर्जर, प्रेत-पिशाच, भूत-वैताल,
पशु-पक्षी, अणुकीट-कीट में यही प्रेम अन्तर-तम-ज्वाल।
'देव देव' वह और कौन है? कहो चलाता सबको कौन?
माँ को पुत्र के लिए देता प्राण, दस्यु हरता है! मौन
प्रेरण, एक प्रेरण, एक प्रेम का ही! वे हैं मन-वाणी से अज्ञात—
वे ही सुख-दुःख में रहती हैं—शक्ति मृत्युरूपा अवदात,
मातृभाव से वे ही आतीं। रोग, शोक, दारिद्र्य कठोर,
धर्म-अधर्म, शुभाशुभ से है पूजा उनकी ही सब ओर
बहु भावों से, कहो और क्या कर सकता है जीव विधान?
भ्रम में ही है वह, सुख को आकांक्षा में हैं डूबे प्राण
रहते जिसके, दुःख की रखता है जो चाह—घोर उन्माद

मृत्यु चाहता है, पागल है वह भी, वृथा अमरता-वाद!
जितनी दूर—दूर चाहे जितना जाओ चढ़कर रथ पर
तीव्र बुद्धि के, वहाँ—कहाँ तक फैला यही जलधि दुस्तर
संसृति का, सुख-दुःख-तरंगावर्त घूर्ण्य, कम्पित, चंचल।
पंखविहीन हो रहे हो तुम सुनो यहाँ के विहग सकल,
यह न कहीं उड़ने का पथ है, कहाँ भाग जाओगे तुम?
बार बार अतिघात पा रहे व्यर्थ कर रहे क्यों उद्यम?
छोड़ो विद्या, जप-तप का बल, स्वार्थविहीन प्रेम-आधार
एक हृदय का, देखो शिक्षा देता है पतंग पर प्यार
अग्निशिखा को आलिंगन कर; रूप-मुग्ध वह कीट अधम
अन्ध, और तुम, मत्त प्रेम के, हृदय तुम्हारा उज्ज्वलतम,
प्रेमवत्स! सब स्वार्थ-मलिनता अनलकुण्ड में भस्मीकृत
कर दो, सोचो भिक्षुक-हृदय सदा का ही है सुख-वर्जित,
और कृपा के पात्र हुए भी तो क्या फल? तुम बारम्बार
मोचो, दो, न फेर कर लो यदि हो अन्तर में कुछ भी प्यार।
अन्तस्तल के तुम अधिकारी, सिन्धु प्रेम का भरा अपार
अन्तर में, 'दो'—जो चाहे, हो बिन्दु सिन्धु उसका निःसार।
ब्रह्म और परमाणु-कीट तक, सब भूतों का है आधार
एक प्रेममय, प्रिय, इन सबके चरणों में दो तन-मन वार।
बहु रूपों से खड़े तुम्हारे आगे, और कहाँ है ईश?
व्यर्थ खोज। यह जीव-प्रेम की ही सेवा पाते जगदीश।

गाता हूँ गीत मैं तुम्हें ही सुनाने को

गाता हूँ गीत मैं तुम्हें ही सुनाने को;
भले और बुरे की—
लोक-निन्दा, यश-कथा की
नहीं परवाह मुझे;
दास हूँ तुम दोनों का,
सशक्तिक चरणों में प्रणाम है तुम्हारे देव।
पीछे खड़े रहते हो,
इसीलिए हँसते हुए मुख को
मैं देखता हूँ बार बार मुड़ मुड़कर;

बार बार गाता मैं——खौफ़ नहीं खाता कभी,
जन्म और मृत्यु मेरे पैरों पर लोटते हैं।
दया के सागर तुम,
दास हूँ तुम्हारा जन्म जन्म का मैं;
गति मैं तुम्हारी नहीं जानता हूँ——
अपनी गति ?——वह भी नहीं,
कौन चाहता भी है जानने को ?
भुक्ति-मुक्ति-भक्ति आदि जितने हैं.
जप-तप-साधन-भजन सब
आज्ञा से तुम्हारी ही दूर मैंने कर दिये हैं,
एकमात्र आशा पहचान की है लगी हुई,
इससे भी करो पार !
नेत्र देखते हैं यह सारा ब्रह्माण्ड,
नहीं देखते वे अपने को[1],
देखें भी क्यों कहो ?——
देखते अपना ही मुख
दूसरों का देख रूप।
मेरे तुम नेत्र हो,
रूप तुम्हारा ही सब घटों में विराजमान।
बालकेलि करता हूँ तुमसे मैं
और क्रोध करके देव
तुमसे किनारा कर जाना कभी चाहता हूँ
किन्तु निशा-काल में
शय्या के शिरोभाग में,
देखता हूँ तुमको मैं खड़े हुए,——
चुपचाप,——आँखें छलछलाई हुई,
हेरते हो मेरे तुम मुख की ओर।
उसी समय बदल जाता भाव मेरा,
पैरों पड़ता हूँ,

---

१. पूरे विश्व को देखकर, आँखें अब अपने को देखना नहीं चाहती हैं। इसका कारण बाद में बतलाया गया है।

पर क्षमा नहीं माँगता;
तुम नहीं करते हो रोष।
पुत्र हूँ तुम्हारा, कहो,
और कोई कैसे इस प्रगल्भता को
सहन कर सकता है?
प्रभु हो तुम मेरे,
तुम प्राणसखा मेरे हो।
कभी देखता हूँ—
"तुम मैं हो, मैं तुम हूँ,
तुम वाणी, हो वीणापाणि मेरे तुम कण्ठ में—
तुम्हारी ही तरंगों से बह जाते नारी-नर।"
सिन्धु-नाद जैसा तुम्हारा हुंकार है,
सूर्य और चन्द्र में हैं वचन तुम्हारे देव,
मृदु मन्द पवन तुम्हारा आलाप है,
ये सब हैं सच बातें,
किन्तु फिर भी स्थूल भाव ही है यह,
तत्त्व-वेत्ताओं का प्रसंग यह है नहीं।
सूर्य-चन्द्र-तारा-ग्रहमण्डल सब,
कोटि कोटि मण्डली-निवास,
धूमकेतु, बिजली की चमक और
विस्तृत अनन्त यह आकाश देखता है मन।
काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि,
इस तरंग-लीला का उत्थान जहाँ होता है,
विद्या-अविद्या का स्थान,
जन्म-जरा-जीवन-मरण जैसे
सुख-दुःख-द्वन्द्वों से भरा,
केन्द्र जिसका अहं है,
दोनों भुज—बहिः और अभ्यन्तर,
आसमुद्र आसूर्य-चन्द्रमा,
आतारक, अनन्त आकाश,
मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार,
देव-यक्ष-मानव-दानव-गण,

पशु-पक्षी-कृमि-कीट आदि,
अणुक-द्वयणुक-जड़जीव,
उसी समक्षेत्र में हैं विद्यमान।
अति स्थूल ही तो किन्तु यह बाह्य विकास है
केश जैसे मस्तक पर।
मेरुतट पर हिमाच्छादित पर्वत
है योजनों का उसका विस्तार;
निरभ्र नभ में उठे अभ्रभेदी बहु शृंग;
दृष्टि झुलसाती हैं हिमशिलाएँ,
बिजली के प्रकाश से सौगुण बढ़ा है तेज।
उत्तर अयन में
एकीभूत किरणों की हज़ारों ज्योति-रेखाएँ
कोटि-वज्र-सम-खर कर-धारा जब ढालती हैं,
हर एक शृंग पर
मूर्च्छित हुए से भुवन-भास्कर नज़र आते हैं,
गलता हिमशृंग जब टपकता है गुहा में,
घोर नाद करता हुआ
टूट जब पड़ता गिरि,
स्वप्न सम जलबिम्ब जल में मिल जाता है।
मन की सब वृत्तियाँ जब एक ही हो जाती हैं,
कोटि सूर्य से भी बढ़ा
फैलता है चित्प्रकाश,
गल जाते सूर्य-चन्द्र-तारा-दल—
खमण्डल-तलातल-पाताल भी,
ब्रह्माण्ड गोष्पद समान जान पड़ता तब।
बाह्य भूमि के बाहर जाता जब, शान्तधातु होता,
मन निश्चल होता है स्थिर,
तंत्रियाँ हृदय की सब ढीली पड़ जाती हैं,
खुल जाते बन्धनसमूह
और दूर होते माया-मोह,
गूंजता अनाहत नाद सुन्दर तुम्हारा वहाँ,
भक्तिपूर्वक सुनता यह दास

है तत्पर सदा ही
पूर्ण करने को तुम्हारा काम।

"मैं ही विद्यमान हूँ,
प्रलय के समय में
अनन्त ब्रह्माण्ड ग्रास करके जब
ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता मिट जाते हैं,
नामोनिशान नहीं रहते संसार के—
पार करता तर्क की भी सीमा को
नहीं रहते हैं जब सूर्य-चन्द्र-तारा-ग्रह—
वह महा निर्वाण है—
नहीं रह जाता कर्म करण या कारण कुछ,
घोर अन्धकार होता अन्धकार-हृदय में,
(तब) मैं ही विद्यमान हूँ।

"मैं ही विद्यमान हूँ,
प्रलय के समय में
अनन्त ब्रह्माण्ड ग्रास करके जब
ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता मिट जाते हैं,
नामोनिशान नहीं रहते संसार के—
पार करता तर्क की भी सीमा को,
नहीं रहते हैं जब सूर्य-चन्द्र-तारा-ग्रह
घोर अन्धकार होता अन्धकार-हृदय में,
दूर होते जगत् के तीनों गुण—
अथवा वे मिल करके शान्त भाव धरते जब
एकाकार होते सूक्ष्म शुद्ध परमाणुकाय,
(तब) मैं ही विद्यमान हूँ।

"मैं विकसित फिर होता हूँ।
मेरी ही शक्ति धरती पहले विकार-रूप।
आदि वाणी प्रणव-ओंकार ही
बजता महाशून्य-पथ में,

अनन्त आकाश है सुनता महानाद-ध्वनि
कारणमण्डली की निद्रा छूट जाती है,
अनन्त अनन्त परमाणुओं में
प्राण भी आ जाते हैं,
नर्तन-आवर्त औ' उच्छ्वास
बड़ी दूर से
चलते केन्द्र ही की ओर,
चेतन पवन है उठाती ऊर्मिमालाएँ
महाभूत-सिन्धु पर,
परमाणुओं के आवर्त घन विकास और
रंग-भंग-पतन-उच्छ्वास-संग
बहती बड़े वेग से हैं वे तरंगराजियाँ
जिनसे अनन्त—हाँ, अनन्त खण्ड उठे हुए
घात-प्रतिघातों से
शून्यपथ में दौड़ते हैं—
खमण्डल बन बनकर,
तारा-ग्रह घूमते हैं,
घूमती यह पृथ्वी भी—मनुष्यों की वास-भूमि।

"आदि कवि मैं ही हूँ,
मेरी ही शक्ति के रचना-कौशल में हैं
जड़ और जीव सारे।
मैं ही खेलता हूँ शक्तिरूपिणी निज माया से।
एक, होता हूँ अनेक
मैं देखने के लिए सब अपने स्वरूपों को।

"आदि कवि मैं ही हूँ,
मेरी ही शक्ति के रचना-कौशल में हैं
जड़ और जीव सारे।
मेरी ही आज्ञा से
बहती इस वेग से झंझा इस पृथ्वी पर,
गरज उठता है मेघ—

अशनि में नाद होता,
मृदु मन्द वायु भी
आती और जाती है
मेरे ही श्वास के ग्रहण और त्याग में;
हिमकर सुख-हिमकर की धारा जब बहती है,
तरु औ' लताएँ हैं ढकतीं धरा की देह,
शिशिर से धुले हुए मुख को उठा करके
ताकते रह जाते हैं
भास्कर को सुमनवृन्द !"

नाचे उस पर श्यामा[1]

फूले फूल सुरभि-व्याकुल, अलि गूंज रहे हैं चारों ओर।
जगतीतल में सकल देवता भरते शशि-मृदु हँसी-हिलोर॥
गन्ध-मन्द-गति मलय-पवन है खोल रही स्मृतियों के द्वार।
ललित-तरंग नदी-नद-सरसी, चल-शतदल पर भ्रमर-विहार॥
दूर गुहा में निर्झरिणी की तान-तरंगों का गुंजार।
स्वरमय किसलय-निलय[2] विहंगों के बजते सुहाग के तार॥
तरुण चितेरा अरुण बढ़ाकर स्वर्ण-तूलिका-कर सुकुमार।
पट-पृथिवी पर रखता है जब, कितने वर्णों का संचार॥
हो जाता है जगतीतल पर, खिलते कितने राग अपार।

---

१. इस कविता में यथाक्रम कोमल और कठोर भावों के चित्र दिखलाये गये हैं। कोमलता सभी चाहते हैं, परन्तु कोई कठोर भाव नहीं चाहता; सब उससे दूर रहना चाहते हैं। परन्तु यदि कोमलप्राणता दारिद्र्य, दुःख-रोग, व्याधि-आधि देखकर भयविह्वल होती हो, तो वह कोमलता वास्तव में दुर्बलता और कापुरुषता है। उसे दूर कर सदा मृत्यु को भर बाँह भेंटने के लिए तैयार रहना ही वीरत्व और मनुष्यत्व है। इसी तरह के कठोर भाव के उपासकों के हृदय में श्यामा का नृत्य होता है। स्वामी जी ने बड़ी ही प्रांजल भाषा और गम्भीर भावों में इसका वर्णन किया है।

२. पक्षियों का जैसे कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, वे जैसे कुछ स्वरों के समष्टिस्वरूप हैं।

देख देख भावुक-जन-मन में जगते कितने भाव उदार॥
गरज रहे हैं मेघ अशनि का गूंजा घोर निनाद-प्रमाद।
स्वर्ग-धरा-व्यापी संगर का छाया विकट-कटक-उन्माद॥
अन्धकार उद्गीरण करता अन्धकार घन घोर अपार।
महाप्रलय की वायु सुनाती साँसों में अगणित हुंकार॥
तिस पर चमक रही है रक्तिम विद्युज्ज्वाला वारम्बार।
फेनिल लहरें गरज चाहतीं करना गिरि-शिखरों को पार॥
भीम-घोष-गम्भीर, अतल धँस, टलमल करती धरा अधीर।
अनल निकलता छेद भूमितल, चूर हो रहे अचल शरीर॥

हैं सुहावने मन्दिर कितने, नील-सलिल-सर-वीचि-विलास।
वलयित कुवलय, खेल, खिलाती मलय वनज-वन-यौवन-हास॥
बढ़ा रहा है अंगूरों का हृदय-रुधिर प्याले का प्यार[१]।
फेनशुभ्र-सिर उठे बुलबुले मन्द मन्द करते गुंजार॥
बजती है श्रुतिपथ में वीणा, तारों की कोमल झनकार।
ताल ताल पर चली बढ़ाती ललित वासना का संसार॥
भावों में क्या जाने कितना ब्रज का प्रकट प्रेम-उच्छ्वास।
आँसू बहते, विरह ताप से तप्त गोपिकाओं के श्वास॥
नीरज-नील नयन, बिम्बाधर जिस युवती के अति सुकुमार।
उमड़ रहा जिसकी आँखों पर मृदु भावों का पारावार॥
बढ़ा हाथ दोनो मिलने को बढ़तीं, प्रकट प्रेम-अभिसार।
प्राण-पखेरू, प्रेम-पींजरा; बन्द! बन्द है उसका द्वार॥
भेरी झर्रर झर्रर दमामें, घोर नकारों की है चोप।
कड़क कड़क सन्सन् बन्दूकें, अर्रर अर्रर अर्रर तोप॥
घूम घूम हैं भीम रणस्थल, शत शत ज्वालामुखियाँ घोर।
आग उगलतीं दहक दहक दह कँपा रहीं भू-नभ के छोर॥
फटते लगते हैं छाती पर घाती गोले सौ सौ बार।
उड़ जाते हैं कितने हाथी, कितने घोड़े और सवार॥

---

१. द्राक्षाफल के रस (हृदय-रुधिर) से मदिरा बनायी जाती है, उसे गिलास में डालने से उसके ऊपर का भाग सफ़ेद फेनयुक्त हो जाता है और मन्द मन्द शब्द करता है।

थर थर पृथ्वी थर्राती हैं, लाखों घोड़े कस तैयार।
करते चढ़ते; बढ़ते अड़ते, झुक पड़ते हैं वीर जुझार॥
भेद धूमतल—अनल, प्रवल दल, चीर गोलियों की बौछार।
धँस गोलों-ओलों में, लाते छीन तोप कर बेड़ी मार॥
आगे फहराती जाती है ध्वजा, वीरता की पहचान।
झरती धारा-रुधिर दण्ड में, अड़े पड़े पर वीर जवान॥
साथ साथ पैदल-दल चलता, रण-मद-मतवाले सव वीर।
छुटी पताका, गिरा वीर जव, लेता पकड़ अपर रणधीर॥
पटे खेत अगणित लाशों से कटे हज़ारों वीर जवान।
डटे लाश पर पैर जमाये हटे न वीर छोड़ मैदान॥

देह चाहती है सुख-संगम, चित्त-विहंगम स्वर-मधु-धार।
हँसी-हिंडोले झूल चाहता मन जाना दुःख-सागर पार॥
हिम-शशांक का किरण-अंक-सुख कहो कौन जो देगा छोड़—
तपन-तप्त-मध्याह्न-प्रखरता से नाता जो लेगा जोड़?
चण्ड दिवाकर ही तो भरता शशधर में कर-कोमल प्राण।
किन्तु कलाधर ही को देता सारा विश्व प्रेम-सम्मान[1]॥
सुख के हेतु सभी हैं पागल, दुःख पर किस पामर का प्यार।
सुख में है दुःख, गरल अमृत में, देखो बता रहा संसार॥
सुख-दुःख का यह निरा हलाहल भरा कण्ठ तक, सदा अवीर।
रोते मानव, पर आशा का नहीं छोड़ते चंचल चीर॥
रुद्ररूप से सब डरते हैं, देख देख भरते हैं आह।
मृत्युरूपिणी मुक्तकुन्तला माँ की नहीं किसीको चाह॥
उष्ण धार उद्‌गार रुधिर का करती है जो बारम्बार।
भीम भुजा की, वीन छीनती वह जंगी नंगी तलवार॥

मृत्यु-स्वरूपे माँ! है तू ही सत्यस्वरूपा सत्याधार।
काली! सुख-वनमाली तेरी माया-छाया का संसार[2]॥

---

१. चन्द्र का प्राण सूर्य है। लेकिन सूर्य को छोड़कर चन्द्र ही सबको अच्छा लगता है! सबको कोमल भाव इतना प्रिय है!

२. प्रचण्ड सूर्य-किरण ही जैसे सत्य है, स्निग्ध चन्द्र-किरण जैसे उसीकी

अये कालिके ! माँ करालिके ! शीघ्र मर्म का कर उच्छेद।
इस शरीर पर प्रेम भाव, यह सुख-सपना, माया कर भेद॥
तुझे मुण्डमाला पहनाते, फिर भय खाते तकते लोग।
'दयामयी' कह कह चिल्लाते, माँ दुनिया का देखा ढोंग॥
प्राण काँपते अट्टहास सुन, दिगम्बरा का लख उल्लास।
अरे भयातुर, 'असुर विजयिनी'[१] कह रह जाता, खाता त्रास॥
मुँह से कहता है, देखेगा, पर माँ, जब आता है काल।
कहाँ भाग जाता भय खाकर तेरा देख वदन विकराल॥
माँ ! तू मृत्यु, घूमती रहती, उत्कट व्याधि रोग बलवान।
भर-विष-घड़े, पिलाती है तू घूंट जहर के, लेती प्राण॥
रे उन्मत्त ! भुलाता है तू अपने को, न फिराता दृष्टि।
पीछे भय से, कहीं देखे तू—भीमा महाप्रलय की सृष्टि॥
दुःख चाहता, वता उसमें क्या भरी नहीं है सुख की प्यास।
तेरी भक्ति और पूजा में चलती स्वार्थ-सिद्धि की साँस॥
छागकण्ठ की रुधिर-धार से सहम रहा तू भ्रम-सचार।
अरे कापुरुष ! बना दया का तू आधार—धन्य व्यवहार ![२]

छाया मात्र है, रुद्र भाव भी वैसे ही यथार्थ सत्यस्वरूप, प्राणस्वरूप है और कोमल भाव (सुख-वनमाली) उस रुद्र भाव की छाया मात्र है। सुख-वनमाली—दूसरे किसी भाव के न रहने से विलास के भाव की उद्दीपना करता है। ये सब भाव आपातमधुर होने पर भी प्राणदायी, बलदायी नहीं हैं।

१. सिर्फ़ 'सुखमय' भाव से कितनी कायरता आ सकती है, यह दिखाया गया है। श्यामा माँ की साधना आरम्भ करने पर, माँ की मुण्डमाला देखकर, 'भय खानेवाले लोग' बाद में 'दयामयी' कह कह चिल्लाते हैं। और भी, भय से, माँ को 'असुर-विजयिनी' कहते हैं। यहाँ साधक का, श्यामा माँ के ऊपर प्रेम, प्रीति नहीं है—उसके बदले भय और कापुरुषता है। श्यामा तब 'माँ' नहीं हैं, परन्तु 'दयामयी' और 'असुर-विजयिनी' हैं।

२. बलि देते समय रक्त देखकर भय से देह काँप उठती है। भय, अवसाद इत्यादि दुर्बलता के लक्षण हैं। प्रेम मनुष्य को निडर बनाता है। इधर स्वार्थसिद्धि की आशा में, ऐसे तो किसीका सर्वनाश करने के लिए ही पूजा का आयोजन किया गया है; परन्तु रक्त देखकर ही भय से अस्थिर हो जाता है !!

फोड़ो वीणा प्रेमसुधा का पीना छोड़ो, तोड़ो वीर।
दृढ़ आकर्षण है जिसमें उस नारी-माया की जंजीर॥
बढ़ जाओ तुम उदधि-ऊर्मि से गरज गरज गाओ निज गान।
आँसू पीकर जीना, जाये देह, हथेली पर लो जान॥
जागो वीर! सदा ही सिर पर काट रहा है चक्कर काल।
छोड़ो अपने सपने, भय क्यों? काटो—काटो यह भ्रमजाल॥
दुःखभार इस भव के ईश्वर जिनके मन्दिर का दृढ़ द्वार।
जलती हुई चिताओं में है, प्रेत-पिशाचों का आगार॥
सदा घोर संग्राम छेड़ना उनकी पूजा के उपचार।
वीर! डराये कभी न, आये अगर पराजय सौ सौ बार॥
चूर चूर हो स्वार्थ, साध, सब मान, हृदय हो महाश्मशान।
नाचे उस पर श्यामा, लेकर घन रण में निज भीम कृपाण॥

काली माता

छिप गये तारे गगन के,
बादलों पर चढ़े बादल,
काँपकर घहरा अँधेरा,
गरजते तूफ़ान में, शत
लक्ष पागल प्राण छूटे
जल्द कारागार से—द्रुम
जड़ समेत उखाड़कर, हर
बला पथ की साफ़ करके।
शोर से आ मिला सागर,
शिखर लहरों के पलटते
उठ रहे हैं कृष्ण नभ का
स्पर्श करने के लिए द्रुत,
किरण जैसे अमंगल की
हर तरफ़ से खोलती है
मृत्यु-छायाएँ सहस्रों,
देहवाली घनी काली।
आधि-व्याधि बिखेरती, ऐ

नाचती पागल हुलसकर
आ, जननि, आ जननि, आ, आ!
नाम है आतंक तेरा,
मृत्यु तेरे श्वास में है,
चरण उठकर सर्वदा को
विश्व एक मिटा रहा है,
समय तू है, सर्वनाशिनि,
आ, जननि, आ, जननि, आ, आ!
साहसी, जो चाहता है
दुःख, मिल जाना मरण से,
नाश की गति नाचता है,
माँ उसीके पास आयी।

सागर के वक्ष पर

नील आकाश में बहते हैं मेघदल,
श्वेत कृष्ण बहुरंग,
तारतम्य उनमें तारल्य का दीखता,
पीत भानु माँगता है विदा,
जलद रागछटा दिखलाते।

बहती है अपने ही मन से समीर,
गठन करता प्रभंजन,
गढ़ क्षण में ही, दूसरे क्षण में मिटता है,
कितने ही तरह के सत्य जो असम्भव हैं—
जड़ जीव, वर्ण तथा रूप और भाव बहु।

आती वह तुलाराशि जैसी,
फिर बाद ही लखो महानाग,
देखो विक्रम दिखाता सिंह,
लखो युगल प्रेमियों को,
किन्तु मिल जाते सब
अन्त में आकाश में।

नीचे सिन्धु गाता बहु तान,
महीमान किन्तु नहीं वह,
भारत, तुम्हारी अम्बुराशि विख्यात है,
रूप-राग जलमय हो जाते हैं,
गाते हैं यहाँ किन्तु
करते नहीं गर्जन'।

शिव-संगीत

(ताल—सुर-फाँकताल)

हर हर हर भूतनाथ पशुपति।
योगेश्वर महादेव शिव पिनाकपाणि।।
ऊर्ध्व ज्वलन्त जटाजाल, नाचत व्योमकेश भाल,
सप्त भुवन धरत ताल, टलमल अवनी।।

श्रीकृष्ण-संगीत

(मुलतान—ढिमा त्रिताली)

मुझे वारि वनोयारी सैंया
जाने को दे।
जाने को दे रे सैंया
जाने को दे (आजु भला)।।
मेरो वनोयारी, बाँदि तुहारि
छोड़े चतुराइ सैंया
जाने को दे (आजु भला)
(मोरे सैंया)
जमुना किनारे, भरों गागरिया
जोरे कहत सैंया
जाने को दे।।

---

१. दूसरी बार पश्चिम से लौटते समय, स्वामी जी ने यह कविता लिखी थी। शायद इस समय वे भूमध्यसागर का पूर्व भाग पार कर रहे थे।

शिवस्तोत्रम्

ॐ नमः शिवाय

निखिलभुवनजन्मस्थेमभंगप्ररोहाः
अकलितमहिमानः कल्पिता यत्र तस्मिन् ।
सुविमलगगनाभे त्वीशसंस्थेप्यनीशे
मम भवतु भवेऽस्मिन् भासुरो भावबन्धः ॥१॥

जिनमें समस्त जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय, अगणित विभूतियों के रूप में कल्पित किये गये हैं, जो सुनिर्मल आकाश के समान हैं, जो जगत् के ईश्वर-स्वरूप होकर स्थित हैं, परन्तु जिनका और कोई नियन्ता नहीं है, उन्हीं महादेव में मेरा दृढ़ और उज्ज्वल प्रेम हो ॥१॥

निहतनिखिलमोहेऽधीशता यत्र रूढा
प्रकटितपरप्रेम्ना यो महादेवसंज्ञः ।
अशिथिलपरिरम्भः प्रेमरूपस्य यस्य
हृदि प्रणयति विश्वं व्याजमात्रं विभुत्वम् ॥२॥

जिन्होंने समस्त अज्ञान का नाश किया है, जिनमें ईश्वरत्व (स्वाभाविक रूप से) अवस्थित है, जो (हलाहल पान कर जगत् के जीवों के प्रति) परम प्रेम प्रकाश करने पर महादेव के नाम से पुकारे गये हैं, जिन प्रेमस्वरूप के दृढ़ आलिंगन से समस्त ऐश्वर्य ही हमारे हृदय में माया मात्र रूप से प्रतिभात होता है, उन्हीं महादेव में मेरा दृढ़ और उज्ज्वल प्रेम हो ॥२॥

वहति विपुलवातः पूर्वसंस्काररूपः
प्रमथति बलवृन्दं घूर्णितेवोर्मिमाला ।
प्रचलति खलु युग्मं युष्मदस्मत्प्रतीतं
अतिविकलितरूपं नौमि चित्तं शिवस्थम् ॥३॥

जिसमें पूर्वसंस्काररूपी प्रबल वायु बह रही है, जो घूर्णायमान तरंग-समूह की तरह बलवान व्यक्तियों को भी दलित कर रही है, जिसमें तुम और मैं के रूप

में प्रतिभात होनेवाला द्वन्द्व चल रहा है, शिव में संस्थापित उस अतिशय विकृतरूप चित्त की मैं वन्दना करता हूँ ॥३॥

जनकजनितभावो वृत्तयः संस्कृताश्च
अगणनबहुरूपा यत्र चैको यथार्थः।
शमितविकृतिवाते यत्र नान्तर्बहिश्च
तमहह हरमीडे चित्तवृत्तेर्निरोधम् ॥४॥

कार्य-कारण भाव और तरह तरह की असंख्य निर्मल वृत्तियाँ रहने पर भी जहाँ एक ही यथार्थ वस्तु है, विकाररूपी वायु शान्त होने पर जहाँ भीतर और बाहर नहीं रहता है, अहा! उन्हीं चित्तवृत्ति के निरोधरूपी महादेव का मैं स्तवन करता हूँ ॥४॥

गलिततिमिरमालः शुभ्रतेजःप्रकाशः
धवलकमलशोभः ज्ञानपुञ्जाट्टहासः।
यमिजनहृदिगम्यो निष्कलो ध्यायमानः
प्रणतमवतु मां सः मानसो राजहंसः ॥५॥

जिनसे अज्ञानरूपी सारा अन्धकार नष्ट हुआ है, शुभ्र ज्योति की तरह जिनका प्रकाश है, जो श्वेतवर्ण के पद्म की तरह शोभा धारण किये हुए हैं, ज्ञान-राशि जिनका अट्टहासरूप है, जो संयमी व्यक्ति के हृदय में पाये जा सकते हैं, जो अखण्डस्वरूप हैं, मेरे द्वारा ध्यात होकर वे मनरूपी सरोवर के राजहंसरूपी शिव, मुझ प्रणत की रक्षा करें ॥५॥

दुरितदलनदक्षं दक्षजादत्तदोषं
कलितकलिकलंकं कम्रकह्लारकान्तम्।
परहितकरणाय प्राणप्रच्छेदप्रीतं
नतनयननियुक्तं नीलकण्ठं नमामः ॥६॥

जो पाप नाश करने में समर्थ हैं, दक्ष की कन्या सती ने जिनमें कभी दोष नहीं देखा; या सती ने जिन्हें अपना पाणि प्रदान किया, जो कलि-दोष-समूह का नाश करते हैं, जो सुन्दर श्वेत पद्म की तरह मनोहर हैं, दूसरे के कल्याण के लिए

प्राण-त्याग करने में जिनकी सदा ही प्रीति रहती है, प्रणत व्यक्तियों का कल्याण करने के लिए जिनकी दृष्टि सदा उनकी ओर लगी रहती है, उन्हीं नीलकण्ठ महादेव को हम प्रणाम करते हैं॥६॥

अम्बास्तोत्रम्

का त्वं शुभे शिवकरे सुखदुःखहस्ते
आघूर्णितं भवजल प्रबलोर्मिभंगैः।
शान्ति विधातुमिह किं बहुधा विभग्नां
मातः प्रयत्नपरमासि सदैव विश्वे॥१॥

हे कल्याणमयी माँ! सुख और दुःख तुम्हारे दो हाथ है, तुम कौन हो? संसाररूपी जल, प्रचण्ड तरंग-समूह के द्वारा घूर्णायमान हो रहा है। तुम क्या सदा नाना प्रकार से भग्न शान्ति को जगत् में प्रतिष्ठित करने के लिए यहाँ चेष्टा करने में मग्न हुई हो॥१॥

सम्पादयन्त्यविरतं त्वविरामवृत्ता
यां वै स्थिता कृतफलं त्वकृतस्य नेत्री।
सा मे भवत्वनुदिनं वरदा भवानी
जानाम्यहं ध्रुवमियं धृतकर्मपाशा॥२॥

जो नियत क्रियाशील देवी सदा कृतकर्म के फल को नियमित रूप से संयोजित करती हुई अवस्थित है, (जिनके कर्मों का क्षय हो गया है, उनको) जो मोक्ष-पद को ले जाती हैं, वही भवानी मेरे प्रति सदा वरप्रदायिनी हों। मैं निश्चित जानता हूँ, वे कर्मरूपी रज्जु को धारण किये हुए हैं॥२॥

किं वा कृतं किमकृतं क्व कपाललेखः
किं कर्म वा फलमिहास्ति हि यां विना भोः।
इच्छागुणैर्नियमिता नियमाः स्वतन्त्रै-
र्यस्याः सदा भवतु सा शरणं ममाद्या॥३॥

हे (नरगण!) इस जगत् में जिनके बिना धर्म या अधर्म अथवा कपाल की

भाग्य-रेखाएँ या कर्म या (उसका) फल—ये सब कुछ भी हो नहीं सकते हैं, जिनकी स्वाधीन इच्छारूपी रज्जु द्वारा सारे नियम परिचालित हो रहे हैं, वही आदि कारणस्वरूपा देवी सदा हमारी आश्रयस्वरूप हों॥३॥

सन्तानयन्ति जलधिं जनिमृत्युजालं
सम्भावयन्त्यविकृतं विकृतं विभग्नम्।
यस्या विभूतय इहामितशक्तिपालाः
नाश्रित्य तां वद कुतः शरणं व्रजामः॥४॥

इस संसार में, जिनकी अपरिमित शक्तिशाली विभूतियाँ जन्म-मृत्युजालरूपी समुद्र का विस्तार कर रही हैं और अविकारी वस्तु को विकृत और भग्न कर रही हैं, बोलो, उनका आश्रय न लेकर किनकी शरण लेंगे॥४॥

मित्रे रिपौ त्वविषमं तव पद्मनेत्रं
स्वस्थेऽसुखे त्ववितथस्तव हस्तपातः।
छाया मृतेस्तव दया त्वमृतञ्च मातः
मुञ्चन्तु मां न परमे शुभदृष्टयस्ते॥५॥

शत्रु और मित्र सबके प्रति ही तुम्हारे पद्मनेत्र समान भाव से निक्षिप्त हो रहे हैं, सुखी और दुःखी सब व्यक्तियों को तुम समान भाव से हाथ दे रही हो; अयि माँ, मृत्यु की छाया और अमृत या जीवन—ये दोनों ही तुम्हारी दया हैं। अयि परमे, तुम्हारी शुभ दृष्टि मेरा परित्याग न करे॥५॥

क्वाम्बा शिवा क्व गृणनं मम हीनबुद्धेः
दोर्भ्यां विधर्तुमिव यामि जगद्विधात्रीम्।
चिन्त्यं श्रिया सुचरणं त्वभयप्रतिष्ठं
सेवापरैरभिनुतं शरणं प्रपद्ये॥६॥

वह कल्याणकारिणी माता कहाँ और हीनबुद्धि मेरे ये स्तव-वाक्य कहाँ? मैं अपने इन (क्षुद्र) दो हाथों से जगत् की विधात्री को जैसे पकड़ने के लिए उद्यत हो रहा हूँ। लक्ष्मी जिनका चिन्तन करती हैं, जिनमें मुक्ति प्रतिष्ठित है, सेवापरायण जनगण जिनकी वन्दना करते हैं, मैंने उन्हीं सुन्दर पादपद्मों का आश्रय लिया है॥६॥

या मां चिराय विनयत्यतिदुःखमार्गै-
रासिद्धितः स्वकलितैर्ललितैर्विलासैः।
या मे मतिं सुविदधे सततं धरण्यां
साम्बा शिवा मम गतिः सफलेऽफले वा॥७॥

जो सिद्धि-लाभ तक सदा सर्वदा मुझे अपनी मनोहर लीला द्वारा अति दुःखमय रास्ते से ले जा रही हैं, जो इस पृथ्वी पर सदा मेरी बुद्धि को उत्तम रूप से चला रही हैं, चाहे मैं सफल होऊँ या निष्फल, वे कल्याणमयी जननी ही मेरी गति हैं॥७॥

श्री रामकृष्ण-स्तोत्रम्

(१)

ॐ ह्रीं ऋतं त्वमचलो गुणजित् गुणेड्यो
नक्तन्दिवं सकरुणं तव पादपद्मम्।
मोहंकषं बहुकृतं न भजे यतोऽहं
तस्मात्त्वमेव शरणं मम दीनबन्धो॥१॥

ॐ ह्रीं, तुम सत्य अचल, त्रिगुणजयी और दिव्य गुणसमूहों के लिए स्तव के योग हो, मैं तुम्हारे मोहविनाशक पूजनीय चरण-कमलों का व्याकुल भाव से दिन-रात भजन नहीं करता, इसीलिए हे दीनबन्धो, तुम्हीं मेरे आश्रय हो॥१॥

भक्तिर्भगश्च भजनं भवभेदकारि
गच्छन्त्यलं सुविपुलं गमनाय तत्त्वम्।
वक्त्रोद्धृतन्तु हृदि मे न च भाति किञ्चित्
तस्मात्त्वमेव शरणं मम दीनबन्धो॥२॥

संसारविनाशी भक्ति, वैराग्यादि और उपासना की सहायता से मनुष्य अति महान् ब्रह्मतत्त्व तक पहुँचने में समर्थ होता है, किन्तु इस तरह के वाक्य मेरे मुख से उच्चारित होते हुए भी हृदय में कुछ भी आभास नहीं होता, इसीलिए हे दीनबन्धो, तुम्हीं मेरे आश्रय हो॥२॥

तेजस्तरन्ति तरसा त्वयि तृप्ततृष्णाः
रागे कृते ऋतपथे त्वयि रामकृष्णे।
मर्त्यामृतं तव पदं मरणोर्मिनाशं
तस्मात्त्वमेव शरणं मम दीनबन्धो॥३॥

हे रामकृष्ण, सत्य के पथस्वरूप, तुम पर अनुराग होने से मनुष्य तुमको ही पाकर पूर्णकाम होता है, और शीघ्र रजोगुण से पार हो जाता है; मृत्युरूप तरंग के विनाशकारी तुम्हारे चरण मर्त्य जगत् में अमृतस्वरूप हैं; इसीलिए हे दीनबन्धो, तुम्हीं मेरे आश्रय हो ॥३॥

कृत्यं करोति कलुषं कुहकान्तकारि
ष्णान्तं शिवं सुविमलं तव नाम नाथ।
यस्मादहं त्वशरणो जगदेकगम्य
तस्मात्त्वमेव शरणं मम दीनबन्धो ॥४॥

हे नाथ, तुम्हारा मायासंहारी अति पवित्र 'ष्ण' अक्षर में अन्त होनेवाला (रामकृष्ण) नाम पाप को भी पुण्य में परिणत करता है; तुम जगत् के एकमात्र आश्रय हो; क्योंकि मैं निराश्रय हूँ, इसीलिए हे दीनबन्धो, तुम्हीं मेरे आश्रय हो ॥४॥

(२)

आचण्डालाप्रतिहतरयो यस्य प्रेमप्रवाहः
लोकातीतोऽप्यहह न जहौ लोककल्याणमार्गम्।
त्रैलोक्येऽप्यप्रतिममहिमा जानकीप्राणबंधः
भक्त्या ज्ञानं वृतवरवपुः सीतया यो हि रामः ॥१॥

जिनके प्रेम का प्रवाह, चाण्डाल तक अबाध गति से बहता था, अर्थात् जो चाण्डाल के प्रति भी प्रेम करने में कुण्ठित नहीं हुए, अहा ! जिन्होंने मनुष्य-स्वभाव के अतीत होकर भी लोगों का कल्याण करने का पथ नहीं छोड़ा (अर्थात् जो सदा लोगों की कल्याण-चिन्ता और उसके अनुष्ठान में ही रत थे), स्वर्ग, मर्त्य और पाताल—इन तीनों लोकों में भी जिनकी महिमा की तुलना नहीं, जो सीता के परम प्रेमास्पद थे, जिन ज्ञानस्वरूप रामचन्द्र जी की श्रेष्ठ देह भक्तिस्वरूपिणी सीता द्वारा आवृत थी ॥१॥

स्तब्धीकृत्य प्रलयकलितं वाहवोत्थं महान्तं
हित्वा रात्रिं प्रकृतिसहजामन्धतामिस्रमिश्राम्।
गीतं शान्तं मधुरमपि यः सिंहनादं जगर्ज
सोऽयं जातः प्रथितपुरुषो रामकृष्णस्त्विदानीम् ॥२॥

कुरुक्षेत्र के युद्ध के समय जो भयानक प्रलय-तुल्य (हुंकार) हुआ था, उसे जिन्होंने स्तब्ध किया एवं (अर्जुन की) स्वाभाविक घोर अन्धतामिस्ररूप अज्ञान-रजनी को दूरकर जिन्होंने शान्त और मधुर गीत अर्थात् गीता शास्त्र को सिंह-नाद से गर्जन करके कहा था—उन्हीं विख्यात परम पुरुष ने इस काल में 'रामकृष्ण'-रूप में जन्म लिया है।।२।।

(३)

नरदेव देव जय जय नरदेव
शक्तिसमुद्रसमुत्थतरंगं
दर्शितप्रेमविजृम्भितरंगम्।
संशयराक्षसनाशमहास्त्रं
यामि गुरुं शरणं भववैद्यम्
नरदेव देव जय जय नरदेव।।१।।

हे नरदेव देव! तुम्हारी जय हो! जो शक्तिरूपी समुद्र से उत्थित तरंगस्वरूप हैं, जिन्होंने प्रेम की तरह तरह की लीला दिखायी है, जो सन्देह-रूपी राक्षस के विनाश के हेतु महा अस्त्रस्वरूप हैं, उन्हीं संसाररूपी रोग के वैद्य गुरु का आश्रय मैं लेता हूँ। हे नरदेव देव! तुम्हारी जय हो।।१।।

अद्वयतत्त्वसमाहितचित्तं
प्रोज्ज्वलभक्तिपटावृतवृत्तम्।
कर्मकलेवरमद्भुतचेष्टम्
यामि गुरुं शरणं भववैद्यम्
नरदेव देव जय जय नरदेव।।२।।

एक अद्वितीय (ब्रह्म) तत्त्व में जिनका चित्त समाहित है, जिनका चरित्र अति श्रेष्ठ भक्तिरूपी वस्त्र से आच्छादित है (अर्थात् जिनके भीतर ज्ञान और बाहर भक्ति है), जिनकी देह कर्ममय है, अर्थात् जो देह के द्वारा लगातार लोगों के हित के लिए कर्म कर रहे हैं, जिनका कार्यकलाप अति अद्भुत है, उन्हीं संसाररूपी रोग के वैद्य गुरु का मैं आश्रय लेता हूँ। हे नरदेव देव! तुम्हारी जय हो।।२।।

श्री रामकृष्ण-आरत्रिकम्

खण्डन भव-बन्धन, जगवन्दन, वन्दि तोमाय।
निरंजन, नररूपधर, निर्गुण, गुणमय॥
मोचन-अघदूषण, जगभूषण, चिद्घनकाय।
ज्ञानांजन-विमल-नयन, वीक्षणे मोह जाय॥
भास्वर भाव-सागर चिर-उन्मद प्रेम-पाथार।
भक्तार्जन-युगलचरण, तारण भव-पार॥
जृम्भित-युग-ईश्वर, जगदीश्वर, योगसहाय।
निरोधन, समाहित मन, निरखि तव कृपाय॥
भंजन-दुःखगंजन, करुणाघन, कर्मकठोर।
प्राणार्पण-जगत्-तारण, कृन्तन-कलिडोर॥
वंचन-कामकांचन, अतिनिन्दित-इन्द्रिय-राग।
त्यागीश्वर, हे नरवर, देहो पदे अनुराग॥
निर्भय, गतसंशय, दृढ़निश्चयमानसवान्।
निष्कारण-भकत-शरण, त्यजि जाति-कुल-मान॥
सम्पद तव श्रीपद, भव-गोष्पद-वारि यथाय।
प्रेमार्पण, समदरशन, जगजन-दुःख जाय॥
नमो नमो प्रभु वाक्य-मनातीत
मनोवचनैकाधार।
ज्योतिर ज्योति उजल हृदिकन्दर
तुमि तमभंजनहार।
धे धे धे, लंग रंग भंग, बाजे अंग संग मृदंग।
गाइछे छन्द भकतवृन्द, आरति तोमार॥
जय जय आरति तोमार।
हर हर आरति तोमार।
शिव शिव आरति तोमार॥

(हिन्दी अनुवाद)

हे भवबन्धन को खण्डन करनेवाले, जगत् के वन्दनीय, मैं तुम्हारी वन्दना करता हूँ। तुम निरंजन हो, नर-रूप धारण किये हो, निर्गुण होकर भी गुणमय हो, तुम मनुष्य को दूषित करनेवाले पाप से मुक्त करते हो, जगत् के भूषणरूपी हो,

ज्ञानस्वरूप हो, ज्ञानरूपी अंजन से तुम्हारे नेत्र विशुद्ध हैं, तुम्हें देखने से ही मोह दूर भाग जाता है, तुम ज्ञानमय भाव-समुद्र हो, सदा मतवाले प्रेम-महावारिधि हो, तुम्हारे जो दोनों चरण भवसागर के पार उतार देते हैं, वे भक्तों द्वारा ही प्राप्त करने योग्य हैं। तुम युगावतार के रूप में प्रकट हुए हो, जगदीश्वर हो, योग के सहायक हो, तुम्हारी कृपा से देखता हूँ, मेरी इन्द्रियाँ निरुद्ध और मन समाधिमग्न हुआ है। तुमने दुःख के उत्पातों को दूर किया है, तुम दया की मूर्ति हो और दृढ़ कर्मवीर हो, तुमने जगत् के उद्धार के लिए प्राणों को अर्पण कर दिया है, कलियुग के बन्धनों को छिन्न कर दिया है। तुमने कामिनी और कांचन को छोड़ा है और इन्द्रियों के आकर्षणों को बहुत ही तुच्छ माना है, हे त्यागीश्वर, हे नरवर, मुझे श्री चरणों में प्रेम दो। तुम भयरहित हो, तुममें कोई सन्देह नहीं रहा, तुम दृढ़-निश्चय तथा उदार चित्तवाले हो। तुम जाति या कुल का विचार न करके बिना कारण ही भक्तों को शरण देते हो। तुम्हारे चरणकमल ही मेरी सम्पत्ति हैं, जिनकी तुलना में यह संसार गाय के एक पैर से दबी जमीन के छोटे गढ़े में आनेवाले जल जैसा है। तुम प्रेम के दाता हो, समदर्शी हो, तुम्हारे दर्शन से जगत्-निवासियों के सभी दुःख दूर होते हैं।

वाणी एवं मन से परे होकर भी वाणी और मन के एकमात्र आधाररूपी हे प्रभो! तुम्हें बार बार नमस्कार! तुम ज्योति की भी ज्योति हो, हृदयरूपी गुफा में उजाला करनेवाले तथा अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करनेवाले हो। भक्तगण छन्द में तुम्हारी आरती का संगीत गा रहे हैं, जिसमें घ्रे घे घे रंग लंग भंग रव से. अंगों के साथ साथ मृदंग बज रहे हैं।

तुम्हारी आरती की जय हो, तुम्हारी आरती पापों का हरण करनेवाली तथा परमकल्याणदायिनी है।

श्री रामकृष्णप्रणामः

स्थापकाय च धर्मस्य सर्वधर्मस्वरूपिणे।
अवतारवरिष्ठाय रामकृष्णाय ते नमः॥

धर्म के प्रतिष्ठाता एवं सकल धर्मस्वरूप, सब अवतारों में श्रेष्ठ, हे रामकृष्ण, तुम्हें प्रणाम है।

अभिनन्दन-पत्रों का उत्तर

खेतड़ी के महाराज के अभिनन्दन का उत्तर

धर्मभूमि भारत

स्वामी जी के अमेरिका प्रवास काल में उन्हें खेतड़ी (राजपूताना) के महाराज का (४ मार्च, १८९५ का) निम्नलिखित अभिनन्दन प्राप्त हुआ :

प्रिय स्वामी जी,

आज इसी विशेप उद्देश्य के निमित्त आयोजित इस दरबार के अध्यक्ष की हैसियत से, अमेरिका के शिकागो नगर में समायोजित धर्म-महासभा में आपके द्वारा किये गये हिन्दू धर्म के योग्यतापूर्ण प्रतिनिधित्व के उपलक्ष्य में अपनी प्रजा एवं अपनी ओर से, आपको इस राज्य का हार्दिक धन्यवाद प्रेपित करते हुए मुझे अपार हर्ष हो रहा है।

मैं नहीं समझता हूँ कि भाषा की स्वाभाविक त्रुटियों द्वारा प्रस्तुत बाधाओं के बावजूद हिन्दू धर्म के मूल सिद्धान्तों को अंग्रेज़ी भापा के माध्यम से आपसे भी अधिक स्पष्टता एवं यथार्थता के साथ व्यक्त किया जा सकता था।

विदेश में आपकी वाणी एवं व्यवहार के फलस्वरूप विभिन्न देशों एवं धर्मों के लोगों में केवल आपके प्रति श्रद्धा का ही विस्तार नहीं हुआ, वल्कि उनसे घनिष्ठता प्राप्त करने में तथा आपके निःस्वार्थ उद्देश्य की प्रगति को भी सहायता मिली है। इस सबकी हमने अतीव एवं वर्णनातीत सराहना की है। आपने विदेशों में जाकर अमेरिकी धर्म-महासभा में हमारे प्राचीन धर्म के उन सत्यों को, जो सदा से हमारे प्रिय रहे हैं, प्रतिपादित करने में जो कष्ट उठाया है, उसके लिए यदि मैं अपनी सच्ची कृतज्ञता अभिव्यक्त करते हुए आपको कुछ पंक्तियाँ औपचारिक रूप से न लिख पाता, तो इससे हमें अपनी कर्तव्य-च्युति का भान होता। निस्सन्देह यह भारत के गौरव के अनुकूल है कि आप जैसे योग्य प्रतिनिधि पाने का इसे सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

वे भद्र महोदय भी धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने धर्म-महासभा आयोजित की एवं आपका उत्साह के साथ स्वागत किया। उस महाद्वीप के लिए आप नितांत परदेशी थे, आपके अनेक गुणों के प्रति उनके अनुराग से ही आपके साथ उनका सौहार्दपूर्ण व्यवहार सम्भव हुआ, और यह उनकी सहृदयता का ज्वलंत प्रमाण है।

मैं इसके साथ इस अभिनन्दन की बीस मुद्रित प्रतियाँ भेज रहा हूँ और निवेदन है कि इसे आप अपने पास रखकर शेष को अपने मित्रों में वितरित कर दें।

सश्रद्ध

आपका सच्चा शुभाकांक्षी,

राजा अजितसिंह बहादुर,

खेतड़ी

स्वामी जी ने निम्नलिखित उत्तर भेजा :

'जब जब धर्म की अवनति होती है और अधर्म बढ़ता है, तब तब मैं पुनः धर्म की संस्थापना के लिए अवतीर्ण होता हूँ।"[1]

हे राजन्, ये शब्द पवित्र गीता में उन्हीं सनातन भगवान् के वाक्य हैं। यह वाक्य संसार में आध्यात्मिक शक्ति-प्रवाह के सनातन उत्थान और पतन के नियमों का मूल मन्त्रस्वरूप है।

ये परिवर्तन बारम्बार संसार में नये नये लयों में प्रकाशित हो रहे हैं और यद्यपि अन्यान्य महान् परिवर्तनों की तरह उनके कार्यक्षेत्र में प्रत्येक क्षुद्र वस्तु के ऊपर उनका प्रभाव पड़ता है, फिर भी अनुकूल स्थान में ही उनकी कार्यशक्ति का प्रकाश अधिक पाया जाता है।

समष्टि रूप से जिस प्रकार आदिम अवस्था त्रिगुणों का साम्य-भाव है,—इस साम्यावस्था के भंग होने और उसे पुनः प्राप्त करने के निमित्त होनेवाले समस्त संघर्षों को ही हम प्रकृति की अभिव्यक्ति—यह विश्व—कहते हैं, और आदि साम्यावस्था प्राप्त होने तक यह जगत् एवं वस्तुओं की गतिविधि इसी प्रकार चलती रहेगी—उसी प्रकार मालूम होता है कि इस पृथ्वी पर जब तक मनुष्य जाति वर्तमान रूप में रहेगी तब तक विषमता और उसकी नित्य सहचरी—साम्य-लाभ की चेष्टा—दोनों ही साथ साथ चलती रहेंगी। इसके फलस्वरूप संसार में सर्वत्र भिन्न भिन्न जातियों, उपजातियों से लेकर व्यक्तियों तक में विशेषत्व सृष्ट होता रहेगा।

निष्पक्ष वितरण और तुलन के इस जगत् में प्रत्येक जाति मानो किसी विशेष प्रकार के शक्ति-संग्रह एवं उसके वितरण के निमित्त एक अद्‌भुत डाइनेमो है, और

---

१. गीता ॥४।७॥

उस जाति के पास अन्यान्य अनेक वस्तुओं के रहने पर भी वही विशेष शक्ति उस जाति के विशेष लक्षण के रूप में उद्‌भासित होती है। मनुष्य प्रकृति के किसी विशेष भाव के विशेष विकास तथा उद्दीपन होने पर उसका प्रभाव अल्पाधिक मात्रा में सभी पर होता है, परन्तु जिस जाति का वह भाव विशेष लक्षण है एवं साधारणतः जिसे केन्द्र बनाकर वह उत्पन्न हुआ है, उसी जाति के अन्तस्तल को वह सबसे अधिक आलोड़ित कर देता है। इसी कारण धर्म-जगत् में किसी आन्दोलन के उपस्थित होने पर, उसके फलस्वरूप, भारत में अवश्य ही अनेक प्रकार के महत्त्वपूर्ण परिवर्तन प्रकटित होंगे—क्योंकि भारत को ही केन्द्र बनाकर बारम्बार धर्म की तरंगें उत्थित हुई हैं; क्योंकि सर्वोपरि भारत धर्म का देश है।

प्रत्येक व्यक्ति केवल उसी वस्तु को सत्य समझता है, जो उसे उसके उद्देश्य की पूर्ति में सहायक होती है। सांसारिक भावापन्न व्यक्तियों के समक्ष वही वस्तु सत्य है, जिसके विनिमय में उन्हें अर्थ की प्राप्ति होती हो; और जिसके बदले में उन्हें धन-लाभ नहीं होता, वह उनके लिए असत्य है। जिस व्यक्ति की आकांक्षा दूसरों पर प्रभुत्व स्थापित करने की है, उसके लिए तो सत्य वही है, जिसके द्वारा उसकी यह आकांक्षा पूर्ण होती है, और शेष सब उसके लिए निरर्थक है। इसी प्रकार जो वस्तु किसी व्यक्ति की आकांक्षा-पूर्ति में सहायक नहीं होती, उस वस्तु में वह व्यक्ति किसी प्रकार का सत्य या अर्थ नहीं देख पाता।

जिन व्यक्तियों का एकमात्र लक्ष्य अपने जीवन की समस्त शक्तियों के विनिमय में कांचन, नाम-यश या अन्य किसी प्रकार के भोग-विलास का अर्जन करना है, जिनके समक्ष रणभूमिगामी सुसज्जित सेनादल ही शक्ति के विकास का एकमात्र प्रतीक है, जिनके निकट इन्द्रिय-सुख ही जीवन का एकमात्र आनन्द है—ऐसे लोगों के लिए भारत सर्वदा ही एक बड़े मरुस्थल के समान प्रतीत होगा, जहाँ की आँधी का एक झोंका ही उनकी कल्पित जीवन-विकास की धारणा के लिए मानो मृत्युस्वरूप है।

किन्तु जिन व्यक्तियों की जीवन-तृष्णा इन्द्रिय-जगत् से सुदूर स्थित अमृत-सरिता के दिव्य सलिल-पान से सम्पूर्णतः बुझ चुकी है, जिनकी आत्मा ने—सर्प के केंचुल-त्याग की तरह—काम, कांचन और यश-स्पृहा के त्रिविध बन्धनों को दूर फेंक दिया है, जिनका मन शान्ति की अत्युच्च शिखा पर पहुँच गया है और जो वहाँ से इन्द्रिय-भोगों में आबद्ध तथा नीच जनोचित कलह, विषाद और द्वेष-हिंसा में रत व्यक्तियों को प्रेम तथा सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से देखते हैं, जिनके संचित पूर्व सत्कर्म के प्रभाव से आँखों के सामने से अज्ञान का आवरण लुप्त हो गया है, जिससे वे असार नाम-रूप को भेदकर प्रकृत सत्य का दर्शन करने में

समर्थ हुए हैं,—ऐसे व्यक्ति कहीं भी क्यों न रहें, आध्यात्मिकता की जननी एवं अनन्त खानिस्वरूप भारत उनके समक्ष भिन्न रूप में, अधिक महिमान्वित और उज्ज्वल भासित होगा। इस मायावी जगत् में जो एकमात्र प्रकृत सत्ता है, उसके अनुसन्धान में रत प्रत्येक व्यक्ति के लिए भारत आशा की एक प्रज्वलित शिखा है।

अधिकांश मनुष्य शक्ति को उसी समय शक्ति समझते हैं, जब वह उनके अनुभव के योग्य होकर स्थूलाकार में उनके सामने प्रकट हो जाती है। उनकी दृष्टि में समरांगण में तलवारों की झनझनाहट आदि ही परम स्पष्टतः प्रत्यक्ष शक्ति के विकास मालूम होते हैं; और जो आँधी की भाँति सामने से चीज़ों को तोड़-मोड़कर उथल-पुथल पैदा न कर देती हो, वह उनकी दृष्टि में जीवन की अभिव्यक्ति नहीं है—वरन् मृत्युस्वरूप है। इसीलिए शताब्दियों से विदेशियों द्वारा शासित एवं निश्चेष्ट, एकताहीन एवं देशभक्तिहीन भारत उनके निकट ऐसा प्रतीत होगा, मानो वह गलित अस्थि-चर्मों से ढकी हुई भूमि मात्र हो।

ऐसा कहा जाता है—योग्यतम ही जीवन-संग्राम में जीवित बचता है। तब फिर प्रश्न उठता है कि साधारण धारणानुसार यह जो जाति अन्य जातियों की अपेक्षा नितान्त अयोग्य है, दारुण जातीय दुर्भाग्यचक्र में फँस जाने पर भी उसके विनाश का कोई चिह्न दिखायी क्यों नहीं देता? तथाकथित वीर्यशाली और कर्मपरायण जातियों की प्रजनन शक्ति जिस प्रकार एक ओर प्रतिदिन कम होती जा रही है, उसी प्रकार दूसरी ओर नैतिकताविहीन (?) हिन्दुओं की वृद्धि सर्वापेक्षा अधिक हो रही है—यह किस प्रकार होता है? जो लोग एक पल में समस्त विश्व को रक्तरंजित कर सकते हैं, उनके लिए तारीफ़ की झड़ी लग सकती है; जो लोग कुछ लाख लोगों के सुख के लिए संसार के अधिकांश लोगों को भूखा मार सकते हैं, वे भी गौरवान्वित हो सकते हैं, किन्तु जो लोग अन्य लोगों का अन्न न छीनकर लाखों मनुष्यों को सुख और शान्ति प्रदान करते हैं, वे क्या किसी प्रकार का सम्मान प्राप्त करने योग्य नहीं हैं? शताब्दियों से दूसरों के ऊपर किसी भी प्रकार का अत्याचार न करके लाखों के भाग्य का संचालन करनेवालों के कार्य में क्या किसी प्रकार की शक्ति का विकास प्रकट नहीं होता?

सभी प्राचीन जातियों के पौराणिक ग्रंथों में, उनके वीरों की गाथाओं में यह देखा जाता है कि उनका प्राण उनके शरीर के किसी विशेष छोटे से अंश में आबद्ध था; और जब तक उनका वह अंश अस्पर्शित रहा, तब तक वे अजेय रहे। इसी प्रकार प्रतीत होता है कि मानो प्रत्येक जाति में किसी विशेष स्थान में उसकी जीवनीशक्ति संचित रहती है; और जब तक वह स्थान अक्षुण्ण बना रहेगा,

तब तक किसी प्रकार का दुःख या विपत्ति उस जाति का विनाश नहीं कर मकती।

धर्म ही है भारत की यह जीवनीशक्ति; और जब तक हिन्दू जाति अपने पूर्वजों से प्राप्त उत्तराधिकार को नहीं भूलेगी, तब तक संसार में ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है, जो उसका ध्वंस कर सकें।

जो लोग सदैव अपने अतीत की ही ओर दृष्टि लगाये रखते हैं, आजकल सभी लोग उनकी निन्दा किया करते हैं। वे कहते हैं कि इस प्रकार निरन्तर अतीत की ओर देखते रहने के कारण ही हिन्दू जाति को नाना प्रकार के दुःख और आपत्तियाँ भोगनी पड़ी हैं। किन्तु मेरी तो यह धारणा है कि इसका विपरीत ही सत्य है। जव तक हिन्दू जाति अपने अतीत को भूली हुई थी, तब तक वह संज्ञाहीन अवस्था में पड़ी रही, और अतीत की ओर दृष्टि जाते ही चहुँ ओर पुनर्जीवन के लक्षण दिखायी दे रहे हैं। भविष्य को इसी अतीत के साँचे में ढालना होगा, अतीत ही भविष्य होगा।

अतएव हिन्दू लोग अतीत का जितना ही अध्ययन करेंगे, उनका भविष्य उतना ही उज्ज्वल होगा; और जो कोई इस अतीत के बारे में प्रत्येक व्यक्ति को विज्ञ करने की चेष्टा कर रहा है, वह स्वजाति का परम हितकारी है। भारत की अवनति इसलिए नहीं हुई कि हमारे पूर्व पुरुषों के नियम एवं आचार-व्यवहार खराब थे, वरन् उसकी अवनति का कारण यह था कि उन नियमों और आचार-व्यवहारों को उनकी न्यायसंगत परिणति तक नहीं ले जाने दिया गया।

भारत का इतिहास पढ़नेवाला प्रत्येक विचारशील पाठक यह जानता है कि भारत के सामाजिक विधान प्रत्येक युग के साथ परिवर्तित हुए हैं। आरम्भ में ये नियम एक ऐसी विराट् योजना के पुंजीभूत रूप थे, जिसे क्रमशः भविष्य में फलीभूत होना था। प्राचीन भारत के ऋषिगण इतने दूरदर्शी थे कि उनकी ज्ञानराशि के महत्त्व को समझने में विश्व को अब भी सदियों तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी; और उनके वंशधरों द्वारा इस महान् उद्देश्य को पूर्ण रूप से ग्रहण करने की यह अक्षमता ही भारत की अवनति का एकमात्र कारण है।

प्राचीन भारत सदियों तक ब्राह्मण और क्षत्रिय अपनी इन दो प्रधान जातियों की महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए एक युद्धक्षेत्र रहा था।

एक ओर पुरोहितवर्ग साधारण प्रजा पर क्षत्रियों के अन्यायपूर्ण सामाजिक अत्याचार के विरुद्ध थे,—उस प्रजा को क्षत्रियगण अपने धर्मसंगत खाद्य के रूप में देखा करते थे—और दूसरी ओर, भारत की एकमात्र शक्ति सम्पन्न क्षत्रिय जाति ने जनता को पुरोहितों के आध्यात्मिक अत्याचार से बचाने तथा निरन्तर

बढ़ते हुए उनके कर्मकाण्डों के परिवर्तनों से उसको छुड़ाने के लिए कमर कसी थी। इसमें क्षत्रियों को कुछ परिमाण में सफलता भी मिली थी।

येह संघर्ष हमारी जाति के इतिहास के एकदम प्रारंभिक युगों में ही आरम्भ हुआ था, और समस्त श्रुतियों में वह स्पष्ट रूप से प्रकट होता है। कुछ समय के लिए यह विरोध कम हो गया, जब क्षत्रियों तथा ज्ञानकाण्ड के नेता श्री कृष्ण ने समन्वय का मार्ग दिखला दिया। उसका परिणाम है गीता की शिक्षा, जो दर्शन, उदारता एवं धर्म का सारस्वरूप है। किन्तु संघर्ष का कारण तब भी विद्यमान था, अतः उसका परिणाम अनिवार्य था।

निर्धन एवं अशिक्षित जनता पर प्रभुत्व स्थापित करने की महत्त्वाकांक्षा इन दोनों जातियों में वर्तमान थी, अतः संघर्ष पुनः भयानक हो उठा। हमें उस समय का जो कुछ थोड़ा सा साहित्य उपलब्ध है, वह प्राचीन काल के उसी प्रबल संघर्ष की क्षीण प्रतिध्वनि मात्र है। किन्तु अन्त में क्षत्रियों की विजय हुई, ज्ञान की जीत हुई, स्वाधीनता की जीत हुई; कर्मकाण्ड को नीचा देखना पड़ा और उसका अधिकांश हमेशा के लिए विदा हो गया। यह वही क्रांति थी, जिसे हम बौद्ध सुधारवाद के नाम से अभिहित करते हैं। धर्म की दृष्टि से यह कर्मकाण्ड के हाथों से मुक्ति का सूचक है, और राजनीति के दृष्टिकोण से यह क्षत्रियों के द्वारा पुरोहितों का पराभव सूचित करता है।

यह एक विशेष रूप से ध्यान देने योग्य बात है कि प्राचीन भारत ने जिन दो सर्वश्रेष्ठ पुरुषों को जन्म दिया था, वे दोनों ही क्षत्रिय हैं—वे थे कृष्ण और बुद्ध। और यह उससे भी अधिक ध्यान देने योग्य बात है कि इन दोनों ही देव-मानवों ने लिंग और जाति भेद को न मानकर सबके लिए ज्ञान का द्वार उन्मुक्त कर दिया था।

बौद्ध धर्म में अद्‌भुत नैतिक बल विद्यमान रहने पर भी वह अतीव ध्वंसात्मक था, और उसकी अधिकांश शक्ति नकारात्मक प्रयासों में ही व्यय हो जाने के कारण उसे अपनी जन्मभूमि में ही अपना विनाश देखना पड़ा, एवं उसका जो कुछ शेष रहा, वह जिन कुसंस्कारों तथा कर्मकाण्डों के निवारण के लिए नियोजित किया गया था, उनसे शतशः अधिक भयानक कुसंस्कारों और कर्मकाण्डों में फँस गया। यद्यपि आंशिक रूप में वह वैदिक पशुवलि निवारण करने में सफल हुआ, पर उसने समस्त देश को मन्दिर, प्रतिमा, यन्त्र तथा साधुओं की अस्थियों से पूर्ण कर दिया।

विशेषतः, उसके द्वारा आर्य, मंगोल एवं आदिवासियों का जो एक विचित्र मिश्रण हुआ, उससे अज्ञात रूप से कितने ही बीभत्स वामाचार-सम्प्रदायों की

सृष्टि हुई। मुख्यतया इसीलिए श्री शंकराचार्य और उनके मतानुयायी संन्यासियों को उन महान् आचार्य बुद्ध के इस विकृत रूप में परिणत उपदेशों को भारत के बाहर निकाल देना पड़ा।

इस प्रकार मनुष्य-देह धारण करनेवाली में सर्वश्रेष्ठ आत्मा स्वयं भगवान् बुद्ध द्वारा परिचालित संजीवनी-शक्तिप्रवाह भी दुर्गन्धमय रोग-कीटाणुपूर्ण क्षुद्र गन्दे जलाशय में बदल गया, और भारत को भी अनेक शताब्दियों तक प्रतीक्षा करनी पड़ी, जब तक कि भगवान् शंकर और उनके कुछ ही समय बाद रामानुज एवं मध्वाचार्य आविर्भूत नहीं हुए।

इसी बीच में भारत के इतिहास का एक नितान्त नया अध्याय आरम्भ हो गया था। प्राचीन ब्राह्मण और क्षत्रिय जातियाँ लुप्त हो गयी थीं। हिमालय तथा विन्ध्याचल की मध्यवर्ती वह आर्यभूमि, जिसने कृष्ण और बुद्ध को जन्म दिया था, जो महामना राजर्षियों तथा ब्रह्मर्षियों की क्रीड़ाभूमि रही थी, इस समय नीरव रही; और भारत प्रायद्वीप के सबसे आखिरी छोर से, भाषा तथा रूप में भिन्न जातियों की ओर से एवं प्राचीन ब्राह्मणों के वंशज कहकर गौरवानुभव करनेवाली पीढ़ियों से विकृत बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया आरम्भ हो गयी।

आर्यावर्त के उन ब्राह्मणों और क्षत्रियों का क्या हुआ? उनका नाम हमेशा के लिए मिट गया, इधर-उधर ब्राह्मणत्व एवं क्षत्रियत्व पर अभिमान करनेवाली केवल कुछ मिश्रित जातियाँ ही शेष रह गयीं, और इन जातियों के इस प्रकार अहंकार तथा आत्मप्रशंसापूर्ण वाक्यों के कहने पर भी कि 'इस देश (ब्रह्मावर्त या ब्रह्मर्षि देश) में पैदा हुए ब्राह्मणों से ही संसार के सभी मनुष्य चरित्र-निर्माण की शिक्षा प्राप्त करेंगे'[1], इन लोगों को दीन वेष में दाक्षिणात्यों के पदप्रान्त में बैठकर विनयपूर्वक शिक्षा ग्रहण करनी पड़ी। इसका परिणाम हुआ भारत में वेदों का पुनरभ्युदय,—वेदान्त का ऐसा प्रबल पुनरुत्थान जैसा भारत ने और कभी नहीं देखा था; यहाँ तक कि गृहस्थाश्रमी भी आरण्यकों के अध्ययन में संलग्न हो गये।

बौद्ध आंदोलन में क्षत्रियगण ही वास्तव में नेता रहे थे तथा बड़ी संख्या में उन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार किया था। सुधार तथा धर्म-परिवर्तन के उत्साह में संस्कृत भाषा तो उपेक्षित हो गयी, और लोक-भाषाओं का एकांत विकास होने लगा। अधिकांश क्षत्रिय वैदिक साहित्य एवं संस्कृत शिक्षा के क्षेत्र से अलग हो

---

१. एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥मनु०॥

गये। अतएव दाक्षिणात्यों से यह जो सुधार-तरंग उत्थित हुई, उससे कुछ सीमा तक केवल पुरोहितों का ही उपकार हुआ, पर भारत की शेष कोटि कोटि जनता के पैरों में उसने पहले से भी अधिक शृंखलाएँ डाल दीं।

क्षत्रियगण सदा से ही भारत का मेरुदण्ड रहे हैं, अतएव वे ही विज्ञान और स्वतन्त्रता के सनातन रक्षक हैं। देश से अन्धविश्वासों को हटा देने के लिए चिर-काल से ही उनकी वाणी प्रतिध्वनित हुई है, और भारत के इतिहास के आदि से अन्त तक पुरोहितों के अत्याचार से साधारण जनता की रक्षा करने के लिए वे स्वयं एक अभेद्य दीवार की भाँति खड़े रहे हैं।

जब उनमें से अधिकांश घोर अज्ञानता में निमग्न हो गये, और शेष थोड़ों ने मध्य एशिया की जंगली जातियों के साथ रोटी-बेटी का सम्बन्ध स्थापित कर भारत में पुरोहितों की शक्ति दृढ़ करने के लिए तलवार हाथ में ली, तब भारत के पाप का प्याला लबालब भर गया और भारत-भूमि एकदम नीचे डूब गयी,—और इससे इसका उद्धार उस समय तक नहीं होगा, जब तक कि क्षत्रियगण स्वयं न जागेंगे तथा अपने को मुक्त कर शेष जाति के पैरों से जंजीरों को न खोल देंगे। पुरोहित-प्रपंच ही भारत की अधोगति का मूल कारण है। मनुष्य अपने भाई को पतित बनाकर क्या स्वयं पतित होने से बच सकता है?

राजन्, स्मरण रखिए, आपके पूर्वजों द्वारा आविष्कृत सत्यों में सर्वश्रेष्ठ सत्य है—इस ब्रह्माण्ड का एकत्व। क्या कोई व्यक्ति स्वयं का किसी प्रकार अनिष्ट किये बिना दूसरों को हानि पहुँचा सकता है? ब्राह्मण और क्षत्रियों के ये ही अत्याचार चक्रवृद्धि ब्याज के सहित अब स्वयं उन्हींके सिर पर पतित हुए हैं, एवं यह हज़ारों वर्ष की पराधीनता और अवनति निश्चय ही उन्हींके कर्मों के अनिवार्य फल का भोग है।

आपके एक पूर्वज ने, जिन्हें लोग ईश्वर का अवतार समझते हैं, कहा था, 'जिनका मन साम्य-भाव में अवस्थित है, उन्होंने जीवित दशा में ही संसार पर जय-लाभ कर लिया है।'[1] हम सभी का यही विश्वास है। तब क्या उनका यह वाक्य अर्थहीन प्रलाप के समान है? यदि नहीं है—और हम जानते हैं कि ऐसा नहीं है—तब तो समस्त सृष्ट जगत् के जन्म-लिंगविरहित, यहाँ तक कि गुणनि-विशेष इस सम्पूर्ण साम्य के विरुद्ध कोई भी चेष्टा भयंकर भ्रमपूर्ण है; और जब तक मानव इस साम्य-ज्ञान को प्राप्त नहीं करता, तब तक वह कभी मुक्त नहीं हो सकता।

---

१. इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः॥ गीता॥ ५।१९॥

अतएव, हे राजन्, आप वेदान्त के उपदेशों का पालन कीजिए—किसी अमुक-तमुक भाष्यकार अथवा टीकाकार के अनुसार नहीं, वरन् उसी प्रकार, जिस प्रकार आपके अन्तर्यामी प्रभु आपको समझाते हैं। सर्वोपरि, सर्वभूतों में, समस्त वस्तुओं में इस समज्ञान-रूप महान् उपदेश का पालन कीजिए—सर्वभूतों में उसी एक भगवान् को अवस्थित देखिए।

यही मुक्ति का पथ है; वैषम्य ही बन्धन का मार्ग है। कोई व्यक्ति या कोई जाति बाह्य एकत्व-ज्ञान के बिना बाह्य स्वाधीनता प्राप्त नहीं कर सकती, और मानसिक शक्तियों के एकत्व-ज्ञान के बिना मानसिक स्वाधीनता का लाभ भी उसे नहीं हो सकता।

अज्ञान, भेदबुद्धि एवं वासना ये तीनों ही मानव जाति के दुःख के कारण हैं, और उनमें एक के साथ दूसरे का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। अपने आपको अन्य मनुष्यों की अपेक्षा, यहाँ तक कि पशु से भी श्रेष्ठ समझने का किसीको क्या अधिकार है? वास्तव में तो सर्वत्र एक ही वस्तु विराजमान है। त्वं स्त्री, त्वं पुमानसि, त्वं कुमार उत वा कुमारी—'तुम स्त्री हो, तुम पुरुष हो, तुम कुमार हो एवं तुम्हीं कुमारी हो।'

बहुत से लोग कहेंगे, 'इस प्रकार सोचना तो संन्यासी को ही शोभा देता है, उनके लिए ही यह ठीक है, किन्तु हम सब तो गृहस्थ हैं।' अवश्य ही, गृहस्थ को दूसरे अनेक कर्तव्यों का पालन करना पड़ता है, अतः वह इस साम्य-भाव में इतना स्थित नहीं रह सकता; परन्तु उन लोगों का आदर्श यही होना उचित है, क्योंकि इस समत्व-भाव को प्राप्त करना ही सभी समाजों का, समस्त जीवों का एवं समस्त प्रकृति का आदर्श है। पर अफ़सोस! लोग समझते हैं कि वैषम्य ही समता की प्राप्ति का मार्ग है, मानो अन्याय करते करते वे न्याय के रास्ते पर आ पहुँचेंगे!

यह वैषम्य ही मनुष्य-प्रकृति की घोर दुर्बलता है, मनुष्य जाति के ऊपर अभिशापस्वरूप है तथा समस्त दुःख-कष्टों का मूल स्वरूप है। यही भौतिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक सर्वविध बन्धनों का मूल है।

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥

—'ईश्वर को सर्वत्र समान रूप से अवस्थित देखकर वे आत्मा के द्वारा आत्मा की हिंसा नहीं करते, अतएव परम गति प्राप्त करते हैं।' केवल इसी एक कथन में, थोड़े से शब्दों में मुक्ति का सार्वभामक उपाय निहित है।

आप राजपूत लोग ही प्राचीन भारत के गौरवस्वरूप रहे हैं। आप लोगों की अवनति के साथ ही जातीय अवनति आरम्भ हो गयी; और भारत का उत्थान केवल तभी हो सकता है, जब क्षत्रियों के वंशज ब्राह्मणों के वंशजों के साथ समवेत प्रयत्न में कटिबद्ध होंगे—लूटे हुए वैभव और शक्ति का बटवारा करने के लिए नहीं, वरन् अज्ञानियों को ज्ञान प्रदान करने के लिए एवं पूर्वजों की पवित्र निवास-भूमि की खोयी हुई महिमा के पुनःस्थापन के लिए।

कौन कह सकता है कि यह शुभ मुहूर्त नहीं है? फिर से कालचक्र घूमकर आ रहा है, एक बार फिर भारत से वही शक्ति-प्रवाह निःसृत हो रहा है, जो शीघ्र ही समस्त जगत् को प्लावित कर देगा। एक वाणी मुखरित हुई है, जिसकी प्रतिध्वनि चारों ओर व्याप्त हो रही है एवं जो प्रतिदिन अधिकाधिक शक्ति संग्रह कर रही है, और यह वाणी अपने पहले की सभी वाणियों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है, क्योंकि यह अपनी पूर्ववर्ती उन सभी वाणियों का समष्टिस्वरूप है। जो वाणी एक समय कलकलनिनादिनी सरस्वती के तीर पर ऋषियों के अन्तस्तल में प्रस्फुटित हुई थी, जिस वाणी ने रजतशुभ्र हिमाच्छादित गिरिराज हिमालय के शिखर शिखर पर प्रतिध्वनित हो कृष्ण, बुद्ध और चैतन्य में से होते हुए समतल प्रदेशों में अवरोहण कर समस्त देश को प्लावित कर दिया था, वही एक बार पुनः मुखरित हुई है। एक बार फिर से द्वार खुल गये हैं। आइए, हम सब आलोक-राज्य में प्रवेश करें—द्वार एक बार पुनः उन्मुक्त हो गये हैं।

हे मेरे प्रिय राजन्, आप उसी जाति के वंशधर हैं, जो सनातन धर्म का जीवन्त आधार-स्तम्भस्वरूप है एवं जो उस सनातन धर्म का कर्तव्यबद्ध रक्षक और सहायक है; आप ही क्या इससे दूर रहेंगे? मैं जानता हूँ, यह कभी नहीं हो सकता। यह मेरी दृढ़ धारणा है कि आपका ही हाथ सर्वप्रथम फिर से धर्म की सहायता के लिए आगे बढ़ेगा। और जब भी, हे राजा अजितसिंह, मैं आपके बारे में सोचता हूँ, तब यह देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है कि आपमें आपकी वंशगत सर्वपरिचित वैज्ञानिक शिक्षा के साथ ही सब मानवों के प्रति असीम प्रेमयुक्त ऐसे पवित्र चरित्र का सम्मिलन हुआ है, जिससे एक साधु भी गौरवान्वित हो सकता है; और जब ऐसे व्यक्ति ही सनातन धर्म के पुनर्गठन के इच्छुक हैं, तब मैं उसके महा गौरवशाली पुनरुद्धार में विश्वास रखे बिना नहीं रह सकता।

सर्वदा ही आप तथा आपके स्वजनों पर श्री रामकृष्ण के आशीर्वाद की वर्षा हो, और दूसरों के उपकारार्थ एवं सत्य-प्रचार के लिए आप दीर्घ काल तक जीवित रहें, यही सदैव प्रार्थना है—

विवेकानन्द

मद्रास के अभिनंदन का उत्तर[1]

मद्रासनिवासी मित्रो, देशवंधुओ और सहधर्मियो !

मुझे यह जानकर परम सन्तोष है कि अपने धर्म के प्रति मेरी नगण्य सेवा तुम्हें मान्य हुई है। मुझे यह सन्तोष इसलिए नहीं कि तुमने मेरी व्यक्तिगत या दूर विदेश में मेरे किये हुए कार्य की प्रशंसा की है; वरन् सन्तोष मुझे इस कारण है कि हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान में तुम्हारा यह आनंद यही स्पष्टतः सूचित करता है कि यद्यपि विदेशियों के आक्रमण की आँधी पर आँधी हतभाग्य भारत के भक्ति-विनम्र मस्तक पर आघात करती चली गयी है, यद्यपि कई शताब्दियों के हमारे उपेक्षा-भाव और हमारे विजेताओं के तिरस्कार-भाव ने हमारे पुरातन आर्यावर्त के वैभव के प्रकाश को धुंधला कर दिया है, यद्यपि उसके अनेक भव्य आधार-स्तम्भ, बहुतेरे सुन्दर मेहराब और बहुतेरे वैचित्र्यपूर्ण कोने कई सदियों तक देश को प्रलयमग्न करनेवाली बाढ़ों में बहकर नष्ट हो गये, तथापि उसका केन्द्र सशक्त है, उसकी आधार-शिला सुदृढ़ है; वह आध्यात्मिक भित्ति—जिस पर हिन्दू जाति की ईश्वर-भक्ति और भूत-दया का अपूर्व कीर्तिस्तम्भ स्थापित हुआ है, वह किंचित् भी विचलित नहीं हुई, वरन् पूर्ववत् सुदृढ़ और सबल बनी है। जिस ईश्वर का संदेश, भारत तथा समस्त संसार को पहुँचाने का सम्मान मुझ जैसे उसके अत्यन्त तुच्छ और अयोग्य सेवक को मिला है, उस ईश्वर के प्रति तुम्हारा आदर-भाव सचमुच अपूर्व है। यह तुम्हारी जन्मजात धार्मिक प्रकृति है, जिसके कारण तुम उस ईश्वर में और उसके संदेश में धर्म के उस ज्वार-तरंग की प्रथम मर्मर का अनुभव कर रहे हो, जो निकट भविष्य में सारे भारत पर अपनी सम्पूर्ण अबाध शक्ति के साथ अवश्यमेव फूट पड़ेगी और अपनी अनन्त शक्तिसम्पन्न बाढ़ द्वारा, जो कुछ दुर्बल और सदोष है, उसको दूर बहा ले जायगी तथा हिन्दू जाति को उठाकर विधि-नियोजित उस उच्च आसन पर बिठा देगी, जहाँ उसका पहुँचना निश्चित और अनिवार्य है; वहाँ वह भूतकाल की अपेक्षा और

---

१. जब अमेरिका में स्वामी जी की सफलता का समाचार भारत में फैल गया, तब अनेक सभाएँ की गयीं और धन्यवाद तथा बधाई के अभिनन्दन-पत्र उन्हें भेजे गये। उन्होंने अपना पहला उत्तर मद्रास के हिन्दुओं के अभिनन्दन के प्रति लिखा।

भी अधिक वैभवशाली बनेगा, शताब्दियों की नीरव कष्ट-सहिष्णुता का उपयुक्त पुरस्कार पायेगा और संसार की समस्त जातियों के मध्य में अपने उद्देश्य—आध्यात्मिक प्रकृतिसम्पन्न मानव जाति के विकास—को पूर्ण करेगा।

उत्तर भारतवासी तुम दाक्षिणात्यों के विशेष कृतज्ञ हैं, क्योंकि आज भारत में जो प्रेरणाएँ काम कर रही हैं, उनमें से अधिकांश का इसी दक्षिण प्रदेश से उद्‌गम होना पाया जाता है। श्रेष्ठ भाष्यकार, युगप्रवर्तक आचार्य—शंकर, रामानुज और मध्व ने इसी दक्षिण भारत में जन्म लिया है। उन भगवान् शंकराचार्य के सामने संसार का प्रत्येक अद्वैतवादी ऋणी हो मस्तक झुकाता है; उन महात्मा रामानुजाचार्य के स्वर्गीय स्पर्श ने पददलित पैरिया[1] लोगों को अलवार बना दिया; तथा उत्तर भारत के एकमात्र महापुरुष श्री कृष्ण चैतन्य, जिनका प्रभाव सारे भारत में है, उनके अनुयायियों ने भी उन महाविभूति मध्वाचार्य का नेतृत्व स्वीकार किया। ये सभी दक्षिण में ही उत्पन्न हुए। इस वर्तमान युग में भी काशीपुरी के वैभव में अग्रस्थान दाक्षिणात्यों का ही हैं; तुम्हारे त्याग का ही अधिकार हिमालय के सुदूरवर्ती शिखरों पर के पवित्र मंदिरों पर है; और इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि तुम्हारी नसों में सन्त महापुरुषों का रक्त प्रवाहित होने के कारण, तथा ऐसे आचार्यों के आशीर्वाद से धन्य जीवन प्राप्त होने के कारण तुम लोग ही भगवान् श्री रामकृष्ण के संदेश के मर्म को समझने में और उसे आदरपूर्वक ग्रहण करने में सर्वप्रथम अग्रसर हो रहे हो।

दक्षिण ही वैदिक विद्या का भाण्डार रहा है, अतएव तुम लोग मेरा यह कहना समझ लोगे कि अज्ञ आक्रमणकारियों द्वारा पुनः पुनः प्रतिवाद होते रहने पर भी आज श्रुति[2] ही हिन्दू धर्म के सभी विभिन्न सम्प्रदायों का मेरुदण्ड है।

वेद के संहिता और ब्राह्मण[3] भागों की महिमा मानव जाति के इतिहास की

---

१. दक्षिण भारत की चाण्डालतुल्य नीच जातिविशेष को पैरिया कहते हैं। अलवार' शब्द का अर्थ है भक्त। विशिष्टाद्वैतवादी भक्त अलवार कहलाते हैं।

२. वेद को श्रुति माना जाता है।

३. चारों वेदों में से प्रत्येक के तीन भाग हैं। (क) संहिता—इसमें भिन्न भिन्न देवताओं के प्रति रचे हुए स्तोत्रात्मक मन्त्र हैं। (ख) ब्राह्मण—यह वेद का वह वर्णनात्मक भाग है, जिसमें यह दर्शाया गया है कि किस मन्त्र का किस यज्ञ में कैसे प्रयोग करना चाहिए। (ग) आरण्यक—इस भाग में अरण्य में ऋषियों द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों का वर्णन है। उपनिषद् इन्हीं आरण्यक के अन्तर्गत हैं।

खोज लगानेवालों के लिए और भाषाशास्त्रियों के लिए चाहे जितनी अधिक हो, **अग्निमीळे या इषेत्वोर्जेत्वा या शन्नो देवीरभीष्टये**[1] वेदमंत्रों से विभिन्न वेदियों में यज्ञों और आहुतियों के संयोग से प्राप्य फलसमूह चाहे जितना वांछनीय हो—पर यह सब तो भोग-मार्ग है, और किसीने भी इसके द्वारा मोक्ष-प्राप्ति का दावा नहीं किया। इसी कारण ज्ञानकाण्ड, जो आरण्यक नामक श्रुति का श्रेष्ठ भाग है और जिसमें आध्यात्मिकता की, मोक्ष-मार्ग की शिक्षा दी गयी है, उसीका प्रभुत्व भारत में आज तक सदा रहा है तथा भविष्य में भी रहेगा।

वर्तमान युग का हिन्दू युवक, सनातन धर्म के अनेक पन्थों की भूलभुलैयों में भटका हुआ, उस एकमात्र हिन्दू धर्म को—जिसकी सार्वजनीन उपयोगिता तदुपदिष्ट **अणोरणीयान् महतो महीयान्** ईश्वर का यथार्थ प्रतिबिम्ब है उस धर्म के मर्म को, अपने भ्रमात्मक पूर्व धारणाओं और दुराग्रहों के कारण ग्रहण करने में असमर्थ होने से, जिन राष्ट्रों ने निरी भौतिकता के सिवाय कभी भी और कुछ नहीं जाना, उनसे आध्यात्मिक सत्य का पुराना पैमाना उधार लेकर अँधेरे में टटोलता हुआ, अपने पूर्वजों के धर्म को समझने का व्यर्थ का कष्ट उठाता हुआ अन्त में उस खोज को बिल्कुल त्याग देता है और या तो वह निपट अज्ञेयवादी बन जाता है या अपनी धार्मिक प्रकृति की प्रेरणाओं के कारण पशुजीवन बिताने में समर्थ नहीं हो पाता और पाश्चात्य भौतिकता के पौर्वात्य गंधधारी कषायों का असावधानी के साथ पान करके श्रुति की भविष्य वाणी **परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः**[2] को चरितार्थ करता है!

केवल वे ही बच पाते हैं जिनकी आध्यात्मिक प्रकृति सद्गुरु के संजीवनी स्पर्श से जाग्रत हो चुकी है।

---

१. ये तीन यथाक्रम ऋक्, यजुः तथा अथर्ववेद के प्रथम श्लोक के अंश हैं:

(क) ॐ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥
—ऋग्वेद १।१।१॥

(ख) ॐ इषेत्वोर्जेत्वा वायवः स्थोपायवः स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे॥ यजुर्वेद॥१।१।१॥

(ग) ॐ शन्नो देवीरभीष्टये आपो भवन्तु पीतये शन्नोरभिस्रवन्तु नः।
—अथर्ववेद॥१।१।१॥

२. एक अन्धे के द्वारा पथ प्रदर्शित किये हुए दूसरे अन्धों की तरह मूढ़ इधर-उधर चक्कर लगाते फिरते हैं। —कठोपनिषद्॥१।२।४॥

भगवान् भाष्यकार[1] की कैसी सुन्दर उक्ति है :—

दुर्लभं त्रयमेवैतत् देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥[2]

—'ये तीन दुर्लभ हैं और ईश्वर के अनुग्रह से ही प्राप्त होते हैं—मनुष्य-जन्म, मोक्ष की इच्छा और महात्माओं की संगति।'

चाहे वह वैशेषिकों[3] का सूक्ष्म विश्लेषण ही हो, जिसके परिणाम में परमाणु, द्व्यणु और त्रसरेणु के विचित्र सिद्धान्त निकाले गये हैं, चाहे वह नैयायिकों का उससे भी विचित्रतर विश्लेषण हो, जो जाति, द्रव्य, गुण, समवाय[4] की चर्चा में दीख पड़ता है, चाहे वह परिणामवाद के जन्मदाता सांख्यवादियों के गम्भीर विचारों की प्रगति ही हो, इन सब संशोधनों के परिणामस्वरूप 'व्याससूत्ररूपी' परिपक्व फल ही क्यों न हो,—मानवी मन के इन विभिन्न विश्लेषणों और संश्लेषणों में वह 'श्रुति' ही एकमात्र आधार है। इतना ही नहीं, वरन् बौद्धों और जैनियों के दार्शनिक ग्रन्थों में भी श्रुति की सहायता का परित्याग नहीं किया गया है और बौद्ध मत के कुछ पन्थों में और जैनियों के अधिकांश ग्रन्थों में तो श्रुति का प्रामाण्य पूर्णतः स्वीकार किया गया है; इसके अपवाद के रूप में केवल

---

१. श्री शंकराचार्य।

२. विवेकचूड़ामणि॥

३. द्व्यणु—दो अणुओं की सम्मिलित अवस्था, त्रसरेणु—तीन अणुओं की सम्मिलित अवस्था। हिन्दुओं के छः मुख्य दर्शन हैं:—

(१) वैशेषिक—कणाद प्रणीत, (२) न्याय—गौतम प्रणीत, (३) सांख्य—कपिल प्रणीत, (४) योग—पतञ्जलि प्रणीत, (५) पूर्व मीमांसा (वैदिक क्रियाकाण्ड की मीमांसा)—जैमिनि प्रणीत, (६) वेदान्त या व्याससूत्र—व्यास प्रणीत।

४. द्रव्य—न्याय के मतानुसार नौ द्रव्य हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, दिक्, काल, आत्मा और मन। जाति—वस्तुओं का साधारण धर्म जिसके आधार पर उनका श्रेणी-विभाग किया जा सकता है, जैसे पशुत्व, मनुष्यत्व आदि। गुण—न्याय मत में इन्हें गुण कहते हैं, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमिति, पृथकत्व, संयोग विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, अदृष्ट और शब्द। समवाय—जैसे, घट और जिस मृत्तिका से उसका निर्माण होता है, दोनों के बीच समवाय सम्बन्ध है।

वे ही श्रुतियाँ हैं, जिन्हें वे लोग हिंसक श्रुतियाँ और ब्राह्मणों के द्वारा पीछे से जोड़े हुए (प्रक्षिप्त) मानते हैं। आधुनिक काल में स्वर्गीय महान् स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यही मत प्रतिपादित किया है।

यदि कोई यह पूछे कि वह कौन सा विशिष्ट दर्शन है, जिसकी ओर केन्द्र की तरह प्राचीन और अर्वाचीन समस्त हिन्दू विचार-प्रणालियाँ झुकी हुई हैं, यदि कोई हिन्दू धर्म के विभिन्न स्वरूपों के असली मेरुदण्ड को देखना चाहे, तो निःसन्देह व्याससूत्र की ही ओर निर्देश किया जायगा।

चाहे हिमालय के अरण्यों के हृदयस्पन्दन को भी स्तब्ध कर देनेवाली गम्भीरता में अद्वैत-केसरी[1] को, स्वर्गनदी के गंभीर स्वर में मिले हुए मेघगर्जनध्वनि में 'अस्ति-भाति-प्रिय' की घोषणा करते हुए सुनो, अथवा वृन्दावन के मनोहारी कुंजों में 'पिया-पीतम'[2] का कूजन सुनो, चाहे काशीपुरी के मठों में साधुओं के साथ गहरे ध्यान में मग्न हो जाओ, या नदिया के अवतार श्री गौरांग महाप्रभु के भक्तों के उन्मादपूर्ण नृत्यों में सम्मिलित हो, 'बड़केले और तेनकेले'[3] आदि अनेक आशायुक्त विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के आचार्य के चरणों का आश्रय लो या माध्व सम्प्रदाय के आचार्यों का उपदेश श्रद्धा के साथ श्रवण करो; सांसारिक सिक्खों का 'वाह् गुरु की फ़तह'[4] समरनाद ही सुनो, या उदासी और निर्मला लोगों के ग्रन्थसाहब[5] के उपदेशों को ही सुनो; चाहे कबीरदास के संन्यासी

---

१. अद्वैतवाद रूप सिंह अर्थात् सर्वमतश्रेष्ठ अद्वैतवाद। 'अस्ति, भाति, प्रिय'—सत्, चित्, आनंद। ये तीन शब्द पंचदशी में आते हैं।

२. भावुक वैष्णव लोग वृन्दावन के कुंजों में पक्षियों के शब्द में यह ध्वनि सुनते हैं। इसका अर्थ है 'राधा-कृष्ण'।

३. बड़केले—ये लोग संस्कृत भाषा के प्राचीन शास्त्र अर्थात् वेद-वेदान्त आदि को और रामानुजाचार्य के श्रीभाष्य आदि आधुनिक ग्रन्थों को अधिक प्रमाणस्वरूप मानते हैं। तेनकेले—ये लोग 'दिव्यप्रबन्ध' नामक तमिल ग्रन्थ के विशेष पक्षपाती हैं। इन दोनों में और भी अनेकानेक विषयों पर मतभेद है।

४. गुरु की जय हो।

५. उदासी और निर्मला दो नानकपन्थी सम्प्रदाय हैं। पहला, नानकपुत्र श्री चाँद द्वारा स्थापित किया हुआ है और दूसरा श्री गुरु गोविन्द द्वारा। 'ग्रन्थ-साहब' नानकपन्थियों का धर्मग्रन्थ है। इसमें नानक से लेकर गुरु गोविन्द तक दस गुरुओं का उपदेश संकलित है। सिक्ख इस ग्रन्थ को देवता मानकर इसकी पूजा करते हैं। 'साहब' शब्द का अर्थ है माननीय।

शिष्यों को सत् साहब[1] कहकर प्रणाम करो और साखी (भजन) के श्रवण का आनन्द उठाओ; चाहे राजपूताना के सुधारक दादू के अद्भुत ज्ञान-भाण्डार को पढ़ो या उनके राजशिष्य सुन्दरदास से लेकर उस 'विचारसागर' के प्रख्यात लेखक निश्चलदास के ग्रन्थों को ही पढ़ो—जिस (विचारसागर) का प्रभाव भारत में गत तीन शताब्दियों में किसी भी भाषा में लिखे हुए ग्रन्थ से अधिक है; यदि उत्तर भारत के किसी भंगी मेहतर से अपने लालगुरु के उपदेशों का वर्णन करने को कहो—तो इन सभी उपदेशकों और विभिन्न पन्थो का मूल आधार वही मत दिखायी देगा जिसका प्रमाण 'श्रुति' है, 'गीता' जिसकी दैवी टीका है, 'शारीरक सूत्र'[2] जिसका संगठित रूप है, और भारत के सभी विभिन्न मतमतान्तर—परमहंस परिव्राजकाचार्यों से लेकर लालगुरु के बेचारे तिरस्कृत मेहतर शिष्यों तक के मत—जिसके भिन्न भिन्न रूप हैं।

तब तो यह प्रस्थानत्रय[3] ही, द्वैत, विशिष्टाद्वैत, अद्वैत और अन्य कुछ अप्रसिद्ध व्याख्याओं के साथ, हिन्दू धर्म का 'प्रमाणग्रन्थ' है। वेद के संहिताभाग प्राचीन नाराशंसी के आधुनिक स्वरूप पुराण ही उसका 'उपाख्यान' विभाग है और वैदिक ब्राह्मणभाग का आधुनिक स्वरूप तंत्र ही उसका 'कर्मकाण्ड' है। इस प्रकार एकमात्र प्रस्थानत्रय ही सभी सम्प्रदायों का सर्वसाधारण प्रमाणग्रन्थ है, परन्तु प्रत्येक सम्प्रदाय ने पुराणों और तंत्रों में से अपने लिए एक एक को अलग अलग ग्रहण कर लिया है।

उपर्युक्त कथनानुसार तंत्र ही वैदिक कर्मकाण्ड के किंचित् परिवर्तित आधुनिक रूप हैं और किसी पाठक के उनके सम्बन्ध में किसी अत्यन्त असंगत सिद्धान्त में पहुँचने के पूर्व मेरा अनुरोध है कि वह तंत्रों को 'ब्राह्मण'—विशेष कर अध्वर्युभाग—के साथ पढ़ ले। तंत्रों में उपयोग किए हुए अधिकांश मंत्र तो 'ब्राह्मण' से ही शब्दशः उद्धृत हुए दिखायी देंगे। और उनके प्रभाव के सम्बन्ध में यह कहना पर्याप्त है कि श्रौत और स्मार्त कर्मों को छोड़कर हिमालय से कन्याकुमारी तक प्रचलित शेष सब कर्मकाण्ड तंत्रों से ही लिये गये हैं और उन्हींके अनुसार शाक्त, शैव, वैष्णव तथा अन्यान्य सम्प्रदायों में उपासना की जाती है।

---

१. पूजनीय साधु।

२. भगवान् व्यासदेवप्रणीत वेदान्त दर्शन।

३. उपनिषद्, गीता और शारीरक सूत्र। संन्यासियों के लिए इस प्रस्थान-त्रय का अध्ययन अनिवार्य है।

हाँ, मैं ऐसा तो दावा नहीं कर सकता कि सभी हिन्दू अपने धर्म के इस मूल के सम्बन्ध में पूर्णतः परिचित हैं। बहुतेरे लोगों ने तो, विशेषकर निम्न बंगदेश में इन सम्प्रदायों और इन महान् प्रणालियों के नाम तक नहीं सुने हैं, परन्तु जानकर या अनजान में वे सब इसी प्रस्थानत्रय में निर्धारित योजना के अनुसार काम करते हैं।

दूसरी ओर देखो तो जहाँ कहीं हिन्दी भाषा बोली जाती है, वहाँ अति नीच वर्गों में भी दक्षिण बंगाल के बहुतेरे उच्चतम वर्गों की अपेक्षा वेदान्त धर्म की अधिक जानकारी है।

ऐसा क्यों है?

बंगदेशीय न्याय जो मिथिलाभूमि से नवद्वीप में स्थानान्तरित हुआ और शिरोमणि, गदाधर, जगदीश आदि मनीषीगण की प्रतिभा द्वारा पोषित एवं संवर्धित हुआ, जिसमें किसी किसी विषय में तो सारे संसार की अन्य सभी प्रणालियों से श्रेष्ठ, अपूर्व तथा उपयुक्त भाषा-शिल्प में वर्णित तर्कप्रणाली के विश्लेषण का समावेश है, वह सारे भारत में आदर की दृष्टि से अध्ययन किया जाता है; परन्तु खेद है कि बंगवासियों ने वेद के अध्ययन की अत्यन्त उपेक्षा की, यहाँ तक कि पिछले कुछ वर्षों के पहले बंगाल में पतंजलि के महाभाष्य[1] का शिक्षक प्रायः मिलता ही नहीं था। केवल एक ही बार वे एक महान् प्रतिभाशाली भगवान् श्री कृष्ण चैतन्य ही उस अनन्त 'अवच्छिन्न अवच्छेदक'[2] के जाल से ऊपर उठ सके। उसी समय एक बार बंगाल की आध्यात्मिक तन्द्रा भंग हुई और कुछ समय तक वह भी भारत के अन्य प्रदेशों के धर्म-जीवन में सहभागी हुआ।

आश्चर्य की बात है कि यद्यपि श्री चैतन्य ने संन्यास दीक्षा एक भारती से ग्रहण की और इस कारण वे स्वयं भारती[3] थे, पर माधवेन्द्र पुरी के शिष्य ईश्वर पुरी द्वारा ही उनकी आध्यात्मिक प्रतिभा की प्रथम जाग्रति हुई।

---

१. पाणिनि के व्याकरण का भाष्य। वेदों के अध्ययन के लिए पाणिनि की विशेष आवश्यकता होती है।

२. न्याय परिभाषा के दो शब्द। अवच्छिन्न का अर्थ है 'विशिष्ट' जिसके द्वारा सीमाबद्ध होता है; अवच्छेदक शब्द का अर्थ है—वह, जो 'विशिष्ट' करता है।

३. श्री शंकराचार्य के शिष्यों ने दस संन्यासी सम्प्रदाय स्थापित किये थे। उन्हें दशनामी कहते हैं, वे हैं—गिरि, पुरी, भारती, वन, अरण्य, पर्वत, सागर, तीर्थ, सरस्वती और आश्रम।

ऐसा प्रतीत होता है कि वंगदेश में धार्मिक जाग्रति करना मानो पुरी सम्प्रदाय का ही एक विधाता-निर्दिष्ट उद्देश्य था। भगवान् श्री रामकृष्ण को संन्यास-आश्रम तोता पुरी से प्राप्त हुआ।

श्री चैतन्य महाप्रभु ने व्याससूत्र पर जो भाष्य लिखा, वह या तो लुप्त हो गया या अभी तक नहीं मिल सका। उनके शिष्यगण दक्षिण के माध्व सम्प्रदाय के साथ सम्मिलित हो गये और क्रमशः रूप, सनातन और जीव गोस्वामी जैसे विख्यात महापुरुषों द्वारा अंगीकृत कार्यभार बाबा जी लोगों के कंधे आ पड़ा और श्री चैतन्य महाप्रभु का महान् आंदोलन तीव्र गति से ध्वंस की ओर जाने लगा। केवल थोड़े ही वर्षों से उसके पुनरुज्जीवन का चिह्न दिखायी दे रहा है। आशा है कि वह अपना नष्ट वैभव पुनः प्राप्त करेगा।

श्री चैतन्य का प्रभाव सारे भारत में दिखायी देता है। जहाँ कहीं भक्तिमार्ग की जानकारी है, वहाँ उनकी पूजा-मान्यता तथा उनके सम्बन्ध में सादर चर्चा प्रचलित है। मैं कई कारणों से यही मानता हूँ कि वल्लभाचार्य का सम्पूर्ण सम्प्रदाय[1] श्री चैतन्य महाप्रभु के सम्प्रदाय की एक शाखा मात्र है। पर वंगाल में उनके शिष्य कहलानेवाले लोग यह नहीं जानते कि उनकी शक्ति सारे भारत में आज भी किस तरह काम कर रही है। और वे समझें भी कैसे? उनके शिष्य तो गद्दीवाले वन गये, पर वे स्वयं भारत में नंगे पैर द्वार द्वार पर जाकर चाण्डाल तक को उपदेश देते, भगवान् के प्रति प्रेमसम्पन्न होने की भीख माँगते फिरे।

जो विचित्र अशास्त्रीय पैतृक कुलगुरुओं की प्रथा वंगाल प्रान्त में—और अधिकतर केवल उसी प्रान्त में प्रचलित हैं, वही उस प्रान्त के भारत के अन्य भागों के आध्यात्मिक जीवन से अलग रहने का एक और कारण है। सबसे बड़ा कारण तो यह है कि वंगदेशीय जीवन पर ऐसे महान् संन्यासी वर्ग का प्रभाव नहीं पड़ा, जो वर्ग आज भी अत्युच्च भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति के प्रतिनिधि और भाण्डारस्वरूप है।

बंगाल के उच्च वर्ग में त्याग की रुचि कदापि नहीं है। उनकी प्रवृत्ति भोग की ओर है। वे आध्यात्मिक विषयों में गंभीर अन्तर्दृष्टि कैसे प्राप्त कर सकते हैं? **त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः**—'एकमात्र त्याग द्वारा ही अमृतत्व प्राप्त होता है।' इसका व्यतिक्रम कैसे हो सकता है।

---

१. यह एक विशिष्ट वैष्णव सम्प्रदाय है। वल्लभाचार्य श्री विष्णु स्वामी के शिष्य थे। इस सम्प्रदाय का बम्बई प्रान्त में ख़ूब प्रचार है।

दूसरी ओर देखो तो हिन्दी भाषी संसार में बड़े प्रभावशाली प्रतिभावान त्यागी उपदेशकों की परम्परा ने द्वार द्वार तक वेदान्त के सिद्धान्तों को पहुँचा दिया है। विशेषकर पंजाबकेसरी रणजीतसिंह के शासन-काल में त्यागियों को जो प्रोत्साहन दिया गया था, उसके कारण नीचातिनीचों को भी वेदान्त दर्शन के उच्चतम उपदेशों को ग्रहण करने का अवसर प्राप्त हो गया। सात्त्विक अभिमान के साथ पंजाबी कृषक पुत्री कहती है कि मेरा सूत कातने का चरखा भी सोऽहम् सोऽहम् पुकार रहा है और मैंने मेहतर त्यागियों को भी हृषीकेश के अरण्यों में संन्यासी का वेष धारण किये वेदान्त का अध्ययन करते देखा है। और वे ऐसे-वैसे नहीं हैं। अनेक अभिमानी उच्चवर्णीय पुरुष भी उनके चरणों के समीप बैठकर शिक्षा प्राप्त करने में प्रसन्न होंगे। और ऐसा क्यों न हो? अन्त्यादपि परं धर्मम्—नीचकुलोत्पन्न मनुष्य से भी परम धर्म—परमात्म-ज्ञान की शिक्षा ली जा सकती है।

इसी तरह उत्तर-पश्चिमी प्रान्त[1] और पंजाब में धार्मिक शिक्षा बंगाल, वम्बई या मद्रास की अपेक्षा अधिक है। भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के सदा काल-प्रवास करनेवाले त्यागी—दशनामी, बैरागी और पंथी[2] लोग—प्रत्येक के द्वार पर धर्म का उपदेश दिया करते हैं और उसके लिए खर्च क्या पड़ता है?—केवल एक टुकड़ा रोटी। और उनमें से अधिकांश कितने उदार और निःस्वार्थ होते हैं। एक कचू-पंथी या स्वतंत्र-पंथी संन्यासी[3] (जो अपने को किसी पंथ में शामिल नहीं करना चाहते), ऐसे हैं, जिनके द्वारा राजपूताना में सैकड़ों पाठशालाएँ और दातव्य आश्रम स्थापित हुए हैं। उन्होंने जंगलों में अस्पताल खोले हैं और हिमालय के दुर्गम गिरि-नदियों को पार करने के लिए लोहे के पुल बनवाये हैं। और वे ऐसे पुरुष हैं कि सिक्के को अपने हाथों से कभी छूते तक नहीं और एक कम्बल के सिवा कोई अन्य संसारी वस्तु अपने पास नहीं रखते। इसी कारण लोगों में उनका नाम 'कमलीवाले' बाबा या स्वामी पड़ गया है। वे अपना भोजन द्वार द्वार पर जाकर माँग लिया करते हैं। मैंने उनको एक ही घर से अपना पूरा भोजन लेते नहीं देखा है। वे इसी विचार या डर से ऐसा करते हैं कि कहीं किसी एक ही गृहस्थ को उनकी भिक्षा भाररूप न हो जाय। और ऐसे

---

१. वर्तमान उत्तर प्रदेश।

२. वैष्णव साधकों को बैरागी कहते हैं। पन्थी—जैसे कबीर-पन्थी, नानक-पन्थी आदि।

३. ये उस समय जीवित थे।

वे ही एक नहीं हैं। उनके समान और कितने ही हैं। भारत में जव तक ऐसे भूदेव जीवित रहेंगे और अपने ऐसे दैवी आचरणरूप दुर्भेद्य परकोटे में 'सनातन धर्म' की रक्षा करते रहेंगे, तव तक वह पुराना धर्म क्या कभी मर सकता है ?

इस अमेरिका देश में वर्ष में केवल छः मास प्रत्येक रविवार को केवल दो घंटे ही धर्मोपदेश देने के लिए पादरी लोग ३०,००० रु०, ४०,००० रु०, ५०,००० रु० और कभी कभी तो ९०,००० रु० तक वार्षिक वेतन पाते हैं। देखो, अमेरिकन लोग अपने धर्म की रक्षा के लिए किस तरह करोड़ों रुपये वहा देते हैं और वंग-देशीय नवयुवकों को यह शिक्षा दी गयी है कि ये देवतुल्य परम निःस्वार्थ कमली-वाले वावा सरीखे संत आलसी और आवारा लोग हैं। **मद्भक्तानाञ्च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः**[1]—'जो मेरे भक्तों के भक्त हैं, उन्हें मैं अपना सवसे श्रेष्ठ भक्त मानता हूँ।'

अच्छा, अव एक दूसरे सिरे का उदाहरण लो—मान लो, एक अत्यन्त अज्ञानी बैरागी है। वह भी किसी गाँव में पहुँचेगा तो तुलसीकृत रामायण, चैतन्य-चरितामृत और यदि दाक्षिणात्य हुआ, तो दक्षिण के आलवार ग्रन्थों में से जो कुछ भी वह जानता होगा, उसे ग्रामवासियों को सिखाने का भरसक प्रयत्न करेगा। क्या ऐसा करने से कोई उपकार नहीं होता ? और यह सब केवल रोटी के टुकड़े और लँगोटी के कपड़े के वदले में हो जाता है। इन लोगों की निर्दयतापूर्ण समालोचना करने से पूर्व, मेरे भाइयो ! यह तो सोचो कि तुमने अपने ग़रीव देशभाइयों के लिए क्या किया है, जिनके खर्च से तुमने अपनी शिक्षा पायी, जिनका शोषण करके तुम अपने पदगौरव को क़ायम रखते हो और 'वावा जी लोग केवल आवारा फिरनेवाले लोग होते हैं', यह सिखाने के लिए अपने शिक्षकों को वेतन देते हो !

हमारे कुछ बंगदेशीय भाई लोग हिन्दू धर्म के इस पुनरुत्थान की, हिन्दू धर्म का 'नया विकास' कहकर उसकी आलोचना करते हैं। वे इसे 'नया' भले ही कहें, क्योंकि हिन्दू धर्म केवल अभी ही बंगाल में प्रवेश कर रहा है। वहाँ अव तक तो धर्म की समग्र कल्पना केवल खान-पान और विवाह सम्वन्धी देशाचार (स्थानीय रीति-रिवाज) के समुदाय तक ही परिमित थी।

श्री रामकृष्ण के शिष्यगण हिन्दू धर्म का जिस रूप में सारे भारत में प्रचार कर रहे हैं, वह सत् शास्त्रों के अनुकूल है या नहीं, ऐसे बड़े विषय का विचार करने

---

१. आदि पुराण में से एक श्लोक का अंश।

के लिए इस छोटे से पत्रक में पर्याप्त स्थान नहीं है। पर मैं यहाँ अपने समालोचकों के सामने कुछ संकेत अवश्य रखूँगा, जिनसे हमारी स्थिति को समझने में उन्हें कुछ सहायता मिल सके।

प्रथम तो मैंने ऐसी दलील कभी नहीं की कि 'काशीदास' या 'कृत्तिवास'[1] के ग्रन्थों से हिन्दू धर्म का यथार्थ रूप जाना जा सकता है, यद्यपि उनकी वाणी 'अमृत समान' है और उनको श्रवण करनेवाले 'पुण्यवान' हैं। हिन्दू धर्म का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें वेद और दर्शन शास्त्र पढ़ना चाहिए और भारत भर के महान् आचार्यों और उनके शिष्यों से उपदेश ग्रहण करना चाहिए।

भाइयो! यदि तुम 'गौतमसूत्र' से प्रारम्भ करो और 'आप्त'[2] के सम्बन्ध के उसके सिद्धान्तों को वात्स्यायन भाष्य की दृष्टि से पढ़ो, और शबर आदि अन्य भाष्यकारों की सहायता से मीमांसकों के मत तक पहुँच जायँ, तो तुमको पता चलेगा कि वे अलौकिक प्रत्यक्ष[3] तथा 'आप्त' के विषय में क्या कहते हैं, क्या हर एक व्यक्ति आप्त हो सकता है अथवा नहीं, और ऐसे आप्तों के वाक्य होने के कारण ही वेदों का प्रामाण्य है। यदि तुमको यजुर्वेद की महीधरकृत प्रस्तावना पढ़ने का समय हो, तो उसमें तुमको इस बात का और अधिक स्पष्टीकरण मिलेगा कि वेद मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन के नियम हैं। और इसी कारण उनका सिद्धान्त है कि वेद अनादि तथा अनन्त हैं।

सृष्टि के अनादित्व का सिद्धान्त, केवल हिन्दू धर्म का ही नहीं, वरन् बौद्ध तथा जैन धर्म का भी प्रधान आधारस्तम्भ है।

अब भारत के सभी सम्प्रदाय स्थूल रूप से—ज्ञानमार्गी और भक्तिमार्गी—इन दो श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं। यदि तुम श्री शंकराचार्यकृत 'शारीरक भाष्य' की भूमिका को देखो, तो उसमें तुमको ज्ञान की निरपेक्षता के सम्बन्ध में पूर्ण विवेचन मिलेगा और सिद्धान्त यह निकाला गया है कि ब्रह्म की अनुभूति और मोक्ष की प्राप्ति किसी अनुष्ठान, मत, वर्ण, जाति या सम्प्रदाय पर अवलम्बित

---

१. प्रसिद्ध बंगाली कवि।

२. जिन्होंने पाया है—अर्थात् ऐसे पुरुष जिन्होंने आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार किया है, जो मनुष्य स्वभावसुलभ दुर्बलता से मुक्त हुए हैं।

३. अपरोक्षानुभूति।

नहीं है। कोई भी साधन-चतुष्टय-सम्पन्न[1] साधक उसका अधिकारी बन सकता है। साधन-चतुष्टय सम्पूर्ण चित्तशुद्धि करनेवाले कुछ अनुष्ठान मात्र हैं।

भक्तिमार्ग के विषय में तो बंगदेशीय समालोचक भी अच्छी तरह से जानते हैं कि भक्ति के कई आचार्यों ने यह घोषणा की है कि जाति, वंश, लिंग आदि—यहाँ तक कि मनुष्य योनि—की भी आवश्यकता मोक्ष के लिए नहीं है। केवल एक आवश्यक वस्तु है भक्ति।

ज्ञान और भक्ति दोनों को निरपेक्ष बतलाकर ही सर्वत्र उपदेश दिया गया है। इसी कारण एक भी ऐसे आचार्य नहीं हैं, जिन्होंने विशेष पंथ, विशेष जाति या विशेष वंश की आवश्यकता मोक्ष के लिए बतायी हो। इस सम्बन्ध में अन्तरा वापि तु तद्दृष्टः[2] इस व्यास-सूत्र का शंकर, रामानुज और मध्व कृत भाष्य पढ़ो।

समग्र उपनिषदों का अध्ययन करो और संहिताओं में भी देखो। कहीं भी मोक्ष के सम्बन्ध में अन्य धर्मों के समान मर्यादित या संकीर्ण विचार नहीं मिलेंगे। अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता के विषय में सर्वत्र ही उल्लेख है, यहाँ तक कि अध्वर्यु वेद की संहिता के चालीसवें अध्याय के तृतीय या चतुर्थ श्लोक में (यदि मुझे ठीक स्मरण है तो) कहा है—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।[3]

यही भाव हिन्दू धर्म में सर्वत्र विद्यमान है।

---

१. नित्यानित्यवस्तुविवेक—ब्रह्म नित्य तथा जगत् अनित्य—इस तत्त्व का विचार (२) इहामुत्रफलभोगविराग—सांसारिक सुख तथा पारलौकिक स्वर्गादि भोग के सम्बन्ध में वितृष्णा (३) शमादि षट् सम्पत्ति—(क) शम—चित्तसंयम, (ख) दम—इन्द्रियसंयम, (ग) उपरति—संन्यास तथा चित्तवृत्ति का उपरम, (घ) तितिक्षा—प्रतिकार तथा चिन्ता-विलापशून्य होकर समस्त दुःखों को सहना, (ङ) श्रद्धा—गुरु-वेदान्त वाक्य में विश्वास, (च) समाधान—ब्रह्म में चित्त की एकाग्रता, (४) मुमुक्षुत्व—मोक्षलाभ की प्रबल इच्छा।
—द्र० वेदान्तसूत्र का शारीरक भाष्य॥१।१।१॥

२. वेदान्तसूत्र॥३।४।३५॥ इसका अर्थ इसी शास्त्र में पाया जाता है कि अनेक व्यक्ति किसी आश्रमविशेष का अवलम्बन करके भी ज्ञान के अधिकारी हुए हैं।

३. यह गीता में भी है, ३।२६; इसका अर्थ है—जो कर्म को ही श्रेष्ठ मानकर कर्म में आसक्त हैं; उन अज्ञ व्यक्तियों को ज्ञान का उपदेश देकर, ज्ञानी पुरुष को उनकी मति विचलित नहीं करनी चाहिए।

क्या भारत में कोई भी मनुष्य—जब तक वह सामाजिक नियमों का पालन करता रहा—किसी भी विशिष्ट इष्ट देवता को मानने के कारण या नास्तिक या अज्ञेयवादी होने के कारण पीड़ित किया गया? समाज किसीको सामाजिक नियम भंग करने के अपराध में शासित करे, पर प्रत्येक मनुष्य के लिए, अति नीच पतित के लिए भी हिन्दू धर्म में मोक्षमार्ग कभी बंद नहीं किया गया। इन दोनों विषयों को एक में मत मिलाओ। उदाहरणार्थ—मलाबार में जिस सड़क से उच्च वर्ण का मनुष्य चलता है, उससे चाण्डाल को चलने की मनाही है, पर यदि वह मुसलमान या ईसाई हो जाय, तो वह कहीं भी चल सकता है—ऐसा नियम हिन्दू राजा के राज्य में सदियों से रहा है। यह अटपटा भले ही दिखे, पर अत्यन्त प्रतिकूल अवस्था में भी अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता का भाव तो इसमें स्पष्ट है।

एक भाव हिन्दू धर्म में संसार के अन्य धर्मों की अपेक्षा विशेष है। उसके प्रकट करने में ऋषियों ने संस्कृत भाषा के प्रायः समग्र शब्दसमूह को निःशेष कर डाला है। वह भाव यह है कि मनुष्य को इसी जीवन में ईश्वर की प्राप्ति करनी होगी और अद्वैतग्रन्थ अत्यन्त प्रमाणयुक्त तर्क के साथ उसमें यह जोड़ देते हैं कि 'ईश्वर को जानना ही ईश्वर हो जाना है'—ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति।[1]

इसके आवश्यक फलस्वरूप यह उदार और अत्यन्त प्रभावशाली मत प्रकट होता है—जो कि न केवल वैदिक ऋषियों द्वारा घोषित हुआ है, जिसे न केवल विदुर, धर्मव्याध[2] आदि ने ही कहा है, वरन् अभी कुछ समय पूर्व दादू-पंथी सम्प्रदाय के त्यागी संत निश्चलदास ने अपने 'विचारसागर' में स्पष्टतापूर्वक कहा है—

'जिसने ब्रह्म को जान लिया, वह ब्रह्म बन गया, उसकी वाणी वेद है, और उससे अज्ञान का अन्धकार दूर हट जायगा, चाहे वह वाणी संस्कृत में हो या किसी लोक-भाषा में हो।'[3]

इस प्रकार द्वैतवादियों के मत के अनुसार ब्रह्म की उपलब्धि करना, ईश्वर का साक्षात्कार करना या अद्वैतवादियों के कहने के अनुसार ब्रह्म हो जाना—यही वेदों के समस्त उपदेशों का एकमात्र लक्ष्य है, और उसके अन्य उपदेश हमारी, उस लक्ष्य की ओर प्रगति के लिए सोपानस्वरूप हैं। भाष्यकार भगवान् शंकराचार्य की महिमा यही है कि उनकी प्रतिभा ने व्यास के भावों की ऐसी अपूर्व व्याख्या प्रकट की।

---

१. 'जानत तुमहिं तुमहि ह्वै जाई'—तुलसी रामायण, अयोध्याकाण्ड।
२. द्र० महाभारत, वनपर्व।
३. जो ब्रह्मविद् वही ब्रह्म ताको वाणी वेद।
संस्कृत और भाषा में करत भरम का छेद॥

निरपेक्ष रूप से केवल ब्रह्म ही सत्य है। सापेक्ष सत्य की दृष्टि से भारत और अन्य देशों के सभी विभिन्न मत उसी ब्रह्म के भिन्न भिन्न रूपों के आधार पर बने हुए होने के कारण सत्य हैं। केवल कुछ मत दूसरे अन्य मतों से श्रेष्ठ हैं। मान लो, एक मनुष्य सीधा सूर्य की ओर चलता जा रहा है। अपनी यात्रा में प्रत्येक पद पर वह सूर्य के नवीन नवीन दृश्य—आकार, रूप और प्रकाश—हर क्षण नया नया देखता जायगा, जब तक कि वह प्रत्यक्ष सूर्य तक न पहुँच जाय। पहले सूर्य जैसा उसे एक बड़े गेंद सा दिखायी देता था, वैसा तो वह कभी नहीं था; न वह सूर्य कभी वैसा ही था, जैसा कि उसे वह अपनी यात्रा में भिन्न भिन्न रूपों में दिखा। फिर भी क्या यह सत्य नहीं है कि हमारे उस यात्री ने सदा सूर्य को ही देखा और उस सूर्य के सिवा किसी अन्य वस्तु को नहीं देखा! उसी तरह ये सभी भिन्न भिन्न मत सत्य हैं—कुछ सन्निकट हैं, तो कुछ यथार्थ सूर्य से अधिक दूर हैं—और वह सूर्य है हमारा **एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म** (एक अद्वितीय ब्रह्म)।

और जब वेद ही उस सत्य निर्विशेष ब्रह्म की शिक्षा देनेवाले एकमात्र शास्त्र हैं और ईश्वर सम्बन्धी अन्य सब मत केवल उसीके छोटे मर्यादित दर्शन मात्र हैं; जब कि **सर्वलोकहितैषिणी** श्रुति भगवती धीरे से भक्त का हाथ पकड़ लेती है और एक श्रेणी से दूसरी में, और क्रमशः अन्य सभी श्रेणियों में से, जहाँ जहाँ से पार होना आवश्यक है वहाँ से ले जाकर, उस निर्विशेष ब्रह्म तक पहुँचा देती है; और जब अन्य सभी धर्म उन्हींमें से रुद्धगति तथा स्थितिशील रूप में किसी एक या दूसरी श्रेणी मात्र का ही निर्देश करते हैं, तब तो संसार के सभी धर्म उस नामरहित, सीमा-रहित, नित्य वैदिक धर्म के अन्तर्गत हैं।

सैकड़ों जीवन तक लगातार प्रयत्न करो, युगों अपने मन के अन्तस्तल में खोजो—तो भी तुमको एक भी ऐसा उदार धार्मिक विचार दिखायी नहीं देगा, जो कि आध्यात्मिकता की उस अनन्त खान में पूर्व से ही अन्तर्निहित न हो।

अब हिन्दुओं की मूर्तिपूजा कही जानेवाली तथाकथित प्रथा को ले लो—प्रथम तो तुम जाकर उस पूजा के विभिन्न प्रकारों को सीखो और यह निश्चय करो कि वे उपासक यथार्थ में पूजा कहाँ कर रहे हैं—मन्दिर में, प्रतिमा में या अपने देह-मन्दिर में। पहले यह तो निश्चय रूप से जान लो कि वे क्या कर रहे हैं (निन्दा करनेवालों में से ९० प्रतिशत से अधिक लोग इस बात को नहीं जानते) और तब वेदान्त दर्शन की दृष्टि से वह बात अपने आप ही समझ में आ जायगी।

फिर भी यह कर्म अनिवार्य नहीं हैं। वरन् 'मनु' को खोलकर देखो, जहाँ उसमें प्रत्येक वृद्ध मनुष्य के लिए चतुर्थ आश्रम ग्रहण करने की आज्ञा है, चाहे वह

वैसा करे या न करे, उसे सभी कर्मों का त्याग तो करना ही चाहिए। सर्वत्र यही पुनः पुनः कहा गया है कि ये सभी कर्म ज्ञान में जाकर समाप्त होते हैं—ज्ञाने परिसमाप्यते।[1]

यथार्थ में तो अन्य देशों के अनेक भद्र लोगों की अपेक्षा किसी भी हिन्दू किसान को धार्मिक शिक्षा अधिक प्राप्त है। अपने भाषणों में दर्शन और धर्मशास्त्र के यूरोपीय शब्दों के उपयोग करने के विषय में मुझे एक मित्र ने दोषी ठहराया। मैं संस्कृत शब्दों का सहर्ष उपयोग करता, मेरे लिए वैसा करना बहुत आसान होता, क्योंकि धर्म-भाव को प्रकट करने के लिए एकमात्र पूर्ण साधन संस्कृत भाषा ही है; पर वह मित्र यह भूल गया था कि मैं पाश्चात्य श्रोताओं के सामने भाषण दे रहा था। और यद्यपि एक भारतीय ईसाई पादरी ने यह कहा था कि हिन्दू लोग अपने धर्मग्रन्थों का अर्थ भूल गये हैं और पादरी लोगों ने ही उसका अर्थ खोज निकाला, पादरियों के उस वृहत् समुदाय में मुझे एक भी ऐसा नहीं मिला, जो संस्कृत का एक वाक्य भी समझ सकता—पर फिर भी उनमें से कई ऐसे थे, जिन्होंने वेदों तथा हिन्दू धर्म के अन्य पवित्र ग्रन्थों की निन्दात्मक समालोचना के विद्वत्तापूर्ण लेख पढ़कर सुनाये!

यह बात सच नहीं है कि मैं किसी धर्म का विरोधी हूँ। और मैं भारत के ईसाई पादरियों से शत्रुता रखता हूँ, यह भी उतना ही असत्य है। परन्तु अमेरिका में वे जिस तरीक़े से चंदा से धन एकत्र करते हैं, उसका मैं अवश्य ही प्रतिवाद करता हूँ। बच्चों की पाठ्य पुस्तकों में ऐसे चित्रों के छापने का क्या मतलब है, जिनमें हिन्दू माता अपने बच्चे को गंगा नदी में मगर के मुँह में झोंक रही है? चित्र में माता तो काले रंग की है, परन्तु बच्चे का रंग गौर रखा गया है, जिससे कि बच्चे के प्रति सहानुभूति अधिक बढ़े और धन अधिक प्राप्त हो। उन चित्रों का भी क्या अर्थ है, जिनमें एक मनुष्य अपनी पत्नी को अपने हाथों से एक स्तम्भ से बाँधकर इसलिए जीवित जला रहा है कि वह मरकर भूत हो जाये और उसके (अपने पति के) शत्रुओं को सताये! मनुष्यों के समूह को कुचलते हुए बड़े बड़े रथों के चित्र छापने का क्या मतलब है? उस दिन इस देश में (अमेरिका में) बच्चों के लिए एक पुस्तक प्रकाशित हुई। उसमें एक सज्जन अपनी कलकत्ता-यात्रा का वर्णन कर रहे हैं। वे कहते हैं कि कलकत्ता की सड़कों पर कई धर्मोन्मत्त मनुष्यों पर से उनको कुचलते हुए एक बड़ा रथ चलाया जा रहा था, ऐसा मैंने देखा। मेमफ़िस शहर में मैंने एक पादरी को यह प्रचार करते सुना कि भारत के प्रत्येक

---

१. गीता ॥४।३३॥

ग्राम में एक ऐसा तालाब रहता है, जो छोटे छोटे बच्चों की हड्डियों से भरा रहता है।

हिन्दुओं ने ईसा मसीह के उन शिष्यों को, जो प्रत्येक ईसाई बालक को यह सिखाते हैं कि हिन्दू दुष्ट हैं, अभागे हैं और पृथ्वी में अत्यन्त भयानक दानवस्वरूप हैं, क्या किया है? यहाँ के बालकों को रविवार की पाठशालाओं की शिक्षा का एक अंश यही रहता है कि जो ईसाई नहीं हैं, उन लोगों से और विशेषकर हिन्दुओं से घृणा करो, ताकि बचपन से ही वे पादरी मिशन को अपने पैसे चंदे के रूप में देने लगें। यदि सत्य के लिए नहीं, तो कम से कम अपने ही बच्चों के सदाचार की रक्षा के निमित्त ईसाई पादरियों को चाहिए कि वे ऐसी बातें न होने दें। ऐसे बच्चे आगे बड़े होकर निर्दयी पुरुष और स्त्री बनते हैं, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? जो प्रचारक अनन्त नरकों की यातनाओं, वहाँ की प्रज्वलित अग्निज्वाला, प्रज्वलित गंधक आदि का जितना ही अधिक भयंकर वर्णन कर सके, उसे उतनी ही अधिक प्रतिष्ठा कट्टरपन्थियों में मिलती है। हमारे एक मित्र की नौकरानी लड़की को पुनरुत्थान सम्प्रदाय[1] (revivalist) के उपदेश सुनने के परिणामस्वरूप पागलखाने में रखना पड़ा। उसके लिए 'नरकाग्नि और प्रज्वलित गंधक' की मात्रा अत्यधिक हो गयी! पुनश्च, हिन्दू धर्म के विरुद्ध मद्रास में प्रकाशित पुस्तकों की ओर तो देखो। यदि इस प्रकार का एक वाक्य भी कोई हिन्दू ईसाई धर्म के विरुद्ध लिख दे, तो पादरी लोग बदला लेने के लिए आकाश-पाताल एक कर डालेंगे।

मेरे देशबंधुओ! मैं इस देश में एक वर्ष से अधिक रह चुका हूँ। मैंने इनके समाज का प्रायः कोना कोना छान डाला है। और दोनों का मिलान करके मैं तुम लोगों को बता रहा हूँ कि जैसा पादरी लोग संसार को बताया करते हैं, उस प्रकार न तो हम लोग 'राक्षस' हैं और न वे लोग 'देवता' ही, जैसा कि उनका दावा है। पादरी लोग नैतिक पतन, बाल हत्या और हिन्दू विवाह-पद्धति के दोषों के सम्बन्ध में जितना ही कम बोलें, उतना ही उनके लिए बेहतर होगा। कई देशों के ऐसे यथार्थ चित्र हो सकते हैं, जिनके सामने पादरियों द्वारा खींचे हुए हिन्दू समाज के सभी काल्पनिक चित्र फीके पड़ जायेंगे। परन्तु मेरे जीवन का उद्देश्य वैतनिक प्रचारक बनने का नहीं है। हिन्दू समाज सम्पूर्ण निर्दोष है, ऐसा दावा और कोई करे तो करे, मैं तो कदापि न करूँगा। मेरे समाज की त्रुटियों की, या शताब्दियों के दुर्भाग्य के कारण जिन दोषों ने उसमें जड़ जमा ली है, उनकी जानकारी मुझे औरों

---

१. एक सम्प्रदाय, जो कुछ अनुदार मतों को ईसाई धर्म का प्राचीन भाव कहकर पुनः स्थापित करने का प्रयत्न करता है।

की अपेक्षा अधिक है। विदेशी मित्रो! यदि तुम सच्ची सहानुभूति के साथ सहायता देने के लिए—न कि विनाश करने के लिए—आते हो तो, ईश्वर तुमको सफल बनाये। परन्तु यदि इस दलित और पतित राष्ट्र के मस्तक पर समय-कुसमय सतत गालियों की बौछार करके अपने निजी राष्ट्र की नैतिक श्रेष्ठता की विजयपूर्ण घोषणा करना ही तुम्हारा उद्देश्य है, तो मैं तुमको साफ़ साफ़ बतला देना चाहता हूँ कि यदि कुछ भी न्याय के साथ तुलना की जायगी, तो नैतिक आचार में हिन्दू लोग संसार की अन्य जातियों की अपेक्षा अत्यधिक उन्नत पाये जायँगे।

भारत में धर्म पर प्रतिबंध नहीं रखा गया था। किसी भी मनुष्य को अपने इष्टदेव या सम्प्रदाय या अपने गुरु के चुनने में कोई रोक-टोक नहीं की जाती थी। इसी कारण यहाँ धर्म की जैसी वृद्धि हुई, वैसी कहीं नहीं हुई। दूसरी ओर ऐसा हुआ कि धर्म के इन असंख्य विभेदों को रखने के लिए एक स्थिर बिन्दु की आवश्यकता हुई, और भारत में समाज ही ऐसा बिन्दु माना गया। परिणामस्वरूप समाज कड़ा और कठोर तथा प्रायः अचल बन गया। कारण यह है कि स्वाधीनता ही उन्नति का एकमात्र उपाय है।

इसके विपरीत पाश्चात्य देशों में विभिन्न भावों के विकास का क्षेत्र समाज था और स्थिर बिन्दु था धर्म। मतैक्य ही यूरोपीय धर्म का मूलमंत्र बन गया और अभी भी है। और प्रत्येक नये परिवर्तन को अपने लिए थोड़ा भी स्थान प्राप्त करने के लिए रक्त की नदी में से तैरकर जाना पड़ता है। परिणामस्वरूप वहाँ सामाजिक संगठन तो अपूर्व है, परन्तु धर्म अत्यन्त स्थूल जड़वाद से आगे नहीं बढ़ सका।

आज पश्चिम तो अपनी आवश्यकताओं के विषय में जाग्रत हो रहा है और पाश्चात्य ईश्वरतत्त्वान्वेषियों का मूलमंत्र 'मनुष्य का सच्चा स्वरूप' और 'आत्मा' हो गया है। संस्कृत दर्शन का विद्यार्थी जानता है कि वायु किधर से बह रही है; शक्ति कहीं से भी आये, जब तक वह नवीन जीवन का संचार करती रहे, उस पर कोई आपत्ति नहीं की जा सकती।

उसी समय भारत में नयी परिस्थितियों के कारण सामाजिक संगठन के पुनः संशोधन की आवश्यकता विशेष रूप से प्रतीत होने लगी। पिछले पौन सौ वर्षों से भारत में सुधार-सभाओं और सुधारकों की बहुत चहल-पहल रही है। पर शोक की बात है कि उनमें से प्रत्येक यत्न असफल रहा। उन लोगों को समाज-सुधार का यथार्थ रहस्य विदित नहीं था। उन्होंने यथार्थ में सीखने लायक़ बड़ी बात को नहीं सीखा। उतावली में उन लोगों ने हमारे समाज के सारे दोषों का उत्तरदायित्व धर्म के मत्थे मढ़ दिया और कथा में वर्णित अपने मित्र के कपाल पर बैठे हुए

मच्छर को मारने की इच्छा करनेवाले मनुष्य की तरह अपने मित्र और मच्छर दोनों को शायद उन्होंने एक साथ ही मार डाला होता। परन्तु सौभाग्य से इस प्रसंग में तो स्वयं वे ही अचल चट्टानों पर जाकर टकराये और उस टकराने की चोट से अपना ही अस्तित्व खो बैठे। उन उदार निःस्वार्थ आत्माओं को धन्य है, जो अपने विपथगामी प्रयत्नों में श्रम उठाते हुए असफल रहे। उनके सुधार के प्रति उत्साह-रूपी वैद्युतिक आघातों की उस निद्रामग्न समाजरूपी कुंभकर्ण को अत्यन्त आवश्यकता थी। पर वे पूर्णतः विनाशात्मक थे, रचनात्मक नहीं; और इसी कारण मरणशील थे, अतः मर भी गये।

आओ, हम उन्हें आशीर्वाद दें और उनके अनुभव से लाभ उठायें। उन्होंने यह पाठ नहीं पढ़ा कि विकास का भीतर से आरम्भ होकर बाहर उसकी परिणति होती है और सभी क्रमविकास[1] पूर्ववर्ती किसी क्रमसंकोच का पुनर्विकास मात्र है। वे यह नहीं जान पाये कि बीज अपने चारों ओर के तत्त्वों से उपादान ग्रहण करता है, पर वृक्ष तो अपनी ही प्रकृति में उगेगा। जब तक सम्पूर्ण हिन्दू जाति निर्मूल न हो जाय और उसकी भूमि को नयी जाति अधिकृत न कर ले, तब तक समाज के ऐसे विप्लव-कारी संस्कार सम्भव नहीं हैं। चाहे पूर्व प्रयत्न करे, चाहे पश्चिम, भारत कभी यूरोप नहीं बन सकता, जब तक कि वह मर-मिट न जाय।

और क्या वह कभी मर भी जायगा? वह भारत जो प्राचीन काल से सभी उदात्तता, नैतिकता और आध्यात्मिकता का जन्मस्थान रहा है, वह देश जिसमें ऋषिगण विचरण करते रहे हैं, जिस भूमि में देवतुल्य मनुष्य अभी भी जीवित और जाग्रत हैं, क्या मर जायगा? भाइयो! मैं उस एथेंसीय ऋषि[2] की लालटेन को उधार लेकर तुम्हारे पीछे पीछे इस विशाल संसार के शहरों, ग्रामों, मैदानों और जंगलों को चलूँगा—मुझे अगर तुम दिखा सकते हो, तो ऐसे पुरुष दूसरे देशों में भी दिखा दो। सत्य ही कहा है, 'वृक्ष की पहचान उसके फलों से ही होती है।' भारत में प्रत्येक आम्र वृक्ष के नीचे जाओ और ज़मीन पर गिरे हुए कच्चे कीड़े लगे हुए फलों के बोरे के बोरे भरकर ले आओ और उनमें से प्रत्येक फल पर अत्यन्त विद्वत्ता-पूर्ण सैकड़ों पुस्तकें लिख डालो—परन्तु इतने पर भी तुम एक भी आम्र फल का यथार्थ वर्णन नहीं कर पाओगे। अच्छा, अब तुम एक रसीला मीठा पूरा पका आम

---

१. क्रमविकास—Evolution; क्रमसंकोच—Involution

२. डायोजीनीज, सिनिक (Cynic) सम्प्रदाय के एक महात्मा, जिनका यह विश्वास था कि संसार में सच्चे साधु बहुत कम हैं। इसी भाव को प्रकट करने के लिए वे दिन में लालटेन जलाकर इधर-उधर घूमा करते थे।

उस पेड़ पर से तोड़ लो और अब तुम आम सचमुच क्या है, यह पूर्ण रूप से जान जाओगे।

उसी तरह ये देव-मानव हिन्दू धर्म के यथार्थ स्वरूप का परिचय दे रहे हैं। वे उस जातिरूप वृक्ष की प्रकृति, शक्ति और सम्भावनाओं को स्पष्ट रूप में प्रकाशित करते हैं। वह जातिवृक्ष ऐसा है कि उसने कई शताब्दियों की सभ्यता देखी है। उस वृक्ष ने सहस्रों वर्षों तक झंझावात के आघातों को सहन किया और फिर भी सनातन यौवन की अक्षुण्ण शक्तियों से भरा हुआ खड़ा है।

क्या भारत मर जायगा? तब तो संसार से सारी आध्यात्मिकता का समूल नाश हो जायगा, सारे सदाचारपूर्ण आदर्श जीवन का विनाश हो जायगा, धर्मों के प्रति सारी मधुर सहानुभूति नष्ट हो जायगी, सारी भावुकता का भी लोप हो जायगा। और उसके स्थान में कामरूपी देव और विलासितारूपी देवी राज्य करेगी। धन उनका पुरोहित होगा। प्रतारणा, पाशविक बल और प्रतिद्वन्द्विता, ये ही उनकी पूजा-पद्धति होंगी और मानवात्मा उनकी बलिसामग्री हो जायगी। ऐसी दुर्घटना कभी हो नहीं सकती। क्रियाशक्ति की अपेक्षा सहनशक्ति कई गुना बड़ी होती है। प्रेम का बल घृणा के बल की अपेक्षा अनन्त गुना अधिक है। जो समझते हैं कि हिन्दू धर्म का वर्तमान पुनरुत्थान देशभक्ति की प्रवृत्ति का विकास मात्र है, वे भ्रम में हैं।

आओ, सर्वप्रथम हम इस अद्‌भुत व्यापार को समझने का प्रयत्न करें।

क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि जब कि वर्तमान वैज्ञानिक खोज के प्रबल आक्रमण के सामने पाश्चात्य स्वमतांध धर्मों के पुराने किले टूट टूटकर धूलि में मिल रहे हैं, जब कि आधुनिक विज्ञान के हथौडों की चोटें उन धार्मिक मतों को चीनी मिट्टी के बर्तनों की तरह चूर चूर कर रही हैं, जिनका आधार केवल विश्वास या चर्च-समिति की सभाओं का बहुमत है, जब कि पाश्चात्य धर्मसमूह अत्युग्र आधुनिक विचारों की बढ़ती हुई तरंग के साथ मेल मिलाने में अपनी बुद्धि का दिवाला निकाल चुका है, जब कि अन्य धर्मों के मूल ग्रन्थों के वाक्यों की, आधुनिक विचारों के नित्य बढ़नेवाले दबाव के कारण, जहाँ तक बन पड़ा, अत्यन्त खींचातानी की गयी—उनमें से अधिकांश तो इस खींचातानी में टूट गये और रद्दीखाने में डाल दिये गये, जब कि पश्चिम के अधिकांश विचारशील व्यक्ति चर्च के साथ अपना सम्बन्ध तोड़कर अशान्ति-सागर में इधर-उधर बह रहे हैं, उस समय भी वेदरूपी ज्ञान के झरने से जीवनामृत पीनेवाले, वेदों से उत्पन्न केवल हिन्दू और बौद्ध धर्म ही पुनरुज्जीवित हो रहे हैं?

पश्चिम के अशान्त हृदय नास्तिक और अज्ञेयवादी को गीता और धम्मपद[1] में ही ऐसा स्थान मिलता है, जहाँ उनका चित्त शान्ति पाता है।

अब पाँसे पलट गये। जो हिन्दू निराशा के आँसू बहाता हुआ अपने पुराने निवास-गृह को आततायियों द्वारा प्रज्वलित अग्नि से परिवेष्टित देख रहा था, आज जब कि आधुनिक विचार के शोधक प्रकाश ने धुएँ के अन्धकार को हटा दिया है, तब वही हिन्दू देख रहा है कि उसीका घर तो अपनी पूरी दृढ़ता के साथ खड़ा हुआ है और शेष सब लोग या तो मर मिटे या अपने अपने घर हिन्दू नमूने के अनुसार नये सिरे से बना रहे हैं। यह देखकर उस हिन्दू ने अपने आँसू पोंछ डाले और यह जान लिया कि ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थ[2] को जड़ तक काटने की कोशिश करनेवाली वह कुल्हाड़ी चीर-फाड़ करनेवाले चिकित्सक सर्जन की हितकारक छुरी ही साबित हुई।

उसने यह देख लिया कि अपने धर्म की रक्षा के लिए न तो उसे शास्त्र-वाक्यों की तोड़-मरोड करनी है और न किसी अन्य प्रकार की बौद्धिक बेइमानी ही। इतना ही नहीं, वह तो अपने शास्त्रों में जो कुछ निम्न श्रेणी का है, उसे निम्न ही कहकर स्वीकार कर सकता है, क्योंकि शास्त्रकारों ने निम्न स्तर के अधिकारियों के लिए अरुन्धती-दर्शन न्याय[3] के अनुसार वैसा ही जान-बूझकर रखा है। धन्य हैं वे पुरातन ऋषि, जिन्होंने ऐसे सर्वव्यापी, सदा विस्तारशील धर्मप्रणाली का आविष्कार किया है, जिसमें भौतिक क्षेत्र में आज तक जो आविष्कार हो चुके हैं और जो कुछ भी भविष्य में होनेवाले हैं, उन सबका सादर समावेश हो सकता है। अब तो हिन्दू अपने शास्त्रों का आदर पुनः नये भाव से करने लगा है और उसने यह नयी जानकारी प्राप्त की है कि जो वैज्ञानिक आविष्कार प्रत्येक मर्यादित छोटी छोटी धर्म-प्रणाली के लिए घातक सिद्ध हुए, वे सब उसके पूर्वजों के ध्यानलब्ध, तुरीय

---

१. बौद्धों का श्रेष्ठ नीतिशास्त्र।

२. गीता (१५।१) तथा कठोपनिषद् (२।३।१) से उद्धृत। इसका अर्थ है—'इस संसार-वृक्ष का मूल ऊर्ध्व (ब्रह्म) में, और शाखा-प्रशाखाएँ निम्न की ओर फैली हुई हैं।' यहाँ पर उसका अर्थ है हिन्दू धर्म।

३. अरुन्धती एक इतना छोटा तारा है, जो शीघ्र नहीं दिखायी देता। जब उसे किसी मनुष्य को दिखाना होता है, तो पहले उस मनुष्य की दृष्टि उस तारे के निकट के किसी दूसरे बड़े चमकीले तारे की ओर की जाती है, और इस प्रकार क्रमशः उस छोटे अरुन्धती तारे को दिखाया जाता है। इसी प्रकार धर्म का सूक्ष्म भाव समझने के लिए पहले स्थूल भाव की सहायता लेनी पड़ती है।

अवस्था में पाये हुए सत्यों के ही बुद्धि और इन्द्रियजन्य व्यावहारिक ज्ञानक्षेत्र में पुनराविष्कार मात्र हैं।

अतः उसे न तो किसी वस्तु का त्याग ही करना है और न किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए इधर-उधर भटकना ही है, वरन् उसके लिए इतना ही पर्याप्त है कि वह अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार में पाये हुए अनन्त कोष में से केवल थोड़ा सा निकालकर अपने उपयोग में लाये और उससे अपनी आवश्यकता की पूर्ति करे। और उसने ऐसा करना आरम्भ कर दिया है और भविष्य में वह और अधिकाधिक करेगा। क्या यही इस पुनरुत्थान का सच्चा कारण नहीं है?

बंगाल के नवयुवको! तुम लोगों से मेरा विशेष अनुरोध है। भाइयो! हमें यह जानकर लज्जा होती है कि जिन बहुतेरे वास्तविक दोषों के कारण विदेशी लोग हिन्दू जाति को बदनाम करते हैं, उन दोषों का कारण हम ही हैं। हम ही भारत की अन्य जातियों के सिर पर बरसनेवाली अनुचित गालियों के कारण हैं। पर ईश्वर को धन्यवाद है कि हम लोग इस बात को पूर्णतया जान गये हैं और उसी ईश्वर के आशीर्वाद से न केवल अपने को ही शुद्ध कर लेंगे, वरन् सारे भारत को सनातन धर्म द्वारा उपदिष्ट आदर्शों के प्राप्त करने में सहायता देंगे।

सर्वप्रथम तो हमें उस चिह्न—ईर्ष्यारूपी कलंक—को, जिसे गुलामों के ललाट में प्रकृति सदैव लगा दिया करती है, धो डालना चाहिए। किसीसे ईर्ष्या मत करो। भलाई के काम करनेवाले प्रत्येक को अपने हाथ का सहारा दो। तीनों लोकों के जीव मात्र के लिए शुभ कामना करो।

अपने धर्म के उसी एक केन्द्रवर्ती सत्य पर खड़े हो जाओ—जो हिन्दू, बौद्ध और जैनियों के लिए पैतृक सम्पत्ति है। वह सत्य है, मनुष्य की आत्मा—अज, अविनाशी, सर्वव्यापी, अनन्त, मानवात्मा, जिसकी महिमा वेद भी वर्णन नहीं कर सकते, जिसके वैभव के सामने सूर्य-चन्द्र, तारागण और नक्षत्र-समूहों के साथ सारा विश्व एक बिन्दुवत् है। प्रत्येक स्त्री-पुरुष, यही नहीं, उच्चतम देवों से लेकर पदतलस्थ कीट पर्यन्त सभी वही आत्मा, विकसित या अविकसित है। अन्तर प्रकार में नहीं, केवल परिमाण में है।

आत्मा की इस अनन्त शक्ति का प्रयोग जड़ वस्तु पर होने से भौतिक उन्नति होती है, विचार पर होने से बुद्धि का विकास होता है और अपने ही पर होने से मनुष्य का ईश्वर बन जाता है।

पहले हमें ईश्वर बन लेने दो। तत्पश्चात् दूसरों को ईश्वर बनाने में सहायता देंगे। बनो और बनाओ, यही हमारा मूल-मंत्र रहे।

ऐसा न कहो कि मनुष्य पापी है। उसे यह बताओ कि तू ब्रह्म है। यदि कोई शैतान हो, तो भी हमारा कर्तव्य यही है कि हम ब्रह्म का ही स्मरण करें, शैतान का नहीं।

यदि कोठरी में अन्धकार है, तो सदा अन्धकार का अनुभव करते रहने और अन्धकार अन्धकार चिल्लाते रहने से तो वह दूर नहीं होगा, बल्कि प्रकाश को भीतर ले आओ, तब वह दूर हो जायगा। यह तो हमें समझ लेना चाहिए कि जो कुछ भी अभावात्मक है, विनाशकारी है और केवल दोष देखनेवाला है, उसका अन्त अवश्यम्भावी है; और जो भावात्मक, सत्यात्मक और रचनात्मक है, वही अमर है और वही सदा रहेगा। हम यही कहें—'हम हैं,' 'ईश्वर हैं और हम ईश्वर हैं।' शिवोऽहम् शिवोऽहम् कहते हुए आगे बढ़ते चलो। जड़ नहीं, वरन् चैतन्य हमारा लक्ष्य है। नाम और रूपवाले सभी नामरूपहीन सत्ता के अधीन हैं। इसी सनातन सत्य की शिक्षा श्रुति दे रही है। प्रकाश को ले आओ, अन्धकार आप ही आप नष्ट हो जायगा। वेदान्त-केसरी गर्जना करे, सियार अपने अपने बिलों में छिप जायँगे। भावों को सब ओर बिखेर दो और फल अपने आप होता रहेगा। भिन्न भिन्न रासायनिक द्रव्यों को एक साथ डाल दो, उसकी सम्मिश्रण-क्रिया आप ही आप होती रहेगी। आत्मा की शक्ति का विकास करो, और सारे भारत के विस्तृत क्षेत्र में उसे ढाल दो और जिस स्थिति की आवश्यकता है, वह आप ही आप प्राप्त हो जायगी।

अपने आभ्यन्तरिक ब्रह्मभाव को प्रकट करो और उसके चारों ओर सब कुछ समन्वित होकर विन्यस्त हो जायगा। वेदों में बताये हुए इन्द्र और विरोचन[1] के उदाहरण को स्मरण रखो। दोनों को अपने ब्रह्मत्व का बोध कराया गया था, परन्तु असुर विरोचन अपनी देह को ही ब्रह्म मान बैठा। इन्द्र तो देवता थे, वे समझ गये कि वास्तव में आत्मा ही ब्रह्म है। तुम तो इन्द्र की सन्तान हो। तुम देवताओं के वंशज हो। जड़ पदार्थ तुम्हारा ईश्वर कदापि नहीं हो सकता; शरीर तुम्हारा ईश्वर कभी नहीं हो सकता।

भारत का पुनरुत्थान होगा, पर वह जड़ की शक्ति से नहीं, वरन् आत्मा की शक्ति द्वारा। वह उत्थान विनाश की ध्वजा लेकर नहीं, वरन् शान्ति और प्रेम की ध्वजा से—संन्यासियों के वेश से—धन की शक्ति से नहीं, बल्कि भिक्षापात्र की शक्ति से सम्पादित होगा। ऐसा मत कहो कि हम दुर्बल हैं, कमज़ोर हैं। आत्मा सर्वशक्तिमान है। श्री रामकृष्ण के चरणों के दैवी स्पर्श से जिनका अभ्युदय हुआ है, उन मुट्ठी भर नवयुवकों की ओर देखो। उन्होंने उनके उपदेशों का प्रचार आसाम

---

१. द्र० छान्दोग्योपनिषद् का शेष भाग।

से सिंध तक और हिमालय से कन्याकुमारी तक कर डाला। वे लोग हिमालय पर्वत को बीस हज़ार फ़ुट की ऊँचाई पर से पैदल ही बर्फ़ पर से लाँघकर तिब्बत के रहस्यमय प्रदेश में प्रविष्ट हो गये। उन्होंने अपनी रोटी भिक्षा द्वारा प्राप्त की और अपने अंग चिथड़ों से ढाँके। उन पर कितने ही अत्याचार किये गये, पुलिस ने उनका पीछा किया, वे जेल में डाले गये, पर अन्त में जब सरकार को उनकी निर्दोषिता का निश्चय हो गया, तव वे मुक्त कर दिये गये।

उनकी संख्या अभी बीस है। कल उनकी संख्या दो हज़ार वना दो। बंगदेश के युवको! तुम्हारे देश को इसकी आवश्यकता है। सारे संसार को इसकी आवश्यकता है। अपने अन्तःस्थित ब्रह्म को जगाओ, जो तुम्हें क्षुधा-तृष्णा, शीत-उष्ण सहन करने में समर्थ बना देगा। विलासपूर्ण भवनों में बैठे बैठे जीवन की सभी सुख-सामग्री से घिरे हुए रहना और धर्म की थोड़ी सी चर्चा कर लेना अन्य देशों में भले ही शोभा दे, पर भारत को तो स्वभावतः सत्य की इससे कहीं अधिक पहचान है। वह तो प्रकृति से ही अधिक सत्य-प्रेमी है। वह कपटवेश को अपनी अन्तःशक्ति से ही ताड़ जाता है। तुम लोग त्याग करो, महान् बनो। कोई भी बड़ा कार्य विना त्याग के नहीं किया जा सकता। स्वयं 'पुरुष' ने भी सृष्टि की रचना करने के लिए स्वार्थ त्याग किया, अपने को वलिदान किया। अपने आरामों का, अपने सुखों का, अपने नाम, यश और पदों का—इतना ही नहीं, अपने जीवन तक का—त्याग करो और मनुष्यरूपी शृंखला से ऐसा पुल बनाओ, जिस पुल पर से करोड़ों लोग इस संसार-सागर को पार कर जायँ। समस्त मंगलकारी शक्तियों को एकत्र करो। किस ध्वजा के नीचे तुम अग्रसर हो रहे हो, इसकी परवाह मत करो। तुम्हारी ध्वजा का रंग हरा, नीला या लाल कुछ भी हो, उसकी चिंता मत करो, वल्कि सभी रंगों को एक में मिला दो और उससे उस अत्युज्ज्वल श्वेत रंग का निर्माण करो, जो कि प्रेम का रंग है। हमें तो कर्म ही करना है, फल अपने आप होता रहेगा। यदि कोई सामाजिक बन्धन तुम्हारे ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग में बाधक है, तो आत्मशक्ति के सामने अपने आप ही वह टूट जायगा। भविष्य मुझे दीखता नहीं और मैं उसे देखने की चिंता भी नहीं करता। परन्तु मैं अपने सामने यह एक सजीव दृश्य तो अवश्य देख रहा हूँ कि हमारी यह प्राचीन माता पुनः एक बार जाग्रत होकर अपने सिंहासन पर नवयौवनपूर्ण और पूर्व की अपेक्षा अधिक महा महिमान्वित होकर विराजी है। शान्ति और आशीर्वाद के वचनों के साथ सारे संसार में उसके नाम की घोषणा कर दो।

सेवा और प्रेम में सदा तुम्हारा,
विवेकानन्द

अनुक्रमणिका

हमारे अन्य प्रकाशन

मकृष्ण की जीवनी (रोमाँ रोलाँ)	25.00
मकृष्ण (संक्षिप्त जीवनी)	7.50
मकृष्ण की जीवनकथा	8.00
मकृष्ण की कहानियाँ	10.00
मकृष्णकथा चित्रमाला	10.00
ों के श्रीरामकृष्ण	8.00
ाँ सारदा देवी	29.90
सारदा देवी (संक्षिप्त जीवनी)	5.50
दादेवी की जीवनकथा	9.00
कानन्द : एक जीवनी	20.00
मी विवेकानन्द (संक्षिप्त जीवनी)	5.50
कानन्द : एक सचित्र जीवनी	70.00
कानन्द की कहानी	10.00
कानन्द का मानवतावाद	5.75
कानन्द की बोध कथाएँ	7.00
ना और सिद्धि	8.00
और उसका निग्रह	4.75
धि के सोपान	6.00
क्यों ?	4.00
र्जन्म—क्यों और कैसे ?	4.50

		अजिल्द	सजिल्द
मूल्य :	प्रत्येक खण्ड :	रु० 26	रु० 36
	सेट :	रु० 250	रु० 350